मीमांसा-दर्शन-विमर्श

H
131.11
NEN/M.D

सोमनाथ नेने

an

ibrary

......

/M.D

......

भारतीय दार्शनिक जगत् के आस्तिक वर्ग में विद्यमान मीमांसा दर्शन ने वैदिक वाक्यों में अर्थविश्लेषण के माध्यम से ही दार्शनिक स्वरूप प्राप्त किया है। मीमांसा दर्शन के स्वरूप तथा वैशिष्ट्य के प्रकाशन के उद्देश्य से इस **मीमांसा-दर्शन-विमर्श** ग्रन्थ की रचना की गई है।

प्रकृत ग्रन्थ के उद्देश्य की पूर्ति हेतु सम्पूर्ण ग्रन्थ को चार परिच्छेदों में विभक्त किया गया है। इनमें प्रथम परिच्छेद को **संस्कृत-निबन्धाः** यह शीर्षक प्रदान कर इसमें बीसवीं शती में विद्यमान मीमांसा की स्थिति की विवेचना के साथ कार्यकारणभाव, भाट्ट सम्प्रदाय के प्रस्थानभेद, प्रामाण्यवाद, विपरीतख्याति, भाट्टमत का आत्मानेकान्तवाद, पूर्वमीमांसकों की दृष्टि में मोक्षस्वरूप, जैसे मीमांसा में विशेष रूप से विचेचीय सात आलेखों का संस्कृत भाषा में समायोजन किया गया है। **द्वितीय परिच्छेद** में मीमांसा में वेदार्थ की समन्विति के साथ मीमांसा में श्रेय तथा प्रेय, एकवाक्यता, आदि शास्त्रीय विषयों के साथ इसकी लोकोपयोगिकता को भी प्रकाशित करने का प्रयास किया गया है। ग्रन्थ के **तृतीय परिच्छेद** में ज्ञान, प्रमाणलक्षण तथा उसकी उपादेयता को भी मीमांसा की दृष्टि से रेखाङ्कित करने का प्रयास किया गया है। **चतुर्थ परिच्छेद** में ईश्वर, काल, सम्बन्ध तथा अभाव के वैशिष्ट्य को भी भाट्ट मीमांसा की दृष्टि से प्रकाशित करते हुए ग्रन्थ, पूर्ण किया गया है।

23cm. xi+282, 2008 मूल्य : 650.00

Cat. No. 27212

Library
B. Bijaral
17.11.09

286
18/11/09.

Forwarded Free of Cost with
complements of Rashtriya
Sanskrit Sansthan, New Delhi

H
131·11
NEN|M·D

प्रथम संस्करण : 2008

© प्रकाशक

ISBN : 978-81-7702-177-X

मूल्य : 650.00

Rashtriya Sanskrit Sansthan, (Deemed University)
Acc No 44751
23-12-09

प्रकाशक :
डॉ० राधेश्याम शुक्ल
एम.ए., पी-एच.डी.
प्रतिभा प्रकाशन
(प्राच्यविद्या-प्रकाशक एवं पुस्तक-विक्रेता)
7259/20, अजेन्द्र मार्केट, प्रेमनगर
शक्तिनगर, दिल्ली-110007
दूरभाष : (O) 47084852 (R) 23848485, 09350884227
e-mail : info@pratibhabooks.com
Web : www.pratibhabooks.com

टाईप सेटिंग : एस० के० ग्राफिक्स
दिल्ली-84

मुद्रक : एस० के० प्रिंटर्स, दिल्ली

पितृभ्यां नमः

स्मृतिशेष स्नेहमयी माता

श्रीमती मनोरमा नेने

तथा

सकल शास्त्ररत्नाकर, सर्वतन्त्रस्वतन्त्र, कैलासवासी पिता

पं० गोपालशास्त्री नेने

की

स्मृति में समर्पित

उपोद्घात

भारतीय चिन्तन के प्रायः सभी दार्शनिक, प्रस्थान, शब्दप्रमाण पर मुख्य रूप से अवलम्बित हैं। दार्शनिक जगत् के नास्तिक तथा आस्तिक दोनों वर्गों में प्रायः सभी ने शब्द की प्रामाणिकता को समान रूप से स्वीकार किया है। आस्तिक वर्ग में परिगणित दार्शनिक प्रस्थान, शब्दात्मक वेद को जिस प्रकार अपनी तत्त्वमीमांसा तथा ज्ञानमीमांसा का मूल आधार मानते हैं, उसी प्रकार चार्वाक को छोड़कर शेष बौद्ध तथा जैन, ये दोनों नास्तिक प्रस्थान भी अपने शब्दात्मक त्रिपिटकों तथा आगमों पर ही पूर्ण रूप से अवलम्बित हैं। आस्तिक (वेदमूलक) दार्शनिक जगत् में विद्यमान सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, पूर्व-मीमांसा तथा उत्तर-मीमांसा या वेदान्त, इन षट् आस्तिक दर्शनों में भी पूर्व-मीमांसा तथा उत्तर-मीमांसा या वेदान्त, ये दोनों दर्शन, शब्दात्मक वेद के अर्थविचार के रूप में ही अभिव्यक्त हुए हैं। इनमें वैदिक वाक्यों की कर्म-परक व्याख्या, पूर्व मीमांसा का प्रतिपाद्य है। समग्र वेदार्थ को ज्ञानात्मक तथा सच्चिदानन्दात्मक ब्रह्म के रूप में प्रतिपादित करना उत्तर-मीमांसा या वेदान्त का लक्ष्य है। वैदिक वाक्यों के विश्लेषण से अर्थ-विचार की समानता, दोनों के लिए प्रयुक्त 'मीमांसा' शब्द के प्रयोग से ही स्पष्ट हो जाती है।

यद्यपि, मीमांसा शब्द का प्रयोग, अर्थ-विचार की दृष्टि से मीमांसा तथा उत्तर-मीमांसा या वेदान्त, इन दोनों में समन्वित हो जाता है तथापि, मीमांसा शब्द, वैदिक वाक्यों के कर्म-परक विश्लषण रूप कर्म-मीमांसा के विचार अर्थ में (रूढ़) प्रसिद्ध हो गया है। तैत्तिरीय शाखा, मैत्रायणी संहिता, काठक संहिता, शांखायन ब्रह्मण, शतपथ ब्रह्मण, आदि अनके ग्रन्थों में **मीमांसन्ते, मीमांसेरन्** आदि शब्दों के प्रयोग से इस शास्त्र के विचाररूपता की प्राचीनता सिद्ध हो जाती है। वेदान्त के ब्रह्मसूत्र के समान इसमें की गई, अधिकरणों की योजना भी इसके विचारशास्त्रीय स्वरूप को अभिव्यक्त कर देती है। यह मीमांसा दर्शन, तत्त्वमीमांसा

या ज्ञानमीमांसा के प्रतिपादन से प्रारम्भ नहीं होता अपितु, वैदिक वाक्यों के अर्थ-अर्थविचार के प्रसङ्ग में इसकी तत्त्वमीमांसा तथा ज्ञानमीमांसा अभिव्यक्त होकर इसे दार्शनिक स्वरूप की प्राप्ति हुई है। अन्य आस्तिक दार्शनिक प्रस्थानों का आरम्भ ही एक विशेष तत्त्वमीमांसा तथा ज्ञानमीमांसा के प्रतिपादन के उद्देश्य से हुआ है। इन्होंने अपने द्वारा प्रतिपादित तत्त्वमीमांसा तथा ज्ञानमीमांसा के मूल में वेद के प्रामाण्य को सर्वोपरि स्वीकार करके अपनी आस्तिकता प्रकाशित की है। अन्य दर्शनों से इस अर्थ में मीमांसा, दर्शन, एक विलक्षण दार्शनिक प्रस्थान है। मीमांसा का दार्शनिक पक्ष, अन्य दर्शनों की भांति तत्त्वमीमांसा को प्राधान्य प्रदान नहीं करता अपितु, शब्दार्थ-निष्पत्ति की सङ्गति में ही मीमांसा के दार्शनिक सिद्धान्त समन्वित हुए हैं। यागादि कर्मात्मक धर्म के अनुष्ठान का प्रतिपादन करना ही मीमांसा का उद्देश्य है-**धर्माख्यं विषयं वक्तुं मीमांसायाः प्रयोजनम्।** **(जैमिनि सूत्र 1.1.1 का वार्तिक, संख्या 11)** मीमांसा द्वारा बोध्य यह कर्मात्मक धर्मानुष्ठान, वेद के विधिवाक्यों के अर्थविचार द्वारा ही प्राप्त होता है। वेद के अन्य समस्त प्रकार के वाक्य, इन विधिवाक्यों के साथ समन्वित होकर ही इसके प्रतिपादक बनते हैं। इस कर्मात्मक वेदार्थ की सङ्गति के लिए ही मीमांसा में दार्शनिकता की भी अभिव्यक्ति हुई है। वेद में विद्यमान **'स एष यज्ञायुधी यजमानोऽञ्जसा स्वर्गलोकं याति'** इस वाक्य में यज्ञ करने वाले यजमान के स्वर्गगमन रूप वेदार्थ का प्रतिपादन किया गया है। यदि पुरोदृश्यमान शरीर को यजमान माना जाए तो यह शरीर नश्वर होने से यज्ञरूपी आयुध (साधन) के बल पर इसके स्वर्गगमनरूप वेदार्थ की अनुपपत्ति हो जाती है, जिसकी सङ्गति के लिए शरीरेन्द्रियादि से भिन्न आत्मतत्त्व मानना अनिवार्य हो जाता है। आचार्य कुमारिल भट्ट इस बात को अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित करते हैं -

आत्मा ज्ञातव्य इत्येतन्मोक्षार्थं न च चोदितम्।
कर्मप्रवृत्तिहेतुत्वमात्मज्ञानस्य लक्ष्यते।।

(सम्बन्धाक्षेपपरिहार, कारिका, 103.)

आत्मतत्त्व का उपदेश मोक्ष के उद्देश से प्रदान नहीं किया गया है अपितु, आत्मा का अस्तित्व माने बिना कर्मसङ्गति नहीं हो पा रही थी इसी लिए कर्मसङ्गति के उद्देश्य से ही आत्मा का उपदेश दिया गया है। इसी प्रकार, कर्म तृतीय क्षण में नष्ट हो जाने से कर्मफल की सङ्गति बन सके इस लिए कर्म से उत्पन्न होने वाला तथा कर्मफल की प्राप्ति होने तक द्रव्य, कर्म तथा आत्मा में रहने वाला अपूर्व

रूपी पदार्थ भी माना गया है। इन आत्मा तथा अपूर्व को मानने से जो दार्शनिक स्वरूप मीमांसा ने प्राप्त किया है, कर्म ही उसके भी मूल में विद्यमान है। इसी प्रकार मीमांसा दर्शन की ज्ञानमीमांसा में प्रमुख रूप से विवेचनीय प्रमाणलक्षण, ज्ञानतासिद्धान्त तथा स्वतः प्रामाण्यवाद का सिद्धान्त भी कर्मानुष्ठान तथा कर्मानुष्ठान की कर्तव्यता के प्रतिपादक वेद के यथार्थ बाह्यपदार्थ-प्रतिपादकत्व तथा सर्वविधदोषराहित्य के प्रतिपादन में ही अपनी चरितार्थता अभिव्यक्त करते हैं।

मीमांसा-दर्शन के स्वरूप तथा उसके वैशिष्ट्य के उद्देश्य से निर्मित इस **मीमांसा-दर्शन-विमर्श** ग्रन्थ को चार परिच्छेदों में विभक्त किया गया है। इसके प्रथम परिच्छेद में संस्कृत भाषा में निबद्ध विषयों में से-1. विंशशताब्द्यां मीमांसादर्शनम्, 2. भाट्टमीमांसायां कार्यकारणभावविमर्शः, 3. भाट्टसम्प्रदाये प्रस्थानभेदः, 4. भाट्टनये-प्रामाण्यवादः, 5. ख्यातिवादे विपरीतख्यातिः, 6. आत्मवादे भाट्टानामनेकान्तवादः तथा 7. पूर्वमीमांसकाणां मते मोक्षस्वरूपम्, इन सात महत्त्वपूर्ण आलेखों का समायोजन किया गया है।

इस दर्शन के स्वरूप के प्रकाशक **मीमांसा दर्शन की स्वरूपमीमांसा** संज्ञक द्वितीय परिच्छेद में- 8. भाट्टमीमांसा की वेदार्थसमन्विति, 9. मीमांसा में प्रेय तथा श्रेय की अवधारणा, 10. मीमांसा का नैतिक तथा सामाजिक अवदान, 11. मीमांसा दर्शन का लोकोपयोगी स्वरूप, 12. मीमांसा का एकवाक्यता-सिद्धान्त, 13. मीमांसा में समन्वय एवं एकत्व-निष्पादन की प्रवृत्ति, 14. मीमांसा में अपूर्वविधि की अवधारणा, 15. पूर्वमीमांसा में अपूर्वता के त्रिविध आयाम, 16. न्याय, व्याकरण तथा मीमांसा का अर्थसिद्धान्त, 17. भाट्टमीमांसाभिमत वाक्यार्थ एवं शब्दबोध प्रक्रिया, इन दस आलेखों में मीमांसा के स्वरूप में विद्यमान वेदार्थ (कर्म) की प्रतिपादकता के स्वरूप को प्रकाशित करने का प्रयास किया गया है।

मीमांसा-दर्शन-विमर्श ग्रन्थ के तृतीय परिच्छेद में मीमांसा दर्शन की ज्ञानमीमांसा में मीमांसा के प्रतिपाद्य विषय कर्मात्मक धर्म तथा उसके प्रतिपादक वेद की सर्वविध महत्ता के साथ मीमांसा की दृष्टि से प्रमाण की अज्ञातग्राहिता, बाह्य विषय की सत्ता के लिए ज्ञाततासिद्धान्त तथा लौकिक अर्थ की सत्ता के स्पष्टीकरण के लिए- 18. भाट्टमीमांसा में ज्ञान की आवधारणा, 19. भाट्टमीमांसा में प्रमाणलक्षणविमर्श, 20. भाट्टमीमांसा में प्रमाण तथा उसका प्रयोजन, 21. भाट्टमीमांसा में प्रत्यक्ष की अवधारणा तथा 22. मीमांसा में

इन्द्रियों की प्राप्यप्रकाशकारिता, इन पाँच आलेखों का समायोजन किया गया है।

भारतीय दर्शन के अन्य सम्प्रदायों के समान मीमांसा की भी अपनी एक पदार्थ मीमांसा है। मीमांसा दर्शन, कर्मप्रतिपादक दर्शन होने के कारण उसके द्वारा प्रतिपादित पदार्थ किसी न किसी रूप में कर्म से साक्षात् या परम्परा से अवश्य ही सम्बद्ध हैं। मीमांसा द्वारा विवेचनीय पदार्थों में- **23. मीमांसा दर्शन में ईश्वरास्तित्त्व, 24. भाट्टमीमांसा में कालतत्त्व की अवधारणा, 25. मीमांसा दर्शन में सम्बन्ध की अवधारणा तथा 26. भाट्टमीमांसा में अभाव तथा उसका प्रयोजन**, इन चार आलेखों का ग्रन्थ के चतुर्थ परिच्छेद **पदार्थमीमांसा** में समायोजन किया गया है।

मीमांसा-दर्शन-विमर्श संज्ञक यह ग्रन्थ, गुरुजनों से प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से प्राप्त ज्ञान के विगत 25 वर्षों के अनुसन्धान का ही परिणाम है। गुरुजनों की कृपा के परिणामस्वरूप इस ग्रन्थ के प्रकाशन के अवसर पर मैं अपने प्रातःस्मरणीय गुरुवर्य, राष्ट्रपतिसम्मान से विभूषित काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी के मीमांसा तथा धर्मशास्त्र-विभाग के पूर्व अध्यक्ष, महामहोपाध्याय, डॉ० गजानन शास्त्री मुसळगाँवकर (वैद्य) महोदय के साथ सभी गुरुजनों का कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करता हूँ। इसी क्रम में जिन से इस ग्रन्थ की निर्मिति के साथ अन्य सभी अकादमिक कार्यों में निरन्तर उत्साहवर्धक वर्धापन तथा सहयोग मिलता रहता है ऐसे अपने परिवार के सभी ज्येष्ठ तथा कनिष्ठ सदस्यों के साथ अपने मित्रों का भी इस ग्रन्थ के प्रकाशन के अवसर पर स्मरण करते हुए मैं अत्यधिक प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूँ। इस ग्रन्थ के प्रूफ का अवलोकन कर इसके प्रकाशन में सहयोग प्रदान करने के लिए मैं उज्जयिनी-स्थित संस्कृत-महाविद्यालय में व्याख्याता पं० सदानन्द त्रिपाठी जी के उत्कर्ष के लिए भी मङ्गलकामना करता हूँ।

यह ग्रन्थ, दिल्ली स्थित **प्रतिभा प्रकाशन** के स्वत्वाधिकारी डॉ० राधेश्याम शुक्ल के विशेष प्रयास से यथा सम्भव, शुद्ध रूप में प्रकाशित हो रहा है। एतदर्थ मैं इस प्रकाशन-संस्थान के प्रकाशक महोदय का अत्यन्त आभारी हूँ। अन्त में यह सारा विश्व ही जिनकी कृपा-कटाक्ष से निर्मित माना जाता है उन परमेश्वर के प्रति **त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये**, इस गुरुपरम्पराप्राप्त नीति के

अनुसार समस्त जागतिक तत्त्वों के प्रथमोपदेष्टा गुणगणनिलय, आशुतोष, भूतभावन, भगवान् महाकालाभिन्न श्री विश्वनाथ जी के चरणकमलों में अपने इस ग्रन्थ को समर्पित करता हूँ।

आचार्य,
संस्कृत-विभाग, कला-सङ्काय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी- 221005

निवेदक
सोमनाथ नेने

विषयानुक्रमणिका

उपोद्घात v

प्रथम परिच्छेद : संस्कृत निबन्धाः 1-72

1. विंशशताब्द्यां मीमांसादर्शनम् 3
2. भाट्टमीमांसायां कार्यकारणभावविमर्शः 21
3. भाट्टसम्प्रदाये प्रस्थानभेदाः 28
4. भाट्टनये प्रामाण्यवादः 37
5. ख्यातिवादे विपरीतख्यातिः 42
6. आत्मवादे भाट्टानामनेकान्तवादः 48
7. पूर्वमीमांसकाणां मते मोक्षस्वरूपम् 62

द्वितीय परिच्छेद : मीमांसा दर्शन की स्वरूपमीमांसा 73-184

8. भाट्टमीमांसा की वेदार्थ-समन्विति 75
9. मीमांसा में प्रेय तथा श्रेय की अवधारणा 83
10. मीमांसा का नैतिक तथा सामाजिक अवदान 94
11. मीमांसा दर्शन का लोकोपयोगी स्वरूप 103
12. मीमांसा का एकवाक्यता-सिद्धान्त 116
13. मीमांसा में समन्वय एवं एकत्वनिष्पादन की प्रवृत्ति 125
14. मीमांसा में अपूर्वविधि की अवधारणा 139
15. पूर्वमीमांसा में अपूर्वता के त्रिविध आयाम 151
16. न्याय, व्याकरण तथा मीमांसा का अर्थसिद्धान्त 162
17. भाट्टमीमांसाभिमत वाक्यार्थ एवं शाब्दबोधप्रक्रिया 173

तृतीय परिच्छेद : मीमांसा-दर्शन की ज्ञानमीमांसा 185-246

18. भाट्टमीमांसा में ज्ञान की अवधारणा 187

1
विंशशताब्द्यां मीमांसादर्शनम्

निखिलविद्यामूलकत्वेन प्रसिद्धस्य वेदस्य "चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म" इत्यनेन सूत्रेण सह अन्यैरपि विविधैर्युक्तिभिः धर्मापरपर्यायत्वेन कर्मप्रतिपादकत्वमे वर्ततेऽस्य मीमांसा-शास्त्रस्य प्रवृत्तिनिमित्तम्। अस्य कर्मात्मकस्य धर्मस्याविकलं स्वरूपमुद्घाटयितुं प्रवृत्तस्य वाक्यविश्लेषणात्मकस्य मीमांसा-शास्त्रस्य महर्षि जैमिनिप्रणीतैस्सूत्रैराविर्भावे सञ्जाते भाष्यकारस्य शबरस्वामिनो युक्तिभिः प्रकाशिते च स्वरूपे प्रभाकरकुमारिलमुरारिपरिश्रमगुम्फितायां त्रिवेण्यां प्रभाकरकुमारिलयोः सिद्धान्ता एतयोरनुसरणं कुर्वद्भिर्विद्वद्भिर्विविधाभी रचनाभिः भृशं संवर्द्धिताः। यथा एकोनविंशशताब्दीपर्यन्तं वर्द्धापिता विद्वद्भिरुभयोर्मीमांसकयोः परम्परा तथैव वर्तमानकालसम्बद्धायामतीतायां विंशशताब्द्यामपि विलसद्भिः प्राच्यैर्विद्वद्भिः सह विद्वदपश्चिमैः पश्चिमे भवैर्विद्वद्भिरपि महता प्रयासेन संरक्षिता परिलक्ष्यते जैमिनिप्रवृत्ता एकोनविंशकालपर्यन्तं सम्प्राप्ता धर्मप्रमाप्रतिपादकस्य वाक्यविश्लेषणात्मकस्य मीमांसादर्शनस्येयं गौरवशालिनी परम्परा।

विंशशताब्द्यां धरायामाविर्भूतैर्विद्वद्भिः परम्पराप्राप्तस्य शास्त्रस्य न केवलं टीकाव्याख्याटिप्पण्यादिभिर्व्याख्यापद्धतिभिर्विधमाने स्वरूपे वैशद्यं सम्पादितमपितु अस्मिन्काले विद्यमानैरेभिर्विद्वद्भिः स्वकीयाभिः स्वतन्त्ररचनाभिरपि दर्शनस्यास्य विकासपरम्परायामुल्लेखनीयमवदानं समर्पितं परिलक्ष्यते। अतीतायां शताब्द्यां मीमांसावैभवसम्पादकानां विदुषामेतेषां व्याख्यास्वतन्त्ररचनाभेदभिन्नानां कृतीनाञ्च प्रस्तूयते सङ्क्षिप्तं विवरणम्-

विंशशताब्द्यां प्रकाशिता व्याख्याग्रन्थाः

अतीतायाः विंशशताब्द्याः पूर्वभागे पञ्चदशतमे वर्षे महादेवशर्माबाक्रे-महाभागेन मीमांसाशास्त्रप्रवर्तकानां जैमिनि-सूत्राणां तत्सदुपाख्यवैद्यनाथभट्ट विरचिता न्यायबिन्दुसञ्ज्ञिका व्याख्या सम्पाद्य प्रकाशिता वर्तते। जैमिनिसूत्राणामेव

मण्डनमिश्रप्रणीता मीमांसानुक्रमणिका महामहोपाध्याय-डॉ०गङ्गानाथ झामहाभागैः सह धुण्डिराजशास्त्रिभिः सम्पादिता। इयं वाराणस्यां विद्याविलासमुद्रणालयादष्टाविंशतितमे वर्षे प्रकाशिता।

अस्य जैमिनिप्रणीतस्य मीमांसादर्शनस्य प्रथमपादतः द्वादशाध्यायपर्यन्तायाः सम्पूर्णाया द्वादशलक्षण्याः षट्सु भागेषु निखिलं स्वरूपं विनायकगणेशआपटे-महाभागेन पुण्यपत्तनस्थस्य आनन्दाश्रममुद्रणालये प्रकाशितम्। तत्र प्रथमे भागे आदित द्वितीयाध्यायप्रथमपादीया विषयाः सङ्कलितास्सन्ति। अत्र शाबरभाष्योपेतस्य प्रथमाध्यायस्य तर्कपादस्य प्रभाव्याख्या वैद्यनाथशास्त्रिणा विरचिता। द्वितीयपादात् द्वितीयाध्यायस्य प्रथमपादपर्यन्तायाः शाबरभाष्ये विरचितायाः तन्त्रवार्त्तिकव्याख्यायाः टिप्पण्यादिभिः संशोधनमत्र हक्कीग्रामाभिजनैः सुब्बनाशास्त्रिभिः निष्पादितम्। ऊनत्रिंशत्तमे खिस्तीये वर्षे प्रकाशितोऽयं प्रथमो भागः। अन्येऽपि पञ्चभागा एभिरेव सुब्बनाशास्त्रिभिः संशोधितास्सन्ति। द्वितीयो भागः त्रिंशत्तमे वर्षे, एकत्रिंशत्तमे वर्षे तृतीयो भागः, द्वात्रिंशत्तमे वर्षे चतुर्थः, त्रयस्त्रिंशत्तमे वर्षे पञ्चमः, चतुस्त्रिंशत्तमे वर्षे चरमः षष्ठो भागः प्रकाशितः सञ्जातः। अस्यैवोत्तरवर्तिनि कालेऽष्टात्रिंशत्तमे वर्षे वाराणस्याः सूर्यप्रभातछापाखानासञ्ज्ञकाद् मुद्रणालयाद् मीमांसासूत्राणां नीलकण्ठज्योतिर्विद्भिः रचिता द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थपादपर्यन्ता सुबोधिनी व्याख्या लीथोप्रक्रियया प्रकाशिता वर्तते। तदनु इमानि सूत्राणि, प्रथमाध्यायस्य चतुर्थपादपर्यन्तानि श्रीशितीशकण्ठभट्टविरचितया सुबोधिनी सञ्ज्ञिकया सूत्रवृत्त्या सह इन्दौरनगरस्थात् बड़ासराफाकाटन एसोसिएशन-द्वारा द्व्यधिकद्विसहस्रे वैक्रमाब्दे प्रकाशितानि सन्ति। अत्र सम्पादनं ब्रह्मचारिसर्वेश्वरानन्देन कृतम्। संशोधनञ्च उभोइकरेण भारद्वाजतुलाशङ्करशर्मणा निष्पादितम्। अतीतायाः शताब्द्या अष्टचत्वारिंशत्तमे वर्षे सताराजिलान्तर्गते 'वाई'-स्थाने स्थितात् प्रज्ञापाठशालामण्डलात् प्रकाशकेन वी०जी०जोशीमहोदयेन सम्पूर्णः जैमिनिसूत्रपाठः केवलानन्द- सरस्वतीप्रणीतया टिप्पण्या सहितः प्रकाशितः।

जैमिनिप्रणीतेषु सूत्रेण सह यथा संस्कृतगिरा व्याख्याः दृष्टिपथमालोकयन्ति, तादृशी स्थितिर्यद्यपि अन्यासां भाषाणां नास्ति तथापि, हिन्दीमराठीभाषाभ्यां सहाङ्ग्लभाषायामपि विदुषां श्रमफलानि अस्मभ्यमुपलब्धानि सन्ति। मन्ये एतेषामप्युल्लेखे नास्त्यनौचित्यम्।

भारतवर्षस्य राजधान्यामवस्थितादेहातीपुस्तक भण्डारात् जैमिनि-सूत्राणां

प्रथमाध्यायस्य प्रथमपादतः तृतीयाध्यायस्य अष्टमपादपर्यन्तं हिन्दीभाषायामनुवादः प्रकाशितो वर्तते। अस्मिन् पुस्तके यथानुवादकस्य नामोल्लेखो नास्ति तथा कालोप्यत्रानुल्लिखित एव वर्तते। एकचत्वारिंशत्तमे वर्षे 'जैमिन्यर्थदीपिका' सञ्ज्ञिका द्विपञ्चाशतधिकैरेकशतसङ्ख्यापरिमितैः पृष्ठैः प्रथमाध्यायस्य प्रथमापादस्य प्रथमसूत्रतः षष्ठाध्यायस्य तृतीयपादस्याष्टादशसूत्रपर्यन्ता केशवलक्ष्मण-दफ्तरी महाभागैर्विरचिता शाबरभाष्यस्यालोचनात्मिका विशेषरूपेण शूद्राणामपि यागाधिकारप्रतिपादिका व्याख्याऽवलोकने समागता वर्तते। शाण्डिल्यगोत्रेण हारितवंशिणा दिवोदासात्मजेन मोहनदासेन आङ्गलभाषया कृतः पूर्वमीमांसासूत्रार्थः पञ्चविंशतितमे ख्रिस्ते वर्षे प्रयागस्थितात् युनियनमुद्रणालयात् प्रकाशितः सञ्जातः। जैमिनिसूत्रानुरूपं शाबरभाष्यमपि अष्टषष्ठितमे ख्रिस्ते वर्षे महामहोपाध्यायपदवीजुषैर्हरिहरकृपालुद्विवेदमहाभागैः कलकत्तास्थिताद्वानिक-मुद्रणालयात् 'कल्पकलिका' व्याख्यासहितं प्रकाशितम्।

सूत्रभाष्यादपि कौमारिलवार्तिकं प्रति विदुषां भूयसी निष्ठा परिलक्ष्यते। सुचरितमिश्रप्रणीतया काशिकया विलसितं 'मीमांसाश्लोकवार्तिकम्' त्रिभिः सम्पुटैः तिरु-अनन्तपुरस्थस्य राजकीयमुद्रणालयस्याध्यक्षेण प्रकाश्यतामानीतम्। अस्य प्रथमः सम्पुटः षड्विंशतितमे वर्षे, द्वितीयः ऊनत्रिंशत्तमे तथा तृतीयः त्रिचत्वारिंशत्तमे ख्रिस्ते वर्षे प्रकाशितः। प्रथमद्वयोः सम्पुटयोः सम्पादनं संशोधनपुरस्सरं संस्कृतग्रन्थप्रकाशनकार्याध्यक्षैः के शिवशास्त्रिभिः विहितम्। श्रीमन्तो वि०ए०-रामस्वामिशास्त्रिणः तृतीयं सम्पुटमसम्पादयन्। चत्वारिंशत्तमे वर्षे भट्टोम्बेकविरचितया तात्पर्यटीकयोपेतमेतच्छ्लोकवार्तिकम्' मद्रपुर्या विश्वविद्यालयात् प्रकाशितम्। शे०कृ० रामनाथशास्त्रिणः सम्पादनमस्याकारिषुः। न्यायरत्नाकर-व्याख्यासमलङ्कृतमीमांसाश्लोकवार्तिकं वाराणस्यां स्थितेन चौखम्बासंस्कृतसीरीजऑफिसेनापि दृष्टिपथमानीतम्। कालोल्लेखोऽत्र नोपलभ्यते। अस्या विंशशताब्द्या अष्टसप्ततितमे वर्षे वाराणसीस्थितेन तारापब्लिकेशनसंस्थया पार्थसारथिमिश्रविरचितया न्यायरत्नाकरव्याख्यया सहितं सम्पूर्णं 'श्लोकवार्तिकम्' प्रकाशितम्। भारतीयविद्याप्रकाशनेन देहलीस्थितेन सूत्रभाष्यसहितस्य श्लोकवार्तिकस्य न्यायरत्नाकर-व्याख्या सहितं 'मीमांसादर्शनम्' द्वाभ्यां खण्डाभ्यां प्रकाशितम्। ऊनाशीतितमे ख्रिस्ते वर्षे प्रथमः खण्डः प्रकाशितः। अस्य ग्रन्थस्य विषमस्थलीयानामर्थाणां प्रकाशिकया टिप्पण्या सहितं सम्पादनमकुर्वनस्मद्गुरुचरणाः

श्रीमन्तो डॉ० गजाननशास्त्रिमुसलगाँवकरमहाभागाः। राष्ट्रभाषायामस्य श्लोकवार्तिकस्य व्याख्यानं श्रीमद्भिः पण्डितदुर्गाधरझा- महाभागैरकारि। प्रकाशनमस्य ऊनाशीतितमे वर्षे कामेश्वरसिंह दरभङ्गासंस्कृत- विश्वविद्यालयेन दरभङ्गास्थितेन निष्पादितम्। जैमिनिसूत्राणां शाबरभाष्यस्य प्रथमाध्यायस्य द्वितीयपादतः तृतीयाध्यायपर्यन्तं कुमारिलभट्टकृतं 'तन्त्रवार्तिकम्' भट्टसोमेश्वरविरचितया राणकापरनामधेयया न्यायसुधाव्याख्यया सहितं प्रथम एव वर्षे वाराणस्या विद्याविलासमुद्रणालयेन प्रकाश्य दृष्टिपथं समानीतम्। अस्य सम्पादनं पुण्यपत्तनस्य डेक्कनकालेजस्थसंस्कत प्रधानाध्यापकास्तदानीन्तना आडकरोपाह्वाः मुकुन्दशास्त्रिणोऽकारिषुः भट्टपादानामस्य तन्त्रवार्तिकस्य श्रीपरितोषमिश्राविरचिता 'अजिता' सञ्ज्ञिका व्याख्या भागद्वयपरिमिता द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थचरणान्ता प्रयागस्थितस्य गङ्गानाथझाकेन्द्रीयसंस्कृतविद्यापीठस्य प्रधानसम्पादकत्वेन श्रीमद्भिर्गयाचरणझामहाभागैः प्रकाश्यमानीता। डॉ० कमलनयनशर्ममहाभागैस्सह अर्चनाचतुर्वेदमहाभागानां सहाय्येन श्रीमन्तः डॉ० किशोरनाथझामहाभागा अस्या सम्पादनं कृतवन्तो विराजन्ते। अष्टाशीतितमे वर्षे प्रथमः भागः द्वितीयश्च नवतितमे ख्रिस्ते वर्षे प्रकाशितः सञ्जातः। मीमांसासूत्रभाष्यस्य चतुर्थाध्यायस्य प्रथमपादतः द्वादशाध्यायपर्यन्ता भट्टपादानां 'टुप्टीका' वाराणस्या विद्याविलासयन्त्रणालयात् चतुर्थे वर्षे प्रकाश्यतामुपगता। सी-आई-ई-इत्युपाधिविभूषिताः सर्वतन्त्रस्वतन्त्रा गङ्गाधरशास्त्रिणः सम्पादनमस्य व्यदधुः। भट्टपादानां टुप्टीकामवलम्ब्य 'तन्त्ररत्न' इति नाम्नी मीमांसाशास्त्रस्य विशदा व्याख्या भाट्टमतावलम्बिषु विद्वत्स्वन्यतमैः पार्थसारथिमिश्रवर्यैर्विरचिता। इयं तन्त्ररत्नात्मिका व्याख्या चतुर्थाध्यायस्य प्रथमपादस्य प्रथमसूत्रतः द्वितीयपादस्य द्वाविंशसूत्रपर्यन्ता गङ्गानाथझामहाभागैः संशोध्य टिप्पणीसहिता प्रथमभागे परिकल्पिता। अस्य प्रथमभागस्य प्रकाशनं त्रिंशत्तमे वर्षे महामहोपाध्यायवर्यैः पं० गोपीनाथकविराजमहाभागैर्निष्पादिप्तम्। अग्रतः पञ्चमाध्यायस्य द्वितीयपादस्य एकोनविंशसूत्रपर्यन्तमस्य द्वितीयभागस्य टिप्पणीसहितं संशोधनं, पितृचरणैः 'नेने' इत्युपाधिकैः पं० गोपालशास्त्रि- चरणैर्निष्पादितम्। अयमपि भागः कविराजमहाभागैः त्रयस्त्रिंशत्तमे वर्षे प्रकाशितः। सम्पूर्णमिदं 'तन्त्ररत्नम्' वाराणसेय-संस्कृत विश्वविद्यालयेन षड्त्रिंशत्तमे वर्षे प्रकाशितम्। श्री ति० वे० रामचन्द्रदीक्षितमहाभागैरस्य सम्पादनं टिप्पणी- संयोजनपुरस्सरं निर्व्यूढम्।

भट्टपादैर्विरचितयोर्द्वयोर्वार्तिकयोराङ्ग्लभाषायामनुऽवादं महामहोपाध्याय-पदवीविभूषिता: डॉ० गङ्गानाथझा-महाभागा अकार्षु:। पूर्वमीमांसा-इन-इट्स सोर्सेस इत्यस्य ग्रन्थस्य परिशिष्टे श्रीमद्भिरुमेशमिश्रमहाभागै: समायोजितायां मीमांसकानां परिचय-प्रकाशिकायां मीमांसाकुसुमाञ्जलौ अयमुल्लेरखो वर्तते।

भट्टपादानामनुयायिषु अन्यतमत्वेन मण्डनमिश्रवर्याणां प्रसिद्धिर्न केवलं विद्वत्स्वपितु सर्वसामान्येष्वपि दृढमूला प्रतीयते। मीमांसाया भाट्टप्रस्थाने विद्यमानानामप्येतेषां विचारस्वातन्त्र्यं प्राय: सर्वेष्वपि एभिर्विरचितेषु ग्रन्थेषूपलभ्यते। मीमांसानुक्रमणिकाभावनाविवेकविधिविवेकविभ्रमविवेकस्फोटसिद्धिब्रह्म-सिद्धिसञ्ज्ञका वर्तन्ते एतेषामुल्लेखनीया ग्रन्था:। एतेषु मीमांसानुक्रमणिकाया जैमिनिसूत्रसन्दर्भे कृत एव वर्तते उल्लेख:। अन्येषु भागद्वयपरिमिता गङ्गानाथझा-महाभागैस्सम्पादिता भावनाविवेकटीका भट्टोम्बेकविरचिता वाराणस्या: तात्कालिकया गवर्नमेण्ट-संस्कृतलाइब्रेरीसंस्थया प्रकाशिता। प्रथमो भागो द्वाविंशतमे वर्षे प्रकाशित:। द्वितीये भागे त्रयस्त्रिंशत्तम: काल उल्लिखितो वर्तते। मण्डनमिश्रविरचितो विभ्रमविवेक: एस० कुप्पुस्वामिशास्त्रिभि: पञ्चदशात्मकै: पृष्ठैरुपन्यस्तेनाङ्ग्लभाषागुम्फितेन प्रास्ताविकेन सह द्वात्रिंशत्तमे वर्षे सम्पादित:। मद्रपुर्यां स्थितेन जर्नल-ऑफ-यूनाईटेड-रीसर्च-संस्थानेनायं प्रकाशित:। मिश्रवर्याणां सर्वेष्वपि ग्रन्थेषु प्राथम्येनोल्लेखनीयो 'विधिविवेक:' श्रीवाचस्पतिमिश्र-प्रणीतन्यायकणिकासहित: डॉ०-महाप्रभुलालगोस्वामिमहाभागै: सम्पाद्य वाराणस्या' ताराबुकएजेन्सी इत्यस्मादष्टसप्ततितमे ख्रिस्ते वर्षे प्रकाशित:। भट्टानुयायिषु मण्डनमिश्राणामनन्तरं सर्वतन्त्रस्वतन्त्राणां वाचस्पतिमिश्राणामेव प्राशस्त्यं विदुषामभिमतं वर्तते। ऐतेषां भाट्टदृष्ट्या शाब्दबोधरूपेण सह प्रक्रिया-प्रकाशकस्तत्त्वबिन्दुसञ्ज्ञको ग्रन्थ: परमेश्वरविरचितया तत्त्वविभावनया सह व०अ०रामास्वामिशास्त्रिभि: सम्पाद्य षड्त्रिंशत्तमे वर्षे सन्तजोसेफ-इण्डस्ट्रीयलस्कूल-मुद्रणालयात् प्रकाशित:। ग्रन्थोऽयं महामहोपाध्याय-गङ्गाधरशास्त्रिभि: विषमस्थलटिप्पणीभि: संवलितो वर्तते।

भट्टमतानुयायिनां पार्थसारथिमिश्रमहाभागानां मीमांसाशास्त्रस्य प्रमुखाणां विषयाणां प्रकाशनाय विरचिता 'न्यायरत्नमाला' महामहोपाध्यायपदवीभूषणै: श्री गङ्गाधरशास्त्रिचरणै: परिशोध्य एकोनविंशतमे ख्रैस्ताब्दे प्रकाशिता। इयमेव न्यायरत्नमाला रामानुजाचार्यविरचितया नायकरत्नाख्यव्याख्यासहिता के०एस०

रामास्वामी शास्त्रिशिरोमणिभिः सप्तत्रिंशत्तमे वर्षे वडोदरास्थितात् प्राच्यविद्याकेन्द्रात् प्रकाशिता। मीमांसा-सूत्राणां व्याख्याया व्याजेन निखिलस्य तन्त्रस्य प्रकाशिका तर्कपादपर्यन्ता श्रीमद्रामकृष्णप्रणीतयुक्तिस्नेहप्रपूरणीसिद्धान्तचन्द्रिकया सहस्वोपज्ञसिद्धान्तचन्द्रिकागूढ़ार्थविवरणविभूषिता 'शास्त्रदीपिका' श्रीधर्मदत्तझा (बच्चा झा) महोदयैः सम्पादिता। अष्टाशीतितमे वर्षे तर्कपादं विहाय तत्सद्विद्यानाथविरचितया प्रभया संवलितायाः पञ्चमाध्यायपर्यन्तायाः श्रीमद्भिः पट्टाभिरामशास्त्रिभिः सम्पादिताया अस्या प्रथमो भागः देहलीस्थितेन श्रीलालबहादुरशास्त्रिकेन्द्रीयविद्यापीठेन प्रकाशितः। इयमेव 'शास्त्रदीपिका' अप्पय्यदीक्षित विरचितया 'मयूखावलि' संवलिता श्रीरङ्गम्स्थितेन वाणीविलासमुद्रणालयेन प्रकाशिता। सम्पादनञ्चास्या पी०पी० सुब्रह्मण्य शास्त्रिभिः कृतम्। कालस्त्वत्र अनुल्लिखित एव। अस्याः शास्त्रदीपिकाया आङ्ग्लानुवादः श्रीमद्भिः डी०वेङ्कटरामैय्यामहाभागैर्वडोदरास्थितात्प्राच्य विद्यासंस्थानाच्चत्वारिंशत्तमे वर्षे प्रकाश्यतामानीतो वर्तते। षष्ठे खैस्ते वर्षे पुण्यपत्तनस्थितादानन्दमुद्रणालयात् माधवाचार्य-विरचिता जैमिनीयन्यायमाला दाधीच इत्युपाधिकैः शिवदत्तशर्मभिः प्रकाश्यतामानीता। देवनाथठक्कुररचिता नारायणशास्त्रिखिस्तेमहाभागैस्सह 'वाकले' इत्युपाधिकैर्विद्यानाथशास्त्रिभिः सम्पाद्य षड्विंशतमे वर्षे वाराणस्या विद्याविलासमुद्रणालयात् प्रकाशिता। मीमांसाशास्त्ररसायनानामप्पय्यदीक्षितवर्याणां 'विधिरसायनम्' अडकरोपनामकैः श्रीमुकुन्दशास्त्रिभिः परिशोधितम्। वाराणस्या विद्याविलासयन्त्रालयात् हरिदासगुप्तैः प्रथमे वर्षे प्रकाशितम्। अस्य समालोचनात्मकं श्रीशङ्करभट्टप्रणीतं 'विधिरसायनदूषणमपि' अष्टनवतितमे वर्षे काश्यां स्थिता-द्रायलमुद्रणालयाद् अलीबक्ख्शद्वारा प्रकाश्यतामानीतम्। सूर्यनारायणशर्मशुक्ल महाभागैरस्य सम्पादनमकारि। द्वादशे ख्रिस्ते वर्षे दीक्षितवर्याणां 'वादनक्षत्रमाला' जे०के० बालसुब्रह्मण्यम् महाभागाः श्रीरङ्गमावस्थिताद्वाणीविलासमुद्राणाल-यात्प्रकाश्यतामानीतवन्तः। एतेषामेव दीक्षितमहाभागानां कनिष्ठभ्रातुः प्रपौत्रैरप्पयदीक्षितद्वितीयैर्विरचिता सप्तमतरङ्गपर्यन्ता पूर्णा दुरूहशिक्षा मीमांसारत्नैः पं० अ० सुब्रह्मण्यशास्त्रिभिः सम्पाद्य ऊनसप्ततितमे वर्षे प्रकाशिता। भाट्टमतावलम्बिनो नारायणभट्टस्य 'मानमेयोदय' आङ्ग्लभाषानुवादेन सह सम्पाद्य सी० कुन्हनराजामहाभागैः मद्रपुर्यामाड्यारस्थाने स्थितात् थियोसोफिकलपब्लिशिङ्ग हाऊस इत्यस्मात्प्रकाशनस्थायानात् त्रयस्त्रिंशत्तमे वर्षे सम्पाद्य प्रकाशितः। स्वामियोगीन्द्रानन्दमहाभागैरस्य मानमेयोदयस्य राष्ट्रभाषायां विशदा व्याख्या निर्मिता

वर्तते। वाराणस्या चौखम्बाविद्याभवनादस्या द्वितीयं संस्करणं षण्णवतितमे वर्षे प्रकाशितम्। भट्टशङ्करविरिचितस्य 'मीमांसाबालप्रकाशस्य' सम्पादनमकार्षुः पण्डितमुकुन्दशास्त्रिणः अडकरोपाधिकाः। ग्रन्थोऽयं द्वितीये वर्षे काश्यां विद्याविलासमुद्रणालयात् प्रकाशितः।

भाट्टमतावलम्बिनः खण्डदेवेन विरिचितः प्रथमाध्यायस्य द्वितीयपादतः तृतीयाध्यायस्य तृतीये पादे सप्तमबलाबलाधिकरणान्तेन सम्पूर्णो मीमांसाकौस्तुभो वाराणस्या विद्याविलासमुद्रणालयेन त्रयस्त्रिंशत्तमे वर्षे प्रकाशितः। सम्पादनमस्य अकार्षुः श्रीमन्तः पं०अ० चिन्नस्वामिचरणाः। एतेषामेव खण्डदेवमहाभागानां मीमांसाधिकरणानां दीपिका विराजते 'भाट्टदीपिका' वाञ्छेश्वरयज्वभिः प्रणीतया 'भाट्टचिन्तामणि' इति सञ्ज्ञिकया टीकया विलसितेयं श्रीमद्भिर्वेङ्किटसु-ब्रह्मण्यशास्त्रिभिः सम्पाद्य मद्रपुर्यामभिवस्थितात् मद्रासजर्नलमुद्राशालाया-श्चतुस्त्रिंशत्तमे वर्षे प्रकाशिता।

भाट्टदृष्ट्या कर्मविवेचकानां वैदिकवाक्यानामर्थनिष्पत्तौ मीमांसाप्रयुक्तानां न्यायानां सहजतयाऽवबोधनार्थं प्रसिद्धो वर्तते श्रीमद्भिर्लौगाक्षिभास्करैः प्रणीतोऽर्थसङ्ग्रहः। त्रिपञ्चाशत्तमे वर्षे त्यागमूर्ति-टाटाम्बरस्वामिभी रचितया 'दीपिका' सञ्ज्ञिकया हिन्दीटीकयोपेतः 'अर्थसङ्ग्रहः' वाराणस्या चौखम्बासंस्कृत-सीरीजमुद्रणालयेन प्रकाशितः। अस्यार्थसङ्ग्रहस्य व्याख्यात्मिका रामेश्वरशिवयोगि- भिक्षुविरचिता-'अर्थसङ्ग्रह-कौमुदी' चतुःपञ्चशत्तमे वर्षे वाराणस्या अनया एव संस्थया प्रकाशिता। संशोधनञ्चास्याकार्षुः क्षीरसागरोपनामका गणेशशास्त्रिणः। अपराऽर्थसङ्ग्रहकौमुदी नारायणरामाचार्यैष्टिप्पण्यासहिता अष्टाशीतितमे वर्षे अनया एव संस्थया प्रकाश्यमानीता। अर्थसङ्ग्रहे सङ्क्षेपेण वर्णिता मीमांसान्याया आपदेवेन प्रणीते मीमांसान्यायप्रकाशे वैशद्यं भजन्ते। न्यायप्रकाशोऽयं एकादशख्रिस्ते वर्षे मुम्बय्याः कोलभारस्थितात् निर्णयसागरमुद्रणालयात्प्रकाशितः। टिप्पण्यादियोजनपुर- स्सरमस्य सम्पादनमकारि श्रीमद्भिर्बाक्रे इत्युपाह्वैर्गङ्गाधरभट्टात्मजैर्महादेवशास्त्रिभिः। अभ्यङ्करोपाह्ववासुदेव-शास्त्रिविरचितया प्रभाख्यया व्याख्यया समेतोऽयं पुण्यपत्तनस्य भाण्डारकर-प्राच्यविद्यामन्दिरमुद्रणालयात् सप्तत्रिंशत्तमे वर्षे प्रकाश्यमुपयातः। वाराणस्याः प्रथितचरैर्विद्वद्भिः पट्टभिरामशास्त्रिभिरस्य राष्ट्रभाषायां विशदा व्याख्याकारि, या त्र्यशीतितमे वर्षे श्रीलालबहादुरशास्त्रिकेन्द्रीय-विद्यापीठेन प्रकाश्यतामानीता। षोडशे

वर्षे मीमांसाधिकरणानां प्रकाशिका रामकृष्णभट्टविरचिता पूर्वमीमांसाधिकरणकौमुदी वाराणस्या विद्याविलासयन्त्रालयेन प्रकाश्यतामानीता। परिशिष्टभागे वाजपेयारुण्यवैश्वानरेष्टिसञ्ज्ञकानां त्रयाणामधिकरणानां संयोजनपुरस्सरं टिप्पण्या सह अस्याः संशोधनमकार्षुः पण्डितवर्या नेने इत्युपाधिका गोपालशास्त्रिणः। भाट्टमतावलम्बिषु मीमांसकेष्वन्यतमानां कमलाकरभट्टवर्याणां मानमेयप्रकाशकं 'मीमांसाकुतूहलम्' पद्मभूषणविभूषणैः पट्टभिरामशास्त्रिभिः सप्ताशीतितमे वर्षे वाराणस्याः सम्पूर्णानन्दविश्वविद्यालयात् प्रकाश्य अस्माकं दृष्टिपथं समानीतम्। शास्त्रिचरणैरत्र स्थाने स्थाने विशिष्टार्थप्रकाशिका टिप्पणीरपि संयोजिता वर्तते। कमलाकरभट्टानां भ्रातृव्यैर्दिनकरभट्टात्मजैर्गागेति सञ्ज्ञया प्रथितचरैर्विश्वेश्वर-भट्टविरचितो 'भाट्टचिन्तामणिः' नव्यव्याकरणाचार्यैर्मीमांसकशिरोमणिभिः काशीस्थराजकीयप्रधानसंस्कृतपाठशालाध्यापकैः पण्डितसूर्यनारायणशुक्लमहा-भागैर्मयूखटिप्पण्या सूत्रवृत्त्या च सह सम्पादितः। ग्रन्थोऽयं त्रयस्त्रिंशत्तमे वर्षे वाराणस्या चौखम्बासंस्कृतसीरीजमुद्रणालयात् प्रकाशितः। अष्टादशशताब्द्यां विलसतां वासुदेवदीक्षितैर्विरचिता अध्वरमीमांसाकुतूलहवृत्ति आर० चन्द्रशेखरशास्त्रिभिः सह पञ्चापगेशशास्त्रिभिः संशोध्य प्रथमभागान्ता श्रीरङ्गस्थवाणीविलासमुद्रणालयात् प्रकाशिता। तृतीयाध्याये षष्ठपादपर्यन्तो वर्त्ततेऽस्याः प्रथमो भागः। अत्र कालस्योल्लेखो नास्ति। इयमेव मीमांसासूत्रार्थानां विशदावभासिका नवभागेषु व्यवस्थिता अध्वरमीमांसाकुतूहलवृत्तिः श्री लालबहादुरशास्त्रिकेन्द्रीय विद्यापीठेन प्रकाशिता। नवमो भागो द्विसप्ततितमे वर्षे प्रकाश्यतां समागतो वर्तते। सम्पूर्णाया अस्या वृत्तेः सम्पादनमकार्षुः पट्टाभिरामशास्त्रिचरणाः। पञ्चदशतमे वर्षे महामहोपाध्यायपद्वीविभूषितैः पण्डिवर्यै र्नित्यानन्दपन्तमहाभागैर्विरचितया लघुटिप्पण्या सह संशोधिता श्रीकृष्णयज्वकृता मीमांसापरिभाषा वाराणसीस्थितेन विद्याविलासमुद्रणालयेन पञ्चदशश्त्रिस्ते वर्षे प्रकाश्यमानीता। इयमेव वाराणस्याः कृष्णदास-अकादम्या सप्ताशीतितमे वर्षे संस्कृतहिन्दीव्याख्यासहिता प्रकाशिता वर्तते। अत्र संस्कृतव्याख्या डॉ० गजाननशास्त्रि-मुसलगाँकरमहाभागैर्विरचिता। तस्या एव हिन्दीव्याख्यां व्यदधुः डॉ० कमलनयनशर्ममहाभागाः।

यथातीतायां शताब्द्यां भट्टपादैः सह तेषामनुससरणं कुर्वतां विदुषां ग्रन्था विद्वद्भिरस्माकं कृते प्रकाश्यतामानीतास्तथैव प्रभाकरैस्सह तेषां परम्परायाः

प्रकाशनेऽपि वर्तते एतेषां विदुषां महदवदानम्। 'गुरु' इति पदवीविभूषितानां प्रभाकरवर्याणां शाबरभाष्यप्रकाशिका गुरुप्रस्थानस्थापिका टीका 'बृहती' प्रथमाध्यायस्य प्रथमपादपर्यन्ता शालिकनाथमिश्रविरचितया ऋजुविमलया सह पं० चिन्नस्वामिशास्त्रिभिः संशोध्य सम्पादिता। वाराणस्यामवस्थितेन काशी हिन्दू विश्व विद्यालयेन ऊनविंशतमे वर्षे प्रकाश्यमानीता। प्रभाकरमतमनुसरतां शालिकनाथमिश्र वर्याणां 'प्रकरणपञ्चिका' श्रीजयपुरिनारायणभट्टविरचितप्रत्यक्ष- परिच्छेदान्त-न्याय सिद्धिव्याख्या-संवलिता विषमस्थलटिप्पण्यादिना संयोज्य मीमांसारत्नैः श्रीसुब्रह्मण्यशास्त्रिभिः सम्पादिता। वाराणस्याः काशीहिन्दू- विश्वविद्यालयेन एकषष्टितमे वर्षे प्रकाशिता। शालिकनाथानुयायिन आसन् भवनाथमिश्रवर्याः। एभिर्विरचितस्तर्कपादान्तो 'नयविवेको' रविदेवकृतविवेकतत्त्वेन सह एस०के० रामनाथशास्त्रिभिः सम्पाद्य सप्तत्रिंशत्तमे वर्षे मद्रासविश्वविद्यालयात् प्रकाश्यतामानीतः। एवमेव नन्दीश्वरविरचितः 'प्रभाकर-विजयः' श्रीमद्भिरनन्तकृष्णवेदान्तविशारदशास्त्रिभिः सह श्रीमद्भी रामनाथशास्त्रिभिः षड्विंशतमे वर्षे सम्पाद्य कलिकातायाः संस्कृतसाहित्यपरिषदः प्रकाशितः। प्राचीनग्रन्थेषु प्रभाकरपरम्परायां रामानुजाचार्य-विरचितो 'तन्त्ररहस्यमिति' सञ्ज्ञको विशिष्टो ग्रन्थः आर० शामशास्त्रिभिः सम्पादितः। वडोदरास्थितेन केन्द्रीयग्रन्थालयेन त्रयोविंशतितमे वर्षे प्रकाशितः। विंशशताब्द्यां प्रकाशितानां ग्रन्थानामविकलरूपा इयं सूची नास्ति। नेदं विवरणं वा वर्तते प्रकाशितानां सर्वेषां ग्रन्थानाम्। बहवो ग्रन्थाः सन्ति येषां मयात्रोल्लेखो नैव कृतः। सन्त्येतादृशा अपि ग्रन्था येषामिदानीमपि परिचयो मयाऽवाप्तव्यो वर्तते। अत एव विंशशताब्द्यां मीमांसाशास्त्रस्य रक्षणार्थमङ्गीकृतस्य विदुषां व्रतस्य परिश्रमस्य च स्थालीपुलाकन्यायेन प्रकाशनस्यैव वर्तते ममायमल्पतरः प्रयासः।

विंशशताब्द्यां प्रणीताः स्वतन्त्रग्रन्थाः

मीमांसाशास्त्रविचारचातुरीचर्चितचेतसां विंशशताब्द्यां विलसतां मीमांसा-शास्त्रकोविदां वैदग्ध्यप्रकाशिका लेखनी, न केवलं पूर्ववर्तिनामाचार्याणां ग्रन्थानां प्रकाशनेनैव चरितार्थतामुपगता, अपितु मीमांसाशास्त्रस्य समग्रं स्वरूपमुद्घाटयितुं स्वतन्त्राणां ग्रन्थानां रचनयापि नितरां विद्योतते। विंशशताब्द्यां यथा संस्कृतगिरा-निर्मिता स्वतन्त्र ग्रन्थाः केचिददृष्टिपथं समायान्ति तथैवास्याः शताब्द्याः पूर्वस्मिन् भागे आङ्ग्ल भाषा-प्रणीता ग्रन्था अपि प्रागल्भ्यमात्मनः प्रकटीकुर्वन्ति।

विंशशताब्द्याश्चरमे भागे यथाकथञ्चिद्राष्ट्रभाषायामपि शास्त्राध्ययनाध्यापनस्य समारब्धायां परम्परायां केचन राष्ट्रभाषाविभूषिता ग्रन्था अपि दृष्टिपथं सम्प्राप्तास्सन्ति। भाषाभेददृष्ट्या त्रिभिर्बिन्दुभिर्विभक्तेस्ष्वेतेषु ग्रन्थेषु स्थालीपुलाकन्यायेन केचिदत्र विव्रियन्ते।

1. मीमांसाऽभ्युदयः - 1925

तञ्जापुरान्तर्गन्तश्रीमत्पञ्चनदस्थ-संस्कृतमहाकलाशालाप्रधान-मीमांसकैः श्रीशैलताताचार्यशिरोमणिभिर्विरचितो 'मीमांसाऽभ्युदय' सञ्ज्ञको ग्रन्थः तञ्जौरस्थया डिस्ट्रिक्ट बोर्डसंस्थया प्रकाशितः मुद्रितश्च कुम्बाकोणमवस्थिताच्छ्रीगोपाल-विलासमुद्रणालयात्पञ्चविंशतमे वर्षे। श्रीमद्भिस्ताताचार्यवर्यैर्विरचितोऽयं प्रबन्धः 'अवतरण-विद्यास्थान-प्रबन्धप्रबन्धाधिकार-प्रतिपाद्य-प्रमाण-प्रमेय-प्राभाकर-सेश्वरमीमांसा-सङ्कर्षप्रयोजनसञ्ज्ञकेषु नवसङ्ख्यकेष्वधिकारेषु व्यवस्थापितो वर्तते। श्रीमद्भिस्ताताचार्यमहाभागैरत्र मीमांसाशास्त्रप्रवर्तकाज्जैमिनेरारभ्य गागाभट्ट पर्यन्तानां प्रसिद्धानां मीमांसकानां सङ्क्षिप्तं विवरणं प्रतिपाद्य अन्येषामप्रसिद्धानामपि मीमांसकानां रचनाभिः सहात्र विवरणमुपन्यस्तम्। प्रमाणप्रमेयस्वरूपमपि सङ्क्षेपेणात्र विवेचितं वर्तते। सेश्वरमीमांसाधिकारेण सह सङ्कर्षाधिकारस्यात्र संयोजनेनास्य ग्रन्थस्यान्येभ्यो ग्रन्थेभ्यो वैशिष्ट्यमपि प्रकाशितं वर्तते। श्रीमद्भिस्ताताचार्यमहाभागैरस्मिन्नधिकारे न्यायपरिशुद्धि-मीमांसा-पादुका-सेश्वरमीमांसासञ्ज्ञकान् ग्रन्थान् उदाहृत्य सेश्वरमीमांसकानामपि दृष्टिरत्र प्रकाशिता वर्तते। यद्यपि वेदस्य नित्यत्वं निरपेक्षप्रामाण्यमेतेषां सेश्वरमीमांसकानामप्यभीष्टं तथापि ईश्वरास्तित्व-साधनाय इमे वदन्ति "यदस्तु कामं, अस्ति च वस्तुत ईश्वरो नाम सर्वशक्तः सर्वज्ञः पुरुषः, अथापि स यथा नित्यस्तथा वेदाभिधानः शब्दराशिरपि न तु पुनरेतस्य तत्कर्तृत्वे प्रमाणं पश्याम इति नैयायिकान् प्रतिवदन्ति। एवमेव ईश्वराज्ञाया विध्यर्थत्वमपि एभिरङ्गीक्रियते सेश्वरमीमांसकैः। अनया रीत्या वेदाविरुद्धतया ईश्वरास्तित्वप्रतिपादनाय सेश्वरमीमांसकानां प्रवृत्तिं निरूपयद्भिरेभिस्ताताचार्यवर्यैः कर्मणि श्रद्धासंवर्द्धनमेव परम्परायाम् अनीश्वरवादस्य बीजं प्रत्यपादि। सङ्कर्षाधिकारे चतुर्णां सङ्कर्षणकाण्डानामर्थाः प्रतिपञ्चहृदयदृशा प्रतिपादयाञ्चक्रुरिमे।

तत्र प्रकाशन्ते इमे अर्थाः-प्रथमे सर्वेषां मन्त्रविशेषाणां देवतातत्त्वप्रदर्शने तात्पर्यमिति प्रदर्शितम्। द्वितीयाध्याये विध्यर्थवादनामधेयानां मन्त्रदेवताविषयत्वम्। तृतीयेऽध्याये देवतातत्त्वं स्वेच्छाविग्रहवत्त्वादिगुणगणालङ्कृतम्। चतुर्थाध्याये देवता

(?) फलं सत्कर्मणामपवर्गाधिकारिणः तादात्म्यलक्षणापवर्गफलमिति। इतः परं शिरोमणिभिस्ताताचार्यपादैरधिकारोऽयं -"स्वरूपमादौ तद्भेदस्तदुपासनपूर्वकम्।

फलञ्च देवताकाण्डे देवतानान्तु कथ्यते।।" इतीयां वेङ्कटनाथात्मजस्य वरदराजाचार्यस्य अधिकरणसारावलीव्याख्यानेऽधिकरणचिन्तामणौ विद्यमानाम् उक्तिं परामृशद्भिरुपसंहृतोऽयं प्रबन्धः। श्रीमतां ताताचार्याणामयं प्रबन्धो विदुषामाह्लादाय यथा पर्याप्तस्तथैव मीमांसानये प्रविविक्षुभ्योऽपि नितरामात्मन उपादेयतामाविष्करोति।

2. तन्त्रसिद्धान्तरत्नावलिः 1944

वाराणस्यां मीमांसादर्शनस्य गौरवमयी परम्परा प्रामुख्येन श्रीमतां कुप्पुस्वामिचरणानामन्तेवासिभिः पण्डितवर्यैं अ० चिन्नस्वामिशास्त्रिचरणैः प्रवर्तिता। न केवलमेभिर्विविधानां मीमांसाग्रन्थानां सम्पादनेन टिप्पण्या व्याख्यया च प्राक्तनैराचार्यैः प्रकटितानां विचाराणां परिवर्द्धनेन समाराधिता मीमांसकानां परम्परा, अपितु काशीहिन्दूविश्वविद्यालयस्य धर्मविज्ञानसङ्काये आत्मनोऽध्यापनेनापि भृंश संवर्द्धितं वर्तते मीमांसाशास्त्रम्। मीमांसासागराः पद्मभूषणविभूषणाः पट्टाभिरामशास्त्रिचरणा एतेषामेवान्तेवासिष्वन्यतमत्वेन ख्यातिमवाप्ताः। मीमांसादर्शने एभिः पं० चिन्नस्वामिमहाभागैर्विरचितः 'तन्त्रसिद्धान्तरत्नावलि'-सञ्ज्ञको विराजते मीमांसायाः प्रकरणग्रन्थः। काशीहिन्दूविश्वविद्यालयाच्चतुश्चत्वारिंशत्तमे ख्रिस्ते वर्षे चिन्नस्वामिमहाभागानामन्तेवासिभिः पण्डितवर्यैः पट्टाभिरामशास्त्रिभिः संशोध्य भाट्टप्राभाकरसिद्धान्तभेदप्रदर्शकपट्टिकासंयोजनेन च सम्पाद्य प्रकाशितोऽयं ग्रन्थः।

मीमांसाशास्त्रनदीष्णैः पं० चिन्नस्वामिशास्त्रिचरणैर्मीमांसाशास्त्रस्य प्रायशः सर्वेषामेव सिद्धान्तानां प्रकाशनार्थं ग्रन्थोऽयं त्रिषु परिच्छेदेषु विभक्तो वर्तते। प्रथमपरिच्छेदे मङ्गलाचरणेन सह स्वाध्यायविधि-धर्मलक्षण-लिङर्थार्थवाद-मन्त्रनामधेयस्मृतिशिष्टाचारादयः पदार्थाः सम्यक्तया विवेचिताः द्वितीये प्रकाशे प्रत्यक्षादीनां प्रमाणानां स्वरूपं विविच्य इन्द्रियमनसे-न्द्रियार्थसन्निकर्षादीनां विवेचनया सह मीमांसादृष्ट्या पदार्थ-निरूपणप्रसङ्गे शब्दस्य द्रव्यत्वमपि शास्त्रिचरणैरत्र प्रकाशितम्। गुणनिरूपणपुरस्सरं कर्मजातिशक्त्यभावपदार्थास्तृतीये प्रकाशे शास्त्रिचरणैर्विवेचितास्सन्ति। द्विविधव्याप्तिनिरूपणपूर्वकमनुमानस्य द्वैविध्यं संसाध्य शास्त्रिचरणैश्चतुर्थे प्रकाशेऽनुमानं प्रादर्शि। आकाङ्क्षादिसहकारिकारण-

निरूपणपुरस्सरं शब्दनिरूपणं पञ्चमे प्रकाशे निष्पादितं वर्तते। उपमानार्थापत्ति-प्रमाणे चरमे षष्ठ-प्रकाशे निरूपिते।

अस्य तन्त्रसिद्धान्तरत्नावलिसञ्ज्ञकस्य ग्रन्थस्य द्वितीयपरिच्छेदस्य प्रथमे प्रकाशे अनुपलब्ध्यर्थभावनाऽपूर्वदर्शपूर्णमासयागकर्मभेदकर्मभेदप्रमाणादयो महत्त्वपूर्णविषया निरूपितास्सन्ति। अस्य परिच्छेदस्य द्वितीये प्रकाशेअङ्गत्व-निरूपणान्तरं श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यासञ्ज्ञकानां विनियोजकानां प्रमाणानां स्वरूपं प्रदर्श्य बलाबलमप्येतेषामत्र शास्त्रिचरणैः परम्परानुरूपमुपवर्णितम्। अस्मिन्नेव प्रकाशे क्रत्वर्थपुरुषार्थस्वरूपविवेचनेन सह अनारभ्याधीतन्यायोऽप्यत्र चिन्नस्वामिशास्त्रिचरणैः प्रकाशितः। अस्य द्वितीय-परिच्छेदस्य तृतीये प्रकाशे प्रयोज्यत्वेन सह प्रयोगविधिं निरूप्य शास्त्रिचरणैरत्र श्रुत्यर्थपाठस्थानमुख्य-प्रवृत्तिसञ्ज्ञकानां प्रमाणानां स्वरूपं विविच्य एतेषां बलाबलमपि परम्परानुरूपमत्रैव साधितम्।

ग्रन्थस्य तृतीये परिच्छेदे चत्वारः प्रकाशाः शास्त्रिचरणैर्नियोजिताः। तत्र प्रथमे प्रकाशे-अतिदेशस्वरूपं प्रत्यपीपदच्छास्त्रिचरणाः। द्वितीये प्रकाशे ऊहमूह्य तृतीये बाधो निरूपितः। तन्त्र-प्रसङ्गौ चतुर्थे प्रकाशे निरूपितौ।

ग्रन्थस्य चतुर्थ-परिच्छेदस्य प्रथमे प्रकाशे शास्त्र-सारनिरूपणपुरस्सरं विधेस्त्रैविध्यं शास्त्रिचरणैः प्रदर्शितम्। द्वितीये प्रकाशे अभ्युदयनिःश्रेयसत्वभेदाच्छ्रेयं द्विविधा विभज्य स्वर्गपुत्रपश्वादिजन्यं सुखमभ्युदयत्वेन निरूप्य 'निःश्रेयसस्तु मोक्ष एव' इत्यनया पङ्क्त्या मोक्षस्य निःश्रेयसत्वं प्रतिपाद्य प्रपञ्चसम्बन्धविलयत्वमिति तस्य स्वरूपं प्रतिपादितम्। "मोक्षार्थिभिर्विवेकज्ञानमात्रेण न कृतार्थमन्यमानैस्थात-व्यम् किन्तु पूर्वोक्तरीत्याऽशरीरसम्पादने यतितव्यमिति" इत्यनया शास्त्रिचरणानां पङ्क्त्या ज्ञानेन सह नित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठानस्याभिव्यक्तेरुभयोः ज्ञानकर्मणोः समुच्चयस्यैव मोक्षसाधनत्वं शास्त्रिचरणानामभिमतमिति स्पष्टं परिलक्ष्यते।

ग्रन्थस्यान्ते परिशिष्टभागे सम्पादकैरत्र प्रमाणेषु प्रत्यक्षादीनां स्वरूपमुभयोर्मतेन प्रदर्श्य शब्दार्थ-लिङर्थगुणज्ञानकर्मसामान्याभावादीनां पदार्थानां स्वरूपे उभयोः भाट्टप्राभाकरयोर्मतभेदः प्रदर्शितः। येषु स्थलेषु प्रकाशितो वर्तते मतभेदस्तेषां स्थलानां विवेचनस्य निष्कर्षप्रदर्शनार्थं पृष्ठद्वयपरिमिता 'भट्टप्रभाकर- मतभेदनिष्कर्षपट्टिका'-प्यत्र समायोजिता वर्तते। परिशिष्टभागस्यानन्तरं 'सङ्क्षिप्तशब्दविवरणम्' इत्यस्य शीर्षकस्याधिकारे ग्रन्थानामाद्याक्षरप्रदर्शनव्याजेनात्र परामृष्टानां चतुश्चत्वारिं-

शत्सङ्ख्यकानां पुस्तकानां सूचीं प्रदर्श्य ग्रन्थस्यास्य समालोचनात्मकं स्वरूपमपि प्रदर्शितं भङ्गिमान्तरेण सम्पादकमहाभागैः।

लेखकसम्पादकयोरुभयोरपि प्रतिभया संवलितोऽयं ग्रन्थः सम्पूर्णया द्वादशलक्षण्या राद्धान्तेषु प्रमुखानां प्रकाशकत्वाद्यथा मीमांसानयविवेचन-विचक्षणानां विदुषां परितोषाय क्षमस्तथैव कठिनानामपि सिद्धान्तानां सरलतया प्रतिपादना-च्छात्राणामप्यस्मिन् मीमांसाशास्त्रार्णवे सन्तरणार्थमात्मनस्तरणीत्वमाविष्करोतीति मन्ये।

3. मीमांसानयमञ्जरी 1984, 1992

विंशशताब्दिकालविभूषितेषु मीमांसकेषु वाराणस्यां विभूषितैर्विद्यासागरैः पद्मभूषणविभूषणैः पट्टाभिरामशास्त्रिचरणैर्विविधानां मीमांसाग्रन्थानां व्याख्यया सम्पादनेन च यथा परम्पराया महती सेवा निष्पादिता तथैव स्फीतया आबाल-वृद्धतोषिण्या सरसया भाषया विरचितया भागद्वयपरिमितया मीमांसानयमञ्जर्या विलुप्तप्राया मीमांसान्यायाः पुनरपि प्रकाशितास्सन्ति। अत्र चतुरशीतितमे ख्रिस्ते वर्षे वाराणस्याः सम्पूर्णानन्द विश्वविद्यालयेन प्रकाशिते प्रथमभागे मीमांसाशास्त्रस्य तृतीयाध्यायस्य अष्टमपादपर्यन्तानाम् एकोनविंशत्यधिकानां द्विशतानां (219) विविधेष्वधिकरणेषु विद्यमानानां न्यायानां शास्त्रिचरणैः स्फीतया भाषया स्वरूपं प्रादर्शि। अस्य प्रथमभागस्य परिशिष्टभागे शास्त्रिचरणैः भाट्टमीमांसायां प्रविविक्षुभ्यो मानमेयार्थसङ्ग्रहोऽपि मीमांसादृष्ट्या प्रकाशितो वर्तते। द्विनवतितमे ख्रिस्ते वर्षे प्रकाशिते द्वितीयभागे चतुर्थाध्यायस्य प्रथमपादादारभ्याष्टमाध्यायस्य चतुर्थपादान्तराले विभिन्नेष्वधिकरणेषु ऊनषष्ट्यधिकानां द्विशतानां न्यायानामत्र शास्त्रिचरणैर्वैशद्यं निष्पादितम्। अस्य द्वितीयाध्यायस्य परिशिष्टे मीमांसाधुरीणैरेभिः मीमांसानय-प्रकाशितस्य यागात्मकस्य कर्मणो निष्पत्तये आवश्यकानामनेकेषामाधानाग्नि-होत्रवेदिनिर्वापादीनां प्रायशो चतुरशीतिसङ्ख्यकानां पदार्थानां स्वरूपमपि प्रदर्शितं वर्तते। द्वितीयभागेऽस्मिन् शास्त्रिचरणैर्नवमात्पादादारभ्य द्वादशाध्यायपर्यन्ता अन्ये चत्वारोऽध्याया अस्यां शताब्द्यां विद्यमानेभ्यः परित्यक्ता इति मन्ये।

4. मीमांसादर्शन-विमर्शः- 1976

मीमांसाशास्त्रज्ञेषु विद्वत्सु प्रतिष्ठितानां मीमांसासागराणां पट्टाभिरामशास्त्रि-चरणानामन्तेवासिभिरुपाध्याय इत्युपाधिकैः डॉ० वाचस्पतिमहाभागैर्वेदस्वरूप-विचारादारभ्य प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वपरतस्त्वविचारपर्यन्तानामनेकेषां प्रमाणप्रमेयख्याति -ज्ञानादीनां विषयाणां समालोचनात्मिकया पद्धत्या विवेचनात्मको

मीमांसादर्शन - विमर्शसञ्ज्ञको ग्रन्थोऽकारि:। दिल्लीस्थितेन भारतीयविद्या-प्रकाशनेनायं ग्रन्थ: षड्सप्ततितमे ख्रिस्ते वर्षे प्रकाशित:। मीमांसाशास्त्रमूर्धन्यानां डॉ० उपाध्यायमहाभागानामनुसन्धान-प्रावीण्यप्रकाशकोऽयं ग्रन्थ: सप्तपरिच्छेदेषु व्यवस्थापितो वर्तते। ग्रन्थस्य प्रथमपरिच्छेदे वेदस्वरूपं विचार्य मन्त्रब्राह्मणो-पनिषद्दारण्यकात्मके निखिले एव वेदे जैमिन्यभिमतमलौकिकार्थ-वेदकत्वमे-भिरुपाध्यायवर्यैरस्मिन् परिच्छेदे साधितम्। द्वितीये परिच्छेदे न्यायमतपरिशीलन-पुरस्सरं वेदे त्रेधापुरुषप्रवेशसम्भावनां निरस्य वेदस्यापौरुषेयत्वं प्रकाशितम्। तृतीये परिच्छेदे प्रमाणलक्षणपरीक्षणं प्रतिपाद्य चतुर्थे परिच्छेदे मीमांसा-दृष्ट्या भेदप्रतिपादनपुरस्सरं प्रमाणस्वरूपं विवेचितम् वर्तते। डॉ० उपाध्यायमहाभागैर्ग्रन्थस्य पञ्चमे परिच्छेदे ख्यातिस्वरूपं विविच्य षष्ठे परिच्छेदे ज्ञानमीमांसा विवेचिता वर्तते। सप्तमे परिच्छेदे साङ्ख्यनैयायिकसौगतमतपरिशीलनपुरस्सरमेभि: प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वं समालोचनात्मिकया दृष्ट्या साधितम्। आचार्य वर्याणामुपाध्यायमहाभागानां समालोचनशक्त्या सह मीमांसाशास्त्रवैदध्य- प्रकाशकोऽयं ग्रन्थोऽनुसन्धृत्सुभ्यो महतीमात्मन उपयोगितामाविष्करोति।

5. पूर्वमीमांसा इन इट्स सोर्सेस-1964

विंशशताब्द्या मध्यकालपर्यन्तानां मीमांसाशास्त्रानुसन्धानकर्तृणां मध्ये प्रयागवास्तव्यानां महामहोपाध्यायपदवीजुषां सर-गङ्गानाथ-झा-महाभागानां नाम विशेषरूपेण उल्लेखनीयं वर्तते। अनेकेषां मीमांसाग्रन्थानां सम्पादनेन सह उभयोरपि वार्तिकयोरेभिराङ्ग्लभाषायामनुवादात्मक महत्त्वपूर्णं कार्यं निष्पादितं वर्तते। सर्वेषां मीमांसा-वर्ण्य-विषयाणामेकत्र प्रकाशनाय एभि: 'पूर्वमीमांसा-इन-इट्स सोर्सेस-सञ्ज्ञक: स्वतन्त्रो ग्रन्थ: प्रणीत:। वाराणस्यामवस्थितेन काशी हिन्दू विश्वविद्यालयेन चतु:षष्टितमे ख्रिस्ते वर्षेऽयं प्रकाश्यतामानीत:। महामहोपाध्याय-वर्यैरयं ग्रन्थो द्वात्रिंशदध्यायेषु विभक्तो वर्तते। अत्र गन्थस्य प्रारम्भे प्रस्तावनायां भारतीयदर्शनशास्त्रपरम्परायां मीमांसाशास्त्रस्य स्थानं प्रयोजनञ्च सामान्यरूपेण प्रतिपाद्य प्रथमपरिच्छेदा-दारभ्य नवमाध्यायपर्यन्तं शबरस्वामिप्रभाकरकुमारिल मतपरिशीलनपुरस्सरम् आत्ममोक्षमनसिन्द्रियेश्वरजगत्स्वर्गजातिपर्यन्ता: पदार्था मीमांसाशास्त्रदृष्ट्या विवेचितास्सन्ति। दशमाध्याये प्रमाणस्वरूपं प्रदर्श्य एकादशाध्यायादारभ्याष्टादशाध्यायपर्यन्तं प्रत्यक्षानुमानशब्दोपमानार्थापत्त्य-भावसञ्ज्ञकानि षड्विधानि प्रमाणानि झामहाभागै: शबरस्वामिप्रभाकरकुमारिलानां

त्रयाणामाचार्याणां दृष्ट्या निरूपितानि सन्ति। एकोनविंशाध्याये शास्त्रारम्भेन सह धर्मस्वरूपं विवेच्य परम्परानुरूपं वेदानां धर्मप्रतिपादकत्वमपि झामहाभागैस्त्र प्रतिपादितम्। विंशाध्यायादारभ्य एकत्रिंशदध्यायपर्यन्तं मन्त्रस्मृत्यपूर्वकर्मभेद-प्रकृतिविकृतिक्रत्वर्थपुरुषार्थत्वयज्ञस्वर्गदेवताधिकारभार्याधिकारशूद्राधिकाराति-देशोहबाधतन्त्रप्रसङ्गसञ्ज्ञका मीमांसादर्शनस्य मुख्यविषया झा-महोदयैः सम्यगतया विवेच्य प्रतिपादिताः द्वात्रिंशत्तमेऽध्याये यज्ञदक्षिणास्वरूपं विवेचितम्। त्रयस्त्रिंशत्तमेऽध्याये झामहाभागैर्विविधेषु शास्त्रेषु मीमांसायाः प्रभावं निरूप्य अस्या निखिलशास्त्रोपयोगिनी महत्ता यत्नेन प्रकाश्य समुपसंहृतोऽयं ग्रन्थ इति शम्।

आङ्ग्लभाषाप्रणीता अन्या रचनाः

अन्यैरपि विंशशताब्द्यां विद्यमानैर्विद्वद्भिराङ्ग्लभाषया विरचिता रचना अपि उल्लेखनीयाः सन्ति। विस्तारभयादत्र दिङ्मात्रप्रदर्शनार्थं केषाञ्चिदेव नामोल्लेखः क्रियते-

रचना	रचनाकार	प्रकाशनसंस्था कालश्च
1. कर्ममीमांसा	प्रो० ए०बी०कीथः	हेरीटेज ऑफ इण्डिया सीरीज 1921
2. ए ब्रीफ स्केच आफ द पूर्वमीमांसा	पी०वी०काणे	आर्य-भूषण-प्रेस-पूना, 1924
3. मीमांसा जुरीप्रूडेन्स- द-सोर्स ऑफ हिन्दू ला	ए०एस०नाटराज अय्यर	गङ्गानाथ-झा रीसर्च-इन्स्टीट्युट, अलाहाबाद, 1952
4. मीमांसा-द सीक्रेट ऑफ द सेक्रेड बुक्स ऑफ हिन्दूज	एन०बी०थडनी	भारतीय रीसर्च-इन्स्टीट्युट दिल्ली-19
5. मीमांसा-द वाक्यशास्त्र ऑफ एनसिएण्ट इण्डिया, वाल्यूम वन	जी०वी०देवस्थली	बुकसेलर्स पब्लिशिङ् कम्पनी, बाम्बे, 1950
6. इस्टीमोलाँजी ऑफ द भाट्टस्कूल ऑफ पूर्वमीमांसा	गोवर्द्धन पी भट्ट	चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, 19
7. मीमांसा फिलासफी एण्ड कुमारिलभट्ट	विश्वनारायणशास्त्री	राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, न्यू दिल्ली, 1991

मीमांसा-दर्शन का विवेचनात्मक इतिहास

मीमांसाशब्दस्य व्युत्पत्या समारब्धेऽस्मिन् ग्रन्थे शास्त्रस्यास्य प्रवर्तकस्य जैमिनिमहर्षेः पूर्वाऽपरां उभयविधां मीमांसकानां परम्परां प्रदर्श्य सम्पूर्ण-मीमांसाया वर्ण्यविषयस्यात्र ग्रन्थकृद्भिर्मूसलगाँवकरोपनामकैर्गजाननशास्त्रिमहाभागैरोचकतया राष्ट्रभाषायां निरूपणं कृतं वर्तते। प्रथम-परिच्छेदे मीमांसाया व्यापकतां निरूप्य निखिलानां द्वादशाध्यायानामत्र स्वरूपमपि सङ्क्षेपेण न्यरूपि शास्त्रिचरणैः। द्वितीय-परिच्छेदे उपवर्षमारभ्य वाञ्छेश्वरयज्वपर्यन्तानां षष्ठिसङ्ख्यापरिमितानां मीमांसाविचारचातुरीचर्चितचेतसां मीमांसकानामत्र कालनिर्देशपुरस्सरं ग्रन्थविचाराः प्रमाणयुक्तिसंयोजनपुरस्सरं समीक्षिताः। अस्मिन्नेव परिच्छेदे शास्त्रि-चरणैर्वतमानकालीनानां विदुषामुल्लेखपुरस्सरं मीमांसादर्शनस्य उपयोगितया सह तस्यानभिव्यक्तं महत्त्वमभिव्यक्तम्। शास्त्रिचरणैर्विरचित्तोऽयं ग्रन्थः संस्कृतभाषाया-मप्रवीणानामपि मीमांसानये प्रवेशाय प्रकटयत्यात्मनो महतीमुपयोगिताम्।

राष्ट्रभाषया निर्मिता अपरे ग्रन्थाः

विंशशताब्द्यां विद्यमानेषु मीमांसकेषु मण्डनमिश्रकल्पानां डॉ० मण्डनमिश्रवर्याणां मीमांसादर्शनसञ्ज्ञकेन ग्रन्थेन सह अन्ये अपि केचन राष्ट्रभाषया लिखिता ग्रन्था दृष्टिपथं समागताः सन्ति। एतेषामत्र त्रयाणामुल्लेखः क्रियते-

1. "मीमांसादर्शन (महर्षि जैमिनि-प्रवर्तित विचारशास्त्र का समालोचनात्मक अध्ययन" रमेश-बुक-डिपो, त्रिपोलिया बजार, जयपुर 1960, डॉ० मण्डन मिश्र
2. तन्त्रवार्तिक का स्मृतिपाद, ईस्टर्न बुक-लिंकर्स, दिल्ली, 1989 - डॉ० विनीता सिन्हा
3. "मीमांसादर्शन का उद्भव और विकास-" सुरभारती-प्रकाशन, कानपुर, 1989 - डॉ० प्रेमा अवस्थी

मीमांसायाः प्रासङ्गिक-सन्दर्भाः

विंशशताब्द्यां वाराणस्यां विद्यमानाना म०म०अ०चिन्नस्वामिचरणामन्तेवा-सिभिः पट्टाभिरामशास्त्रिचरणैः स्वविरचितायां नत्रमञ्जर्यां मीमांसान्यायप्रकाशस्य हिन्दी व्याख्यायामपि मीमांसान्याया महता कौशलेन प्रयासेन च सामयिकेषु च सन्दर्भेषु विनियोजितास्सन्ति। राष्टस्यैकरूपतासन्दर्भे विभिन्नानां स्थानीयनिकायानां

केन्द्रेण सह साक्षात्परम्परया वा समन्वये शास्त्रिचरणैर्नञमञ्जर्यामुपन्यस्तेषु नयेषु होलाकाधिकरणेन सह आरुण्याधिकरणमप्यस्मच्चेतसामावर्जने क्षमम्।

मीमांसाशास्त्रस्य होलाकाधिकरणे भारतवर्षस्य विविधेषु प्रदेशेषु प्रचलितानामुत्सवानां व्यवस्था तत्तत्प्रदेशपर्यन्ता वर्तते निखिलराष्ट्रव्यापिनी वेति समुत्पन्ने संशये तत्तत्प्रदेशीया व्यवस्था इति पूर्वपक्षमतं निराकर्तुं सिद्धान्तेनोच्यते यदेतेषां होलाकादीनाम् उत्तरपूर्वपश्चिमादिप्रदेशीयानामुत्सवानां तत्तत्प्रदेशेन व्यवस्थाया निष्पादने आचाराणां श्रुतिस्मृतिमूलकत्वादेतेषां मूले कल्पितव्ये स्मृतौ श्रुतौ वा प्राच्यदक्षिण इत्यादीनां पदानां सन्निवेशः करणीयो भवेत् परन्त्वत्र के प्राच्याः के दाक्षिणात्या इति निर्वचनं कर्तुं न शक्यते। यदि प्राच्यां भवः प्राच्य इति निर्वचनं क्रियते तर्हि प्राचीं गतः प्राच्य इत्यत्र व्यभिचारो जायते। प्राच्या आगतः प्राच्यः प्राच्यामुद्भुतः प्राच्यो वा इत्यादीनामनेकासां व्युत्पत्तिप्रक्रियाणामस्तित्वे प्राच्यादीनामनिर्वचनदशाप्राप्तायां निखिलराष्ट्रपर्यन्ता व्याप्तिः सर्वेषां प्रादेशिकानामुत्सवानामङ्गीक्रियते। अयं सिद्धान्तः प्राकृतेनार्थेन सह निखिलभारतवर्षस्य एकरूपताया अपि अवबोधे उपयोगी वर्तते, अस्यार्थस्य पृथक्तया प्रतिपादनमनपेक्षितमेव मन्ये।

यद्यपि नञमञ्जर्यां पट्टाभिरामशास्त्रिचरणैरयमर्थः शब्दतो न प्रकाशितः परन्त्वापदेवविरचितस्य मीमांसान्यायप्रकाशाख्यस्य ग्रन्थस्य हिन्दीव्याख्यायां पादटिप्पणीषु तत्र-तत्र प्रकृतार्थस्य राष्ट्रियसमन्वयेऽर्थे शब्दतोऽपि प्रकाशितो वर्तते।

1. मीमांसान्यायप्रकाश-ग्रन्थस्य 'आरुण्यस्यापि क्रयाङ्गत्वं तृतीयाश्रुत्या न चामूर्त्तस्य तस्य कथं क्रयाङ्गत्वमिति वाच्यम्। एकहायनीरूपद्रव्यपरिच्छेदद्वारा तदुपपत्तौ' इत्यस्य सन्दर्भस्य हिन्दीव्याख्यायामारुण्यस्य गुणस्यामूर्तत्वादयोग्यतया क्रयभावनायामन्वयेऽसङ्गतौ प्राप्तायामेकहायनी गोरूपद्रव्यविशेषणतया पारम्परिकरीत्या क्रयभावनायां पार्ष्ठिकमन्वयं प्रदर्श्य टिप्पण्यामयं सिद्धान्तः प्रजातन्त्रस्य परिचायक इत्युक्तम्। अत्र शास्त्रिचरणैरुच्यते यत्साक्षाद्रूपेण विचारार्थं प्राप्ता योजना मन्त्रिणा तावन्नानुमन्यते यावदियं समुचितेन माध्यमेन नैव समायाति। एवमेवाग्रेऽपि नवस्थानेषु शास्त्रिपादैः शास्त्रीय-सिद्धान्तानां राष्ट्रियसन्दर्भेषु समायोजनं प्रदर्शितं वर्तते। एतेषु स्थालीपुलाकन्यायेन दर्शपूर्णमासप्रयाजयोः समन्वय-प्रापके प्रकरणप्रमाणे समायोजिता टिप्पणी प्रस्तूयते-श्रौतयज्ञेषु पदार्थाः पुरुषार्थ-क्रत्वर्थ-क्रतुयुक्त-पुरुषार्थतया त्रिविधास्सन्ति। इत्यत्र शास्त्रिपादैर्निरूपिताः। अग्रे

लिखन्ति-यद्देशस्य स्वतन्त्रताखण्डतात्मकस्य फलस्य सिद्ध्यै कल्पितं प्रजातन्त्रं क्रतुस्थानापन्नः पुरुषार्थः। अस्यै प्रजातन्त्रात्मिक्यै क्रतुसिद्ध्यै केन्द्रीयं शासनं क्रत्वर्थत्वेन व्यवस्थापितम्। प्रादेशिकानि निखिलानि शासनानि तस्य क्रत्वर्थभूतस्य केन्द्रशासनस्य सहायकान्येव भवितुमर्हन्ति। इत्यादिभिर्विविधाभिष्टिप्पणीभी राष्ट्रैक्यस्य प्रकाशने मीमांसान्यायानां समायोजनस्य शास्त्रिचरणानां भावना सुतरामभिव्यज्यते।

विमर्शः

जैमिनिमहर्षिभिः स्वविरचितैः सूत्रैः प्रवर्तितं, श्रीकृष्णयज्वापर्यन्तैर्मीमांसकैः परिभाषितं मीमांसादर्शनमासन्नपरिसमाप्तायां विंशशताब्द्यां व्याख्या सम्पादनस्वतन्त्र-ग्रन्थलेखनप्रक्रियाभिः पद्धतिभिर्व्यवस्थापितं व्याख्यातं परिवर्धितञ्च। न केवल-मस्मिन्काले विद्यमानैर्विद्वद्भिः प्राक्तनानां ग्रन्थानां प्रकाशनेन व्याख्यया तेषां परिभावनेनैवच सन्तुष्टिरवाप्ता अपितु निखिलायां परम्परायां निहितस्यार्थतत्त्वस्य कोमलमतिभ्यः प्रकरणग्रन्थानां रचनयाऽवबोधनार्थमपि वर्तते एतेषामुल्लेखनीय-मवदानम्। न केवलमत्रैव विरामता परिलक्ष्यते एतेषां विचारसरणिरपितु प्रासङ्गिकेऽपि चिन्तने मीमांसानयानां विनियोगाय एतेषां कार्येभ्यः प्रवृत्तिप्रवर्तिका प्रवर्तनाऽपि सातत्येनास्माभिरवाप्यते।

2
भाट्टमीमांसायां कार्यकारणभावविमर्शः

भारतीय-दार्शनिकप्रस्थानेषु विचार्यमाणेषु विषयेषु कार्यकारणभावविमर्शस्य प्रामुख्यं परिलक्ष्यते। कार्यकारणभावसन्दर्भे असत्कार्यवादसत्कार्यवाद-विवर्तवादारम्भवादा इति चत्वारो वादाः प्रथितचराः सन्ति। एतेषु शून्यवादिनां सदसद्विरहितस्य शून्यस्य वस्तुजातस्याधिकरणत्वाद्वस्तुजातस्य च संवृत्तिसत्ताया-मस्यैव विवर्तत्वादेतेषां सिद्धान्तोऽयमसत्कार्यवाद इत्युच्यते। साङ्ख्यनये प्रकृतिरूपस्य त्रिगुणात्मकस्यैकस्यैव तत्त्वस्य निखिलजगन्मूलकत्वात्कार्य-स्याविर्भावात्प्रागपि उपादानकारणे विद्यमानत्वप्रतिपादनादेतेषां सिद्धान्तः कार्यकारणसन्दर्भे सत्कार्यवादसञ्ज्ञया विभूषितो वर्तते। कारणस्य सद्भावेऽप्युत्पत्तेः प्राक् कार्यस्यास्तित्वं निराकुर्वतां नैयायिकानां वैशेषिकानाञ्च कार्योत्पत्तिवाद आरम्भवाद इति सञ्ज्ञया प्रसिद्धो वर्तते। निष्प्रपञ्चस्य ब्रह्मणो व्यावहारिक्यामेव दशायां प्रतीयमानस्य जगत उपादानकारणत्वेनाङ्गीकारात् पारमार्थिक्यामवस्थायामस्य बाधात् ब्रह्मणश्च त्रिविधायामप्यवस्थायामबाधाच्च 'सदेव सर्वम्' इति वदतामद्वैतवादिनां सिद्धान्तो दार्शनिकक्षेत्रे विवर्तवाद इत्यभिधानेन व्यवह्रियते।

भारतीय-दर्शनस्य वैदिकवर्गे प्रतिष्ठितेषु दर्शनेषु वैदिकवाक्यविश्लेषणेन वाक्यार्थनिर्णयप्रक्रिययाऽर्जितदार्शनिकस्वरूपस्य मीमांसादर्शनस्य भाट्टप्रस्थाने विवर्तवादसत्कार्यवादासत्कार्यवादेभ्यो भिन्न एव कार्यकारणभावो दृष्टिपथं समायाति।

मीमांसायां भाट्टमतप्रवर्तकानां भट्टपादानां कार्यकारणसन्दर्भे औत्पत्तिक-सूत्रव्याख्याने शून्यवादनिराकरणप्रसङ्गेऽभिव्यज्यते कार्यकारणभाव-विषयकोऽभिप्रायः।

कार्यकारणलक्षणोपन्यासः

कार्यकारणयोर्लक्षणं यद्यपि स्वतन्त्ररूपेण इदं कारणस्वरूपम् इदं कार्यरूपमिति नैव प्रादर्शि भट्टपादैस्तथापि शून्यवादिनामभिमतस्य तद्भावभावितस्यैव

कारणत्वस्य निराकरणप्रसङ्गे भट्टपादैः पौर्वापर्यविशिष्टस्य तद्भावभावितस्य कारणत्वं न्यरूपि। अत्रेभिरुच्यते यदत्र तद्भावभावितनियमसहकृतस्य पौर्वापर्यस्यैव वर्तते कारणत्वम्। एवञ्च कार्यकारणभावे कार्यनियतपूर्ववृत्तित्वं कारणत्वं कारणनियतोत्तर वृत्तित्वञ्च कार्यत्वं सङ्गच्छते। यद्यत्र तद्भावभावितात्मकस्य नियमस्य कारणत्वं विहाय पूर्ववृत्तित्त्वस्यैव स्वीक्रियते, पौर्वापर्यत्वं विहाय तद्भावभावितात्मकस्यैव वाङ्गीक्रियते चेदुभयत्र नोपपद्यते कार्यकारणभावः।

उभयोः पक्षयोर्मध्ये तद्भावभावितात्मकं नियमं विहाय पूर्ववृत्तित्वस्यैवोपपाद्यते कारणत्वं पूर्वापरभावमापन्नयोः कार्यकारणभावरहितयोरपि गोरश्वयोः कार्यकारणभावप्रसङ्गः। एवमेव पूर्ववृत्तित्वमात्रस्य कारणत्वाङ्गीकारे घटादिषु रूपोत्पत्तिक्षणसमनन्तरसमुत्पद्यमाने रसे रूपनिरूपितस्य कार्यत्वस्य रूपे च रसनिरूपितस्य कारणत्वस्य च समन्वयादकार्यकारणभावयोरप्येतयोः कार्यकारणभावसमन्वयः स्यादेतदर्थं भट्टपादैः पूर्वभावापन्नेषु पदार्थेष्वपि यस्मात्पदार्थाद्यस्य कार्यस्य निष्पत्तिर्भवति, तस्यैव पूर्ववर्तिनः पदार्थस्य कारणत्वं प्रतिपाद्यते न तु सर्वेषामेव पूर्ववर्तिनाम्। एवञ्च 'तद्भावभावितनियमसहकृतस्यैव पूर्ववर्तिनः कारणत्वमुत्तरवर्तिनश्च कार्यत्वादेतादृशयोरेव भाट्टदृष्ट्या सङ्गच्छते कार्यकारणभावः।[1]

कारणकोटौ शक्तेरपि कारणत्वव्यवस्थापनम्

न्यायवैशेषिकवद् बाह्यपदार्थास्तित्वं प्राभाकरभाट्टोभयपक्षपातिभ्यां मीमांसकाभ्यामङ्गीक्रियते। उत्पत्तेः प्राक्कार्यस्यानवस्थानमपि न्यायवैशेषिक-वदुभयोरपि मतयोः समानरूपेण स्वीकृतन्तथापि कार्यनिरूपितकारणकोटौ शक्तितत्त्वस्याप्यतीन्द्रियास्तित्वं प्रतिपाद्यते।

अनया एव दृष्ट्या मीमांसकानां न्यायवैशेषिकाभ्यां भिद्यते कार्यकारण-भावसिद्धान्तः। पटादीनां कार्याणां समुत्पादकेषु तन्त्वादिषु कारणेषु विद्यतेऽयं शक्तिपदार्थः। अनया शक्त्या सम्पन्नानामेव कारणानां कार्यजनकत्वघटितं कारणत्वमेभिर्निरूप्यते। यद्यपि कदाचित् शक्तिमत्सु कारणेषु विद्यमानेष्वपि कार्यनिष्पत्तिर्नावलोक्यते,तथाप्यत्र 'कादाच्कित्वे' कारणेषु कार्यानुकूलशक्तेर्विद्य-मानत्वेऽपि देशकालप्रभृतिसहकारिकारणानां विरहदशायां शक्तेरनभिव्यक्तेर्हेतुत्वं संसाधयद्भिः सहकारिकारणसहकृतैरभिव्यक्तशक्तिमतामेव पदार्थानां कारणत्वं भट्टपादैर्व्यवस्थाप्यते-

देशकालनिमित्तानि व्यञ्जकान्यर्थवादिनः।
शक्तीनां कारणस्थानां स्वकार्यनियमं प्रति।।[2]

शक्तेर्नित्यत्वमनित्यत्वञ्च

वह्न्यादिषु कारणेषु दाहाद्यनुकूला या शक्तिः प्रतिपाद्यते तस्याः कदाचिच्चन्द्रकान्तमणिसंयोगेन नाशादुत्तेजकसूर्यकान्तमणिसंयोगाच्चन्द्र-कान्तमणेरपसाराच्च पुनः तस्या उत्पत्तेरियं शक्तिरनित्यपदार्थवर्तिनी अनित्या इत्युच्यते मीमांसकैकदेशिभिः। अपरेषां तु सर्वत्र शक्तिमत्वेनैव वह्न्यादीनां कारणत्वमङ्गीकुर्वतां मीमांसकानां मते शक्तिर्यद्यपि नित्या तथापि विशिष्टायां स्थितौ साऽभिव्यक्तिं प्राप्नोति। विपरीतायां स्थितौ शाक्तेरनभिव्यक्तिदशायां स्वरूपतः कारणस्य विद्यमानत्वेऽपि कार्योत्पत्तिर्नैव सङ्गच्छते। अनकूलस्थितौ शक्तेरभिव्यक्तदशायामेव शक्तिमतां कारणानां सद्भावे निष्पद्यन्ते कार्याणि। मीमांसकेषु भट्टपादास्तावन्नित्यशक्तिवादप्रतिपादका इति 'देशकालनिमित्तानि व्यञ्जकान्यर्थ-वादिनः' इत्यत्र 'व्यञ्जकान्यर्थवादिन' इत्यनेन कारिकांशेन स्पष्टं विज्ञायते।

शक्तिबोधकप्रमाणनिरूपणम्

शक्तिमतः पदार्थस्यैव कारणत्वप्रतिपादने समानतायामपि शक्तेरस्तित्वे प्रमाणप्रदर्शनप्रसङ्गे प्राभाकरभाट्टमतयोः वैमत्यं स्पष्टं परिलक्ष्यते। लौकिकवैदिकभेदेन द्विविधत्वाच्छक्तेः तत्प्रमाणस्यापि द्वैविध्यं प्राभाकरैः प्रतिपाद्यते। वह्न्यादिषु लौकिककारणेषु विद्यमाना शक्तिर्दाहादिकार्यानुमेया इति प्राभाकरैर्निरूप्यते।[3] वैदिकस्थलेषु विधिवाक्यबलादेव तत्तत् कर्मजन्यानां स्वर्गादिफलानां जनिकाया अपूर्वात्मिकायाः शक्तेरवगमादस्याः शब्दप्रमाणगम्यत्वं प्राभाकरैः प्रतिपाद्यते।[4]

प्राभाकराणामस्य सिद्धान्तस्य विपरीतमुभयत्र लौकिकवैदिकस्थलेषु विद्यमानेषु कारणेषु शक्तेरस्तित्वं श्रुतार्थापत्त्या एव साध्यते भाट्टैः *"[5] भट्टपादमनुसरद्भिरपि नारायणपण्डितैः लौकिकी या शक्तिर्वर्तते तस्यास्तित्वं भट्टानुरूपमर्थापत्तिगम्यं संसाध्यते, परन्तु वैदिकेषु स्थलेषु यत्र भट्टपादैः श्रुतार्थापत्तेः प्रामाण्यमङ्गीकृतं तत्रैभिः "अन्या तु चोदनैकगम्या"[6] इत्यनया पङ्क्त्या वैदिकशब्दप्रमाणस्य मानत्वं संसाध्य आत्मनो विचारस्वातन्त्र्यमपि प्रकाशितम्।

शक्त्याश्रय-विवेचनम्

अपूर्वात्मिकायाः शक्तेराश्रयत्वविषयेऽपि प्राभाकरभाट्टमतयोर्मध्ये वर्तते वैलक्षण्यम्। प्राभाकरास्तावत्कर्तरि अस्यापूर्वात्मिकायाः शक्तेरुत्पत्तिमस्वीकुर्वन्तः

कर्तुः प्रयत्नजन्येषु कर्मस्वेवास्याः स्थितिं स्वीकुर्वन्ति। भाट्टाभिमते सिद्धान्ते अपूर्वात्मिका शक्तिरियं व्रीह्यादिद्रव्ये, प्रोक्षणादौ कर्मणि, कर्तरि चापि सत्त्वात्, सर्वत्र एव स्वीक्रियते। एतदेवोक्तं वार्तिके-

शक्तिः कार्यानुमेयत्वाद् यद्गतैवोपयुज्यते।
तद्गतैवाभ्युपेतव्या स्वाश्रयान्याश्रयापि वा।।[7]

भट्टपदवीमनुसरद्भिर्नारायणभट्टपादैरपि 'द्रव्यगुणकर्माश्रयाम्'[8] इत्यनेन कारिकांशेन व्याख्यया च द्रव्यगुणकर्माणि त्रिविधानि शक्तेराश्रयत्वेन मानमेयोदये निरूपितानि सन्ति।

कारणकोटौ शक्तेरङ्गीकारस्य प्रयोजनम्

प्रतिपादितस्वरूपायाः शक्तेरङ्गीकारस्य प्रयोजनं निरूपयद्भिर्मीमांसकैरुच्यते यद्द्रव्यगुणकर्मसामान्यशक्त्यभावसञ्ज्ञकेषु षड्विधेषु पदार्थेषु शक्तिपदार्थत्वेनाभिमतस्य अपूर्वस्याभावे कर्मणः त्रिक्षणावस्थायित्वाच्छरीरस्य विनाश्यत्वाच्च शुभाशुभयोः कर्मणोः फलावाप्तिरशक्या। फलावाप्तेरभावात् कर्मणि प्रवृत्तेरशक्यत्वाच्छ्रौतकर्महानिप्रसङ्गः समापतितस्यादस्य निवारणार्थमेव फलोत्पादकस्य करणस्य फलस्य च मध्ये स्वयं कारणयागजन्यत्वे सति कर्मजन्यफलजनकत्वेनोपपाद्यते इयमपूर्वाख्या शक्तिः। उक्तञ्च वार्तिके-

यागादेव फलं तद्धि शक्तिद्वारेण सिद्ध्यति।[9]

एवमेव मूषिकाघ्राणनष्टायाः शक्तेरनङ्गीकारात् स्वरूपतः विद्यमानस्यापि बीजस्याङ्कुरोत्पादनसामर्थ्याभावस्योपपत्तिं न कर्तुं शक्यते। एवमेव मणिसत्त्वे सति दाहाभावस्य मणेरपसारत्वे च दाहजननस्यापि सङ्गतिः, कारणेषु वह्न्यादिषु उत्पन्नविनाशयुक्तायाः आविर्भावतिरोभावयुक्तायाः शक्तेरस्तित्वकल्पनया विना अशक्या एव। एतदर्थं सर्वत्र कारणेषु कार्यजननयोग्यतारूपेयं शक्तिरङ्गीक्रियते मीमांसकैः।

शक्तिभेद निरूपणम्

भाट्टचिन्तामणिग्रन्थे ग्रन्थकृद्भिर्गागाभट्टमहाभागैः शक्तेः सहजा-आधेया-पदशक्तिभेदात्त्रैविध्यं प्रत्यपादि।[13] एतासु त्रिविधासु शक्तिसु यथा वह्न्यादिषु कारणेषु विद्यमाना कार्योत्पादिका सहजा शक्तिरङ्गीक्रियते तथैव 'व्रीहीभिर्यजेत' यवैर्वा इत्यादिवाक्यप्रतिपादितेषु व्रीह्यादिषु यागसाधनेष्वपि यागानुकूला सहजाशक्तिरङ्गीकार्या एव वर्तते।

आधेया शक्तिः

वह्न्यादिषु कारणेषु प्रतिबन्धकमणिसंयोगनष्टाऽपि उत्तेजकसूर्यकान्तमणेः संयोगात्पुनरुत्पद्यमाना ज्वलनरूपकार्यानुकूला सहजा शक्तिरेवाधेया शक्तिरित्युच्यते। एवमेव 'व्रीहीन्प्रोक्षति' इत्यादिषु स्थलेषु विधिवाक्यबलात्प्रोक्षणजन्याऽपूर्वोत्पादिका शक्तिरपि आधेया एव।

पदशक्तिः

घटादिपदेषु तेषामर्थबोधकत्वरूपा वृत्तिः पदशक्तिरित्युच्यते। शक्तिमतः पदस्य शाब्दबोधनिरूपितकारणत्वे नास्ति काऽपि विप्रतिपत्तिः। पदेषु विद्यमाना शक्तिरियं प्राचीनैः नैयायिकैः ईश्वरेच्छात्वेन इच्छात्वेन च नव्यनैयायिकैरङ्गीक्रियते। इच्छायाः गुणपदार्थान्तर्भावान्न पृथक्पदार्थान्तरत्वं शक्तेरुपयान्ति नैयायिकाः। तार्किकानां विपरीतं प्रत्यायकत्वेन शब्दनिष्ठायाः शक्तेः पृथक्पदार्थान्तरत्वमुपपाद्यते मीमांसकैः। एतावदेवात्र न्यायमीमांसाप्रस्थानयोर्वर्तते भेदः।

अभावस्य कारणत्वविमर्शः

न्यायवैशेषिकैः मण्यादीनां प्रतिबन्धकत्वमङ्गीकृत्य मण्यादीनां प्रतिबन्धकाभावस्यापि कारणकोटौ निवेशः क्रियते। प्राभाकराणां मते अभाव अधिकरणस्वरूप एव। एतदर्थमेतेषां नयेऽभावपदार्थ एव नास्ति। पदार्थाभावात्प्रतिबन्धकाभावस्य कारणत्वमपि न सङ्गच्छते। भाट्टमतेऽपि निराकरणमेवोपलभ्यतेऽभावकारणस्य। भट्टपादैः विहितानां कर्मणामननुष्ठानेन यस्य प्रत्यवायस्योत्पत्तिर्भवति तत्र विहितान्यकरणस्य (अभावस्य) कारणत्वं न स्वीक्रियतेऽपितु तस्मिन् समये अन्यत्कर्मानुष्ठानस्यैव प्रत्यवायहेतुत्वमेभिः प्रतिपाद्यते--

विहितं यदकुर्वंस्तु करोत्यन्यदचेतनः।
प्रत्यवायोऽस्य तेनैव नाभावेन स जन्यते।।[11]

इति वार्तिकदिशा विहिते विचारेऽभावस्य कारणत्वं निराकृतं प्रतीयते, तथापि भाट्टमते अभाव-पदार्थस्तु स्वीकृतो वर्तते। अस्योपलब्धयेऽभावात्मकमनुपलब्धिप्रमाणमपि स्वीकृतम्। अभावस्य सर्वथाऽकारणत्वेऽनुपलब्धेरप्यभावत्वादस्याभावग्राहकप्रमाणत्वमप्यनुपपन्नमेव स्यादेतदर्थं वार्तिकव्याख्याकर्तृभिर्भट्ट सोमेश्वरैरपूर्वाधिकरणे-"केवलस्य भावान्तरं विनाऽभावस्य कारणत्वं नेति

वार्तिकार्थः न त्वभावस्य कारणत्वाभाव"[12] इत्यनेन व्याख्यानेनाभावस्य वार्तिकस्थं कारणत्वनिराकरणं साक्षाद्रूपेण कारणत्वनिराकरणपरं संसाध्य परम्परया अन्येन भावपदार्थसहाय्येन सह कारणत्वं स्वीकृतमिति स्पष्टं परिलक्ष्यते।

एवञ्च कारणकोटौ शक्तेरङ्गीकारेण सहाभावस्य साक्षात्कारणत्वनिराकरण-पुरस्सरं परम्परया एव कारणत्वाङ्गीकाराद्विशिष्यते भाट्टाभिमत-कार्यकारणसन्दर्भः।

समवायतादात्म्यसम्बन्धभेदेन कार्यकारणभावभेदः

तार्किकैस्सह प्राभाकराणामप्यभिमतात्कार्यकारणसिद्धान्तादुपादान-कारणकार्ययोः सम्बन्धदृष्ट्याऽपि भिद्यते भाट्टाभिमतः कार्यकारणभावसिद्धान्तः। उपादानकारणेन सह कार्यस्य समवायसम्बन्धो यथा तार्किकैरङ्गीक्रियते तथैवायं प्राभाकराणामप्यभिमतो वर्तते। भाट्टमीमांसकानामत्र वर्तते भिन्ना दृष्टिः। तार्किकप्राभाकराणामभिमतस्य समवायसम्बन्धस्य निराकरणार्थमेभिरुच्यते –'यदपृथग्गतिमत्वमापृथगाश्रयाश्रयिभावरूपेण च इष्यते समवायसम्बन्धः,[13] परन्तु समवायस्य लक्षणमिदमवयवावयविनोरपि न घटते। अवयविनः निष्क्रियत्वेऽपि शाखादिषु अवयवेषु गतेरवलोकनात् अवयविनः गतेरभावादत्रापृथग्गतिमत्वं न सङ्गच्छते। एवमेवावयवेष्वाश्रि- तत्वादवयविनोऽवयवानामपि स्वावयवाश्रितत्वादेतेषामाश्रयाणां पार्थक्यादपृथगाश्रयाश्रयिभावलक्षणमपि समवायस्य नोपपद्यते।

मानमेयोदयकारैर्नारायणपण्डितैरपि समवायस्यास्तित्वं मानाभावे न स्वीक्रियते।[14] भाट्टमतावलम्बिभिर्मीमांसकैः प्रायः विशेषणविशेष्यभावसन्निकर्षस्य सम्बन्धत्वमेव न स्वीक्रियते अत एव अनेन सन्निकर्षेणास्य प्रत्यक्षत्वं भाट्टदृष्ट्या न सङ्गच्छते। एवमेव प्राभाकरैः प्रस्तुतं-"इह गवि गोत्वमिति प्रत्ययोऽधिकरणाधि-कर्तव्यतासम्बन्ध-निबन्धनः, इहेति प्रत्ययत्वाद्, इह घटे तण्डुला इतिवदिदमनुमानमपि" इह भूतले घटो नास्ति इत्यत्र अभावस्याधिकरणात्म-कत्वात्पृथक्तया तस्याभावादपि तस्य सम्बन्धनिबन्धनात्मकस्य साध्यस्याभावेऽपि तादृशःप्रत्ययो वर्तते तद्वत्समवायानुमानेऽपि (समवायाभावेऽपि समवाय प्रत्ययो वर्तते इति) वक्तुं शक्यत्वाद्व्यभिचारित्वान्नानुमानमपि वर्तते अनुमानसाधकम्।[15]

इत्थं समवायं निरस्य भेदाऽभेदात्मकं तादात्म्यमेवात्र सम्बन्धत्वेन संस्थाप्यते भाट्टैः। एवञ्च कार्यकारणभावसन्दर्भे तार्किकभाट्टयोः समवायतादात्म्यसम्बन्ध-भेदघटितोऽपि वर्तते सैद्धान्तिको भेदः।

न्यायवैशेषिकयोर्नययोर्मध्ये प्रपञ्चस्योत्पत्तिमहाप्रलयौ यथाऽभिमतौ तथा भाट्टप्राभाकरप्रस्थानयोर्मध्ये नाभिमतौ। खण्डप्रलयस्यास्तित्वं यद्यपि भाट्टप्राभाकराणामप्यभिमतन्तथाऽपि महाप्रलयस्यास्तित्वनिराकरणाज्जगतः स्थित्युत्पत्तिविनाशत्रैविध्याङ्गीकारादप्येतेषां 'कार्यकारणभावो' न्यायवैशेषिकाभ्याम-भिमतादारम्भवादपरिलक्षितात्कार्यकारणभावात् भिन्न एव परिलक्ष्यते।

सन्दर्भाः

1. औत्पत्तिकसूत्रे शून्यवादे 'तद्भावभावितामात्रं' इत्यतः पृष्ठ सङ्ख्या-401, पर्यन्तम्। मीमांसा श्लोकवार्तिकम्, 398-401
   कामेश्वरसिंह दरभङ्गा संस्कृतविश्वविद्यालयः, दरभङ्गा, 1979
2. देशकालनिमित्तानि, मी०श्लो०वा०, 428
3. सर्वभावानां शक्तिरदृष्टस्वलक्षणापि कार्येणानुमीयते। प्रकरणपञ्चिका पृ०-218
   काशी हिन्दू विश्वविद्यालयः वाराणसी, 1961
4. तस्मान्नियोज्यसमन्धसमर्थ कालान्तरस्थायि कार्यं क्रियातिरिक्तं लिङादिभिरेवोच्यते.... ....प्रकरण-पञ्चिका पृ०-440
5. 'श्रुतार्थापत्तिरेवैका प्रमाणं तस्य वर्तते' तन्त्रवार्तिकम् अजिता द्वितीयो भागः पृ०-43, गङ्गानाथझाकेन्द्रीय-विद्यापीठम्, प्रयागः, 1980। श्रुतार्थापत्तिर्विज्ञेयां शक्तिमाहुः कुमारिलाः।। मानमेयोदयः पृ०-246 चौखम्बा-विद्याभवनं, वाराणसी, 1996
6. अन्या तु चोदनैकगम्या-मा०मे०पृ०-246 पङ्क्तिसङ्ख्या-02
7. शक्तिकार्यानुमेयत्वाद् तन्त्रवार्तिकम् अजिता द्वि०भागः, पृ० 49
8. 'द्रव्यगुणमकर्माश्रयाम्' मान-मेयो० कारिका 41, पृ० 246,
9. यागोदेव फलं तन्त्रवार्तिकम्, अजिता द्वि० भागः पृ० 44.
10. शक्तिस्त्रिधा। सहजाऽऽधेया पदशक्तिश्चेति। भाट्टचिन्तामणि, पृ० 17 चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस-वाराणसी, सं० 1933.
11. उद्धृतं, मीमांशाकुतूहलम् पृ० 21, सम्पूर्णानन्द संस्कृत वि० वि० वाराणसी 1987.
12. उद्धृतं-मीमांसाकुतूहलम् पृ० 21.
13. द्रष्टव्यं प्रकरणपञ्चिकाया व्याख्यानं, प्रकाणपञ्चिका पृ० 91.
14. विशेषसमवायौ तु शशविषाणसब्रह्मचारिणौ, तत्सिद्धौ प्रमाणाभावः मानमेयोदयः, पृ० 271
15. मानमेयोदयः, पृ० 272-273

3
भाट्टसम्प्रदाये प्रस्थानभेदाः

वेदानां कर्मण्येव तात्पर्यावधारणाय जैमिनिमहर्षिभिः सङ्कलिते मीमांसाशास्त्रे शब्दनित्यत्ववेदाऽपौरुषेयत्वप्रामाण्यादिषु विषयेषु अन्यवादिसिद्धान्तवैभिन्यं यथा वर्तते तथैव नानावादिप्रभाववशादत्रान्तरिकमपि मतवैभिन्यं सुतरां चकासते।

विविधवादिभिः सह विचारभेदेषु धृताकारेऽस्मिन् दर्शने भट्टप्रभाकर-मिश्रवर्येषु ये हि सिद्धान्तभेदा तेषु भृशं पार्थक्यवशादेभिः प्रातिपादितानां सिद्धान्तभेदानां सम्प्रदायभेदेन प्रकाशितं वर्गीकरणं सुधीभिः। भट्टप्रभाकरमिश्रमतैः गुम्फितायां सिद्धान्तमालिकायां यथा विराजन्ते राद्धान्तवैविध्यप्रकाशकानि विविधानि विचारप्रसूनानि तथैव मीमांसायाः प्रथमस्थाने स्थापनीये भाट्टमतेऽपि केषुचिद्विचारबिन्दुषु वैषम्यं दृग्गोचरी भवत्येव।

एकस्मिन्नेव भाट्टप्रघट्टे मीमांसकेषु यथाकथञ्चिदनुभूयमानान् विचारभेद-दृष्टिभेदान्वाङ्गीकृत्य राद्धान्तानामेतेषामान्तरिके वैषम्येऽपि सम्प्रदायस्य मूलभावनया सहाविरोधादेतेषां विचारभेदानां प्रस्थानभेदसञ्ज्ञया विधातुं शक्यते प्रख्यापनम्।

सम्प्रदाय भेदः-मीमांसानये सम्प्रदायभेदेन विद्यमानेषु सिद्धान्तेषु प्राथम्येन विराजन्त इमे विचारबिन्दवः। अध्ययनविधिविध्यर्थनिर्णयकर्मप्रवृत्तिसङ्गतिशाब्द-बोधशब्दप्रामाण्यज्ञानप्रामाण्याभावविषयेषु नितरां परस्परं विप्रतिपद्यन्ते मीमांसासम्प्रदायाः।

अध्ययनविधौ सम्प्रदायभेदः-वेदमात्रस्य धर्मज्ञानप्रतिपादकत्वान्निखि-लाङ्गोपाङ्गसमन्वितस्य चातुर्विध्यमुपगतस्य च निखिलस्य वेदस्याध्ययनस्या-शक्यतया स्ववेदान्तर्गतायाः शाखायाः गुरुमुखोच्चारणानुच्चारणात्मकमध्ययनं प्रतिपाद्यते 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य'[1] इत्यनेन विधिना। प्राभाकरभाट्टमतयोरत्र वर्तते विचारभेदः। गुरुमते अध्ययनविधिप्रतिपादितस्याध्ययनस्य अध्ययनविधिसन्निधौ पठितेन 'तमध्यापयीत'[2] इत्यनेनाध्यापनविधिप्रयुक्तत्वं निराकृत्य स्वाध्यायविधिनैव

अध्ययनस्य प्रयुक्तत्वं प्रतिपाद्यते भाट्टैः। एवमेव गुरुमते अध्ययनकरणिकाया भावनायाः साध्यत्वेन स्वाध्यायस्य भाव्यत्वेन वा क्रियते प्रतिपादनम्। एतद्विपरीतं भाट्टनयेऽर्थज्ञानमेवाध्ययनविधेः भाव्यत्वेन स्वीक्रियते।

विध्यर्थनिर्णये सम्प्रदायभेदः-धर्मविचाराय प्रवृत्तेऽस्मिन् मीमांसा-दर्शने विधिवाक्यानामेव साक्षाद्धर्मप्रतिपादकत्वं सूत्रकारप्रणीतेन चोदनासूत्रेणैव प्रतिपादनाद्यद्यपि नास्त्यत्र काऽपि विप्रतिपत्तिस्तथापि केनार्थेन संयुक्तोऽयं विधिः धर्ममाविष्करोतीत्यत्र विध्यर्थनिर्णये प्राभाकरभाट्टप्रस्थानयोर्वर्तते भृशं पार्थक्यम्।

अत्र प्राभाकरैः नियोगापरपर्यायं फलावाप्तिपर्यन्तावस्थितमपूर्वात्मकं तत्तत्क्रियानिष्ठं कार्यताज्ञानमेव लिङर्थत्वेन विध्यर्थत्वेन वा प्रतिपाद्यते[3]। लौकिकवाक्येष्वपूर्वस्याशक्यतया विधायकवाक्यानामगत्या क्रियात्मकत्वमेवानुमन्यते कार्यताज्ञानमेभिः[4]। भट्टपादैस्तावद् '**अभिधा भावनामाहुरित्यनेन** वार्तिकेन पुरुषप्रवृत्त्यनुकूलत्वेन शाब्दीभावनापरपर्यायस्य लिङ्निष्ठस्य शब्दनिष्ठप्रवर्त्तनात्मकस्य च व्यापारविशेषस्य विध्यर्थत्वं निरूप्यते।[5]

कर्मप्रवृत्तिसङ्गतौ सम्प्रदायभेदः- कार्यत्वेन प्रवर्तनात्मकेन वा व्यापारेण विधिप्रतिपादितेषु नित्याग्निहोत्रात्मकेषु नित्यकर्मसु पृथक् इष्ट्यादिनैमित्तिकेषु च अनुष्ठितेषु न फलप्राप्तिरननुष्ठितेषु च प्रत्यवायापत्तिरिति सर्वत्र वेदप्रतिपाद्यत्वेन कर्त्रव्यबुद्ध्या स्वीक्रियते प्रवृत्रिरुभयत्र किं बहुना दर्शपूर्णमासादिष्वपि येषां कृते प्रवर्तन्ते विधयः, तेषां सर्वेषां स्वाधिकारनिरूपितेषु कर्मसु 'मयेदमवश्यं करणीयम्' इति कर्त्तव्यभावनया एवं प्रतिपाद्यते प्रवृत्तिसङ्गतिगुरुमतावलम्बिभिः। अस्मात्सर्वथा वैपरीत्यमुद्वहद्भिर्भाट्टैर्यथा काम्यकर्मसु फलभावनया एव प्रतिपाद्यते प्रवृत्तिसङ्गतिः।[6]

शब्दप्रामाण्यशाब्दबोधप्रक्रियासु सम्प्रदायभेदः- यत्र प्राभाकरैः प्रमादाप्रामाण्याज्ञानादीनां पुरुषनिष्ठदोषाणां लौकिकवाक्येषु सम्भावनया प्रापाण्यं निराकृत्य वैदिकवाक्यात्मकानां शब्दानामेव स्वीक्रियते प्रामाण्यं, तत्र भाट्टमते लौकिकवैदिकयोरुभयोरपि शब्दयोः प्रामाण्यमभिमतं दृश्यते। शब्दप्रामाण्यवत् शाब्दबोधप्रक्रियायामपि विप्रतिपद्यन्ते परस्परं भाट्टप्राभाकराः।

प्राभाकरैस्तावत्घटमानयेत्यादिषु वाक्येषु घटानयनादिपदार्थेषु पृथक्तया शक्तिं निराकृत्य आनयनादिक्रियासमन्वितस्य घटादीनां परिज्ञानस्याङ्गीकारात्समन्वितानामेव पदार्थानां वाक्यार्थत्वमङ्गीक्रियते। अयमेव प्राभाकराणां प्रथितचरोऽन्विताभिधानवादसाकः सिद्धान्तः। सिद्धान्तेऽस्मिन् वेदस्थलेषु

नियोगापरपर्यायेणापूर्वेण सह समन्वितानां पदार्थानां वाक्यार्थत्वं प्रतिपाद्यते। लौकिकस्थलेषु अपूर्वस्याभावादगत्या क्रियान्वितानामेव पदार्थानामङ्गीक्रियते वाक्यार्थत्वम्।

भट्टपादैस्तु '**विशेष्यं नाभिधागच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे**'[7] इत्यस्य वार्तिकस्यानुरोधात् पदानां पदार्थाभिधेयत्वमेवाङ्गीकृत्याभिहितानां पदार्थानाञ्चाकाङ्क्षायोग्यतासन्निधिबलाल्लक्षणया एवाङ्गीक्रियते वाक्यार्थप्रतीतिः। एवमेव ज्ञानप्रामाण्याभावादिष्वपि भाट्टप्राभाकरयोरुपलभ्यते विचारभेदः। पत्रस्यास्य भाट्टप्रस्थानपरिसीमिततयात्र विस्तरभयादेतेषामुल्लेखमात्रेणैवालं मन्ये।

भाट्टमते प्रस्थानभेदाः-भाट्टमीमांसायां समानेऽपि सम्प्रदाये महत्त्वपूर्णानां वेदार्थसमन्वयकसिद्धान्तानां प्रतिपादनप्रक्रियायां परस्परभेदमुद्वहन्तः प्रकाशन्ते नैके प्रस्थानभेदाः। एतेषु मण्डनमिश्रपार्थसारथिमिश्रगागाभट्टप्रभृतीनां मीमांसकानां-विविधविचारप्रसङ्गेषु विचारस्वातन्त्र्यमूलकानि विराजन्ते नूतनप्रस्थानानि। अत्र वर्णनीयेषु विषयेषु अध्ययनविधिविध्यर्थप्रामाण्यवादविषयाः नितरां प्रामुख्यं भजन्ते।

अध्ययनविधेरर्थनिर्णये प्रस्थानभेदाः-भाट्टकुलावतंसैर्विश्वेश्वरभट्टापरनामधेयैर्गागाभट्टैस्तावत्स्वाध्यायोऽध्येतव्य' इति वाक्यबोधिताया भावनाया भाव्यस्य फलस्य वा निरूपणावसरे स्वाभिमतप्रकाशनात्प्राक् प्रदर्शिताः प्रस्थानभेदविभूषितास्त्रयः पक्षाः।

1. अत्र कैश्चिद् भाट्टप्रघट्टान्तर्भूतैरपि सर्वजनाभिलषणीयतया स्वर्गस्यैव 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य' इति वाक्यनिरूपितः भावनाभाव्यत्वं प्रतिपाद्यते।[8]
2. अन्यैरेकदेशीयैरत्राक्षरग्रहणस्यैवाध्ययनभावना भाव्यत्वं निरूप्यते।
3. तृतीयः पक्षस्तावद् गागाभट्टैः स्वपितृचरणानां दिनकरभट्टानां प्रदर्शितः। एतेषां मते 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य' इत्यत्र अध्येतव्य इति पदं तव्यप्रत्ययान्तम्। अत्र कर्मणि तव्यप्रत्ययस्य वर्तते विधानमेतदर्थमनेन कर्मबोधकेन फलबोधकेन वा तव्यप्रत्ययान्तेन अध्येतव्यपदेन सहैव स्वाध्यायस्य विधानादेकवाक्यतया स्वाध्यायस्यैव अध्ययनभावनाभाव्यत्वेमेभिः प्रतिपादितम्।'

अस्मिन् मतत्रये द्वयोर्मतयोः कण्ठतः निराकरणमुपलभ्यते भाट्टचिन्तामणौ। प्रथमपक्षस्य स्वर्गफलस्यादृष्टत्वादस्यासमीचीनत्वमत्र प्रकाशितम्।[10]

द्वितीयेऽक्षरग्रहणस्य भाव्यत्वाङ्गीकारे पक्षे यद्यप्यदृष्टार्थकत्वं नास्ति तथाप्यक्षरग्रहणस्यापुरुषार्थकत्वादस्य वर्तते वैय्यर्थम्।[11] स्वाध्यायस्य भाव्यात्मकत्वे तृतीये पक्षेऽर्थज्ञानस्य स्वाध्यायजन्यत्वात्पुरुषार्थकत्वेन सह दृष्टार्थकत्वमप्यत्र सुस्थिरं, तथाप्यस्मिन्पक्षे पुरुषार्थरूपस्यार्थज्ञानस्योपसर्जनतयोपस्थितेरत्रास्वारस्यम् 'इत्याहुः' पदेन प्रकाश्य विधेरर्थज्ञानमेव भाव्यत्वेन विशदीकृतं गागाभट्टवर्यैः। स्वाध्यायविधिनिरूपितभाव्यत्वे विचारभेदेऽपि स्वाध्यायविधेर्गरीयस्त्वं सर्वेषामभिमतमिति मन्ये सम्प्रदायाभिन्नत्वमेतेषाम्।

विध्यर्थनिर्णये प्रस्थानवैभिन्यम्- चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म[12] इत्यस्माज्जैमिनिसूत्राद्धर्मस्य साक्षाद्रूपेण वैधिमात्रगम्यत्वे यद्यपि नास्ति वैमत्यं मीमांसकानां, तथापि विधिरयं केनार्थेन विभूषितः कर्मप्रवृत्तिप्रवर्तनात्मकत्वमात्मनः प्रकटीकरोतीत्यत्र विप्रतिपद्यन्ते भाट्टसम्प्रदायानुयायिनो मीमांसकाः।

विध्यर्थे कौमारिलं मतम् :- भाट्टसम्प्रदायप्रवर्तकैः कुमारिलैस्तावद् '**अभिधाभावनामाहुरित्यनेन** वार्तिकांशेन' 'भावना' विध्यर्थत्वेन प्रकाशिता। विवरणमपि स्वयमेवास्य वार्तिकांशस्य प्रकाशितं-'तत्रार्थात्मिकायां भावनायां लिङादि-शब्दानां यः पुरुषं प्रति प्रयोजकव्यापारः सा द्वितीया शब्दधर्मोऽभिधात्मिका भावना विधिरित्युच्यते।[13] अनेन विवरणेन ज्ञायते यद् पुरुषप्रयोजकव्यापार-धर्मात्मिका भावना एव कुमारिलाभिमतो विध्यर्थः।

विध्यर्थे राणकमतम् :- तन्त्रवार्तिकव्याख्याकारैः राणक इत्युपाधिना प्रसिद्धिमवाप्नुवद्भिर्भट्टसोमेश्वरैरत्र प्रवर्तनासामान्यमेव विध्यर्थत्वेनाङ्गीक्रियते। 'अपौरुषेयेवेदे' शब्दनिष्ठो यः प्रेरणापरपर्यायः शब्दव्यापारः स एव शाब्दीभावनात्मकः प्रवर्तनात्वेन रूपेणैभिः प्रकाश्यते विध्यर्थः। इष्टसाधनत्वस्य विध्यर्थत्वनिराकरणाय इमे वदन्ति यद् इष्टसाधनत्वस्य विध्यर्थत्वे 'इष्टसाधनमिति' शब्दस्य विधिशब्दः पर्यायः स्यात्। न च पर्यायत्वं युज्यते। '**सन्ध्योपासनं ते इष्टसाधनं तस्मात्तत् त्वं कुरू**' इति पर्यायाणां सहप्रयोगाशक्यत्वात् समीचीनमप्येतद्वाक्यमसमीचीनतायां कौटो प्रक्षिप्तं स्यादेतदर्थं प्रेरणापरपर्यायस्य शब्दव्यापारस्यैव विध्यर्थत्वान्नेष्टसाधनत्वं विध्यर्थः।[14]

पार्थसारथिमिश्रमते विध्यर्थस्वरूपम् :- इष्टसाधनत्वविरहितस्य प्रवर्तनात्मकस्यालौकिकशब्दव्यापारस्य विध्यर्थत्वं न रोचते पार्थसारथिमिश्रेभ्यः। यद्यपि प्रवर्तनायाः विध्यर्थत्वाङ्गीकारे वर्तते एतेषामपि सम्मतिस्तथापीष्टसाधनता

विरहितायाः प्रवर्तनायाः विध्यर्थत्वमेतेषां नाभिमतम्। एभिस्तावदिष्टसाधनत्वस्यैव प्रवर्तनात्वेन रूपेण विध्यर्थत्वमङ्गीक्रियते। सन्ध्योपासनं त इष्टसाधनं तस्मात्तत्त्वं कुरू इत्यत्रोक्तशङ्कायाः समाधानार्थमेभिरुच्यते यत् सामान्यविशेषधर्माविच्छिन्नत्र्योः पदयोः सहप्रयोगे नास्ति काप्यापत्तिः। 'पाञ्चालराजो द्रुपद'इत्यत्र यथा पाञ्चालराज इति सामान्यस्य 'द्रुपद' इति विशेषस्य च सहप्रयोगे नास्ति कापि विप्रतिपत्तिस्तथैवात्रापि इष्टसाधनत्वस्य विशेषतया प्रवर्तनायाश्च सामान्यतया प्रतिपादनादेतयोः नास्ति कापि विप्रतिपत्तिः। सर्वत्र व्यक्तेः स्वतः प्रवृत्तौ परतः प्रवृत्तौ वा इष्टसाधनत्वस्यैवानुसन्धानात् प्रवर्त्तनात्वेनेष्टसाधनत्वमेव वर्तते विध्यर्थः।[15]

मण्डनमिश्राभिमतं विध्यर्थस्वरूपम्-मीमांसादर्शनस्य भाट्टमतावलम्बनं कुर्वद्भिरपि मण्डनमिश्रवर्यैः बहुषु स्थलेषु विचारस्वातन्त्र्यं प्रकाशितम्। विध्यर्थविचारस्थले इष्टसाधनत्वमेव विध्यर्थत्वेनैभिः प्रस्थापितम्। तार्किकैस्तावदिष्टसाधनत्वकृतिसाध्यत्वबलवदनिष्टाननुबन्धित्वेषु त्रितयेषु लिङ्निरूपितां शक्तिमङ्गीकृत्य त्रयाणामेव लिङर्थत्वं विध्यर्थत्वं वा प्रतिपाद्यते। मण्डनमिश्रैस्तावदत्रेष्टसाधनत्वातिरिक्तयोः कृतिसाध्यत्वबलवदनिष्टाननुबन्धित्वयोः विध्यर्थत्वस्य निराकरणार्थं प्रस्तूयेते द्वाविमौ तर्कौ

1. यागादेः कृतिसाध्यताज्ञानं लोकव्यवहारेणैव सिद्धम्। कृतिसाध्यतारहितेषु कर्मसु विदुषां प्रवृत्तेरदर्शनाद्दर्शनाच्च कृतिसाध्येष्वेव कर्मसु, शब्दार्थस्य चानन्यलभ्यत्वनियमाद् व्यवहारसिद्धस्य कृति-साध्यताज्ञानस्य न स्याद्विध्यर्थत्वम्।
2. एवमेव बलवदनिष्टाननुबन्धित्वज्ञानस्य द्वेषापरपर्यायस्यानिष्टस्या-भावज्ञानजनकत्वात्प्रवृत्तावन्यथासिद्धत्वाच्च विध्यर्थत्वेनाङ्गीकर्तुम-शक्यत्वादिष्टसाधनत्वमेव विध्यर्थः।[16]

यागदानक्रियासु इष्टाभ्युपायत्वादन्यः प्रवर्तको नास्ति। प्रवृत्तिहेतुभूतो यो धर्मः स एव प्रर्वत्तना इति जना वदन्ति। इत्यर्थप्रतिपादकेन 'पुंसां नेष्टाभ्युपायादि'[17] पद्येनेष्टसाधनत्वस्यैव प्रवर्तनात्वमेतेषामभिमतम्।

पार्थसारथिमिश्रमते प्रवर्तनात्वेनेष्टसाधनत्वमिष्टमित्यत्रोभयोः प्रवर्तनात्वेष्टसाधनत्वयोः पृथक्तया जायते भानम्। मण्डनमिश्रमते इष्टसाधनत्वस्यैव प्रवर्तनात्वाङ्गीकारादपृथक्तयोभयोरत्र तादात्म्यं प्रतीयते। अयमेव वर्तते मतयोरुभयोरांशिको भेद इति।

विश्वेश्वरभट्टानां समन्वयात्मिका दृष्टिः– तत्त्वचिन्तनप्रसङ्गे भाट्टमतैस्सह तार्किकाणां यादृशो विरोधस्तादृशः प्राभाकरैस्सह नैव प्रतीयते। 'समवायस्य' पृथक्तया पदार्थत्वे, द्रव्याणां नवसङ्ख्यापरिमितत्वे शब्दस्य च गुणत्वे प्राभाकर-नैयायिकयोः सदृशी एव प्रकाशते विचारसरणिः परन्तु भाट्टनैयायिकयोर्नास्त्यत्र विचारसाम्यम्। येष्वपि स्थलेषु 'अयुतसिद्धसम्बन्धत्वेन नैयायिकैः समवायसम्बन्धः प्रदर्शितः तत्र भेदसहिष्णुतया तादात्म्यसम्बन्धः प्रतिपाद्यते भाट्टैः[18]। समवायस्य पृथक्पदार्थत्वं नैयायिकैः स्थापितम्। भाट्टैरत्र द्रव्यगुणयोः तादात्म्यसम्बन्धे द्रव्ये द्रव्यरूपेण तादात्म्यस्य सत्त्वात् गुणे गुणरूपेण चान्तर्भावादस्य मन्ये पृथक्पदार्थत्वं तादात्म्यस्य भाट्टैर्नैव प्रतिपादितम्। द्रव्याणामपि नवसङ्ख्यापरिमितत्वे भिद्यते नैयायिकेभ्यो भाट्टदृष्टिः। शब्दतमसोरपि द्रव्यत्वाङ्गीकाराद्देकादशधाऽभिमतं द्रव्यत्वं भाट्टसरण्याम्[19]। शब्दसन्दर्भेऽपि न्यायप्रभाकरमतानुरूपं शब्दस्य गुणत्वं निरस्य शब्दस्य द्रव्यत्वमेव स्थापितं भाट्टैः।[20]

तत्त्वमीमांसायां विचारितेषु स्थलेषु यादृशो वर्तते भाट्टनैयायिकयोर्विचारभेदः, ज्ञानप्रामाण्यस्थलेऽपि तादृश एवोपलभ्यते। भाट्टैस्तावद् सर्वेषामेव ज्ञानानां स्वतः प्रामाण्यमङ्गीक्रियते[21]। नैयायिकैस्तु परत एव स्वीक्रियते ज्ञानानां प्रामाण्यम्।[22]

भाट्टचिन्तामणिकाराः विश्वेश्वरभट्टवर्याः यद्यपि भाट्टपरम्पराभिमानिनस्तथापि बहुषु स्थलेषु एतेषां विचारदृष्टिः न्यायदर्शनप्रभावभाविता परिलक्ष्यते। भाट्टमीमांसाप्रतिपाद्यविषयाणां न्यायप्रतिपादितैर्विषयैः सह समन्वयार्थमिमे बद्धपरिकरा इति स्पष्टं प्रतीयते। न केवलं प्रतिपाद्यविषयाणां प्रकाशनार्थमेभिः न्यायपरम्पराप्रसिद्धया नव्यन्यायशैलीसमन्वितया भाषयोपनिबद्धं भाट्टचिन्तामणि-ग्रन्थरत्नमपितु प्रतिपाद्येष्वपि यत्रापि शक्यं तत्रात्मनः प्रकाशिता समन्वयात्मिका दृष्टिः।

1. सन्निकर्षस्थेलषु यथा नैयायिकैः संयुक्तसमवायसंयुक्तसमवेत समवाययोः प्रतिपादनं कृतं तादृशम् एभिरपि स्वग्रन्थे प्रकाशितम्।[23]
2. नैयायिकैर्यथा समवायस्य पदार्थान्तरत्वमङ्गीकृतं तथैव एभिरपि पदार्थगणनायां समवायस्योल्लेखात् स्वीकृतं प्रतीयते।[24]
3. अलौकिकसन्निकर्षस्थले भाट्टेषु योगजसन्निकर्षस्य निराकरणात् सामान्यलक्षणाज्ञानलक्षणयोरनुल्लेखाच्चालौकिकसन्निकर्षाणामस्तित्वमेवात्र नाभिमतमिति प्रतीयते। यद्यपि योगजसन्निकर्षस्य गागाभट्टैरपि निराकरणं

कृतं वर्तते,[25] तथापि सामान्यलक्षणा[26]ज्ञानलक्षणाङ्गीकारे[27] नैयायिकैः सहैतेषां प्रतीयते विचारसाम्यम्।

एतेषु स्थेलषु भाट्टचिन्तामणिकारैर्यद्यपि न्यायपक्षपातित्वं प्रकटीकृतं तथाप्यात्मनो भाट्टानुयायित्वमपि रक्षितम्। भाट्टानां विचार्यमाणेषु विषयेषु मौलिकभूतं यद्वेदापौरुषेयं, तत्र न्यायमतं निरस्य भाट्टमतमेव स्थापितम्।

भाट्टपरम्परायां विचारितेष्वन्येष्वपि शब्दनित्यत्वशब्दद्रव्यत्वादिषु स्थलेषु भाट्टसम्प्रदायानुरूपमेव स्वाभिमतं स्थापितम्।

सन्निकर्षस्थले यद्यपि तादात्म्यस्य स्थाने समवायस्योल्लेखात् तार्किकमतमुररीकृतं तथापि न्यायाभिमतमयुतसिद्धसम्बन्धः समवाय इति लक्षणं निरस्य भाट्टैर्यत्तादात्म्यस्य भेदसहिष्णुसम्बन्धो भेदाऽभेदसम्बन्धोवेति लक्षणमङ्गीक्रियते, तदेवात्र समवायस्य लक्षणत्वेन स्थापितम्[28]। शब्दस्तावन्नैयायिकानामर्थस्तु मीमांसाकानामेव प्रतिपादनादत्रापि प्रदर्शिता समन्वयात्मिका दष्टिः।

स्वतःप्रामाण्यवादस्य सिद्धान्तोऽपि भाट्टैर्वेदाऽपौरुषेयत्वस्य रक्षणार्थमेवाङ्गीकृत इत्यनया प्रतिपत्त्या वेदज्ञानस्य प्रामाण्यमङ्गीकृत्य परम्परा रक्षिताऽन्येषां ज्ञानानां परतःप्रामाण्याङ्गीकारान्न्यायमतमपि सम्मानितम्[29]। भाट्टपरम्परायामपि संस्थापितां न्यायभाट्टसिद्धान्तसमन्वयप्रस्थानम्।

यद्यप्युभयत्र न्यायदर्शने भाट्टमीमांसायाञ्च समन्वयस्य महत्तरं कार्यमेभिस्साधितं तथाप्यस्यां दिशायां प्रवृत्तानामेतेषां सिद्धान्तप्रतिपादनेषु क्वचित् स्खलितमपि स्पष्टं प्रतीयते :-(1) सन्निकर्षस्थले तादत्म्यस्वरूपेणाङ्गीकृतस्य समवायस्य पदार्थगणनायां पृथक्तया ग्रहणं सर्वथानावश्यकमत एवात्र कल्पनागौरवदूषणं स्पष्टमेव। (2) एवमेव प्रामाण्यवादे वेदानां स्वतःप्रामाण्यमन्येषां ज्ञानानां परतः प्रामाण्यवादस्थापनयापि ज्ञानमात्रस्य यत्स्वाभाविकं प्रामाण्यं कुमारिलभट्टपार्थसारथ्यादिभिः स्थापितं तद्विच्छिद्यते। वेदमात्रस्य स्वतः प्रामाण्याङ्गीकारेण वेदत्वेनैव ज्ञानस्य प्रामाण्याङ्गीकाराद् ज्ञानप्रामाण्यस्य स्वतस्त्वमेव विलुप्तं प्रतीयते। (3) सामान्यलक्षणाङ्गीकारप्रसङ्गे एकस्मिन् व्यक्तौ गृहीतायामपि शक्तौ तदतिरिक्तेषु शक्तिग्रहार्थमप्यस्याः प्रत्यासत्तेरनिवार्यत्वं प्रतिपादयद्भिरेभिः प्रातिपदिकार्थनिरूपणप्रसङ्गे स्वप्रतिपादितः जातिशक्तिवादसिद्धान्तो विस्मृत इति प्रतीयते।

सत्स्वप्येतेषु दोषेषु-'न हि सद्वर्त्मना गच्छन् स्खलितेष्वप्यपोद्यते। इति

वार्तिकप्रकाशितायां दिशि विहिते मूल्याङ्कने भट्टवर्याणां विश्वेश्वरभट्टानां समन्वयप्रस्थानं नूनं। भाट्टपरम्परायां नूतनमवदानमित्यपि सुवचमेव।

निष्कर्ष-मीमांसादर्शनस्य भाट्टप्राभाकरमिश्रमतभिन्नेषु विविधेषु सम्प्रदायेषु भाट्टसम्प्रदायेऽपि विचारभिन्नतया प्रकाशितेषु प्रस्थानभेदेषु वा सर्वत्राम्नायस्य क्रियार्थत्वप्रतिपादनघटितमभिन्नत्वं, वेदप्रतिपादितस्य कर्मणः सङ्गतये एव सर्वेषां युक्तिनैपुण्यप्रकर्षस्य च प्रकाशनात् समेषां मीमांसकानां युक्तिप्रदर्शनभेदेऽपि लक्ष्यस्याभिन्नत्वमेव विराजते।

सन्दर्भ

1. श० ब्रा० 11.5.7.2, तैत्तरीयं आरण्यकं 2/15
2. द्रष्टव्या विशेष-टिप्पणी, प्रकरणपञ्चिका पृ०-25 का०हि०वि०वि० 1961
3. कार्यमेव हि सर्वत्र प्रवृत्तावेककारणम्। प्रवृत्त्यव्यभिचारित्वाल्लिङाद्यर्थोऽवधार्यते।। स एव पृ०-34
4. लिङादियुक्तलौकिकवाक्यस्य च लक्षणयाऽऽनयनादिरूपकार्यान्वितबोधकत्वम्। भाट्टचिन्तामणि पृ०-62 चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 1933
5. "अभिधाभावनामाहुः" तन्त्रवार्तिकम् अजिता, पृ०-18 गङ्गानाथ झा केन्द्रीय विद्यापीठम्, प्रयागः, 1980
6. मीमांसापरिभाषा, पृ०-103 कृष्णदास-अकादमी, वाराणसी, 1987
7. मीमांसान्यायप्रकाश पृ०-79 श्रीलाल बहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठम्, नव दिल्ली, 7, 1983
8. स स्वर्गः स्यात् सर्वान्प्रत्यविशिष्टत्वात् जैमिनिसूत्रं 4.3.15
9. 'कर्मार्थकतव्यप्रत्ययस्तु सम्बन्धमात्रे लाक्षणिकः भाट्टचिन्तामणि पृ०-20
10. स्वर्गार्थत्वमिति चेन्न अदृष्टार्थत्वापत्तेः' वही० पृ०-2
11. 'नाप्यक्षरग्रहणम्। पुरुषार्थाननुबन्धित्वात्' भा०चि०पृ०-2
12. जैमिनिसूत्रम् 1.1.2
13. अजिता (तन्त्रवार्तिकम्) द्वितीयोभाग० पृ०-18 गङ्गानाथझा के०सं०वि० प्रयागः, 1990
14. यत्तु इष्टसाधनत्वं विध्यर्थ इति, तन्न। तथा सति इष्टसाधनमिति शब्दस्य विधिशब्दः पर्यायः स्यात्। न च पर्यायत्वं युज्यते। मीमांसान्यायप्रकाशः पृ०-286
15. मीमांसान्यायप्रकाश पृ०-294
16. भाट्टचिन्तामणि पृ०-88 पङ्क्ति 19 से 21
17. पुंसं नेष्टाभ्युपायत्वात्क्रियास्वन्यः प्रवर्तकः। प्रवृत्तिहेतुं धर्मं च प्रवदन्ति प्रवर्तना।। विधिविवेक, मी०न्या० प्रकाशे पृ०-295

18. 'भेदाभेदसहमन्योन्याभावविरोधी तादात्म्यम्।' विवरणप्रमेयसङ्ग्रहः पृ०-44 अच्युत ग्रन्थ मालाकार्यलयः वाराणसी, 1975
19. तन्त्रसिद्धान्तरत्नावली पृ०-170, काशीहिन्दू विश्व विद्यालयः, वाराणसी, 1944
20. 'तत्रापि कर्मवत्वेन द्रव्यत्वानुमानम्।' भाट्टचिन्तामणि, पृ०-16 पङ्क्ति-19
21. 'स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम्। न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन शक्यते।। श्लोकवार्त्तिकम् सं०-47
22. अथैवमप्यप्रामाण्यं परतस्तर्हि प्रामाण्यमपि परत एव गृह्यताम्।' तर्कभाषा पृ०-244, चौखम्बासुरभारती प्रकाशनम्, 1990
23. सन्निकर्षश्च संयोगः संयुक्तसमवायः संयुक्तसमवेतसमवायश्चेति।' भाट्टचिन्तामणिः पृ०-16
24. 'एवञ्च द्रव्यगुणकर्मसामान्यसमवायशक्त्यभावाः सप्तपदार्थाः।' भाट्टचिन्तामणिः पृ०-17 पं० 28
25. तद्योगिषु मानाभावेनासुन्दरम्। न चेतिहासपुराणादिमानम्। तस्यान्यतात्पर्यकत्वदिति दिक्। भाट्टचिन्तामणि पृ०-23
26. भाट्टचिन्तामणि पृ०-23
27. भाट्टचिन्तामणिः पृ०-23 पं० 08
28. 'न त्वयुतसिद्धसम्बन्धः सः। युतसिद्धेर्वक्तुमशक्यत्वात्।' भाट्टचिन्तामणिः पृ०-18
29. भाट्टचिन्तामणि, पृ०-15 पं० 02-08
30. श्लोकवार्त्तिकम् वार्त्तिक 07 पृ०-04 ताराप्रकाशनं, वाराणसी, 1978

4
भाट्टनये प्रामाण्यवादः

भारतीयदर्शनेषु स्वप्रमेयसिद्ध्यर्थं प्रमाणानां सर्वैरपि प्राथम्यमङ्गीकृतम्। दर्शनसम्प्रदायेषु न केवलं प्रमाणानां सङ्ख्यास्वरूपविषये पार्थक्यमुपलभ्यतेऽपितु प्रमाणजन्यं याथार्थ्यलक्षणं प्रमात्वात्मकं यत्प्रामाण्यं वर्तते ज्ञानस्य, तस्य प्रामाण्यस्य, तस्य स्वतस्त्वपरतस्त्वनिर्णयेऽपि एतेषु सम्प्रदायेषु पर्याप्तं वैभिन्यं बुद्धिपथं समायाति।

ज्ञानस्य प्रामाण्यमप्रामाण्यं वा, उभयत्र, स्वतस्त्वमेवाङ्गीक्रियते साङ्ख्यैः।[1] न्यायनये वैशेषिकमते च उभयत्र परतस्त्वं स्वीक्रियते।[2] बौद्धानामेकदेशिनां मते अप्रामाण्यस्य स्वतस्त्वं प्रामाण्यस्य च परतस्त्वमभिमतम्।[3] एभिः सिद्धान्तैर्वैरीत्यमुद्वहतां भाट्टमीमांसकानां विचारसरणौ प्रामाण्यमेव स्वतो निश्चीयते। अप्रामाण्यस्य निश्चयस्तावदेभिरपि नैयायिकानां रीत्या प्रवृत्तिवैफल्यादिभिर्हेतुभिः परत एव उररीक्रियते।

प्रामाण्यस्य द्वैविध्यं स्वतस्त्वं परतस्त्वञ्च

उत्पत्तिज्ञप्तिगतभेदेन ज्ञानस्य प्रामाण्यमप्रामाण्यञ्च द्विविधम्। उत्पत्तिगते ज्ञप्तिगते च उभयत्र प्रामाण्याप्रामाण्यस्य परतस्त्वमेव संस्थापितं तार्किकैः। भाट्टविचारवीथिकायामुत्पत्तिगतस्य ज्ञप्तिगतस्य च ज्ञानस्य प्रामाण्यमेव स्वतस्त्वेनाङ्गीकृतम्। अप्रामाण्यं तावत् द्विविधेऽपि स्थले परतस्त्वेनैवानुमोदितम्।

प्रथमं तावत् किं नाम स्वतस्त्वं? किञ्च परतस्त्वमेतद्विचारणीयम्। यया कारणसामग्र्या ज्ञानमुत्पद्यते तयैव सामग्र्या प्रामाण्यस्याप्युत्पत्तौ प्रामाण्यस्योत्पत्तिगतं स्वतस्त्वमुच्यते। सङ्क्षेपधिया एतदेव ज्ञानोत्पादिकातिरिक्तान्यपेक्षत्वं नाम प्रामाण्यस्योत्पत्तिगतं स्वतस्त्वमिति वक्तुं शक्यते। भेदेतु ज्ञानोत्पादिकायाः कारणसामग्रयाःप्रामाण्योत्पादिकया सामग्रया ज्ञानोत्पादिकातिरिक्तापेक्षत्वात्मकं परतस्त्वमुत्पत्तिगतस्य प्रामाण्यस्याङ्गीक्रियते विबुधैः।

प्रामाण्यस्योत्पत्तौ स्वतस्त्वपरतस्त्वे

तार्किकनये ज्ञानस्योत्पत्ताविन्द्रियाणां कारणत्वमङ्गीकृतम्। ज्ञानप्रामाण्य-

स्योत्पत्तौ इन्द्रियगतगुणानां कारणत्वाङ्गीकारात्[4] ज्ञानोत्पादिकया कारणसामग्र्या प्रामाण्योत्पादिकायाः कारणसामग्र्याः पार्थक्यात् परतस्त्वमुत्पत्तिगतस्य प्रामाण्यस्याभिमतं मतम्।

उत्पत्तिगतस्य ज्ञानप्रामाण्यस्य परतस्त्वं निराकुर्वतां मीमांसकानां सिद्धान्ते इन्द्रियगतगुणजन्यत्वात्मके प्रामाण्ये गुणत्वं नाम दोषाभावात्मकत्वमेव वर्तते, अत एव येन दोषाभावात्मकत्वेन गुणवत्वेनेन्द्रियेण ज्ञानं जन्यते तेनैव तस्य ज्ञानस्य प्रामाण्यस्योत्पत्तेरप्यङ्गीकारात् ज्ञानोत्पादिकायाः सामग्र्याः प्रामाण्योत्पादिकया सामग्र्या सहाभेदत्वात्सिद्ध्यते स्वतस्त्वमुत्पत्तिगतस्य ज्ञानप्रामाण्यस्य।

यदा कदाचिदवधृते ज्ञाने प्रवृत्त्यादिभिर्हेतुभिः अप्रामाण्यमुपलभ्यते तर्हि एतस्याप्रामाण्यस्येन्द्रियगतकाचकामलादि-दोषजन्यत्वादुत्पत्तिगतस्याप्रामाण्यस्य नैयायिकदिशानुरूपं परतस्त्वमनुमन्यते भाट्टैरपि।

प्रामाण्यस्य ज्ञप्तौ स्वतस्त्वपरतस्त्वे

ज्ञानप्रामाण्यस्य ज्ञप्तिगते प्रामाण्येऽपि नैयायिकभाट्टमीमांसकयोः महत् पार्थक्यमुपलभ्यते। ज्ञप्तिगतस्य प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वं नाम ज्ञानग्राहकातिरिक्तान-पेक्षत्वम्। ज्ञानोत्पादिकया सामग्र्या एव प्रामाण्यस्यापि ग्रहणं प्रामाण्यस्य ज्ञप्तिगतं स्वतस्त्वमुच्यते। एतद्विपरीतं यदि ज्ञानोत्पादिका सामग्री काप्यन्या प्रामाण्योत्पादिका च तदितरा चेदेतदेव ज्ञप्तिगतस्य प्रामाण्यस्य परतस्त्वं मन्यते।

ज्ञप्तौ प्रामाण्यस्य परतस्त्वम्

नैयायिकास्तावत् ज्ञप्तिगतेऽपि प्रामाण्ये परतस्त्वमेवानुमन्यन्ते। एतेषां मते प्रथमं तावत् 'अयं घट' इत्याकरकं व्यवसायात्मकं ज्ञानं जन्यते। एतदनन्तरं घटमहं जानामि घटज्ञानवानहमिति वाऽनुव्यवसायो जन्यते अनुव्यवसायात्मकेन ज्ञानेन प्रथमं व्यवसायात्मकं ज्ञानं गृह्यते। गृहीते ज्ञाने विषयस्य ग्रहणादौ जातायां सफलीभूतायां प्रवृत्तौ 'इदं मे जलज्ञानं प्रमाणं, सफलप्रवृत्तिजनकत्वात्' इत्यनेन प्रवृत्तिसाफल्यमूलकेनानुमानेन गृहीतस्य ज्ञानस्य प्रामाण्यं निश्चीयते।[5]

विफलीभूतायां प्रवृत्तौ 'अप्रमाणं मे इदं जलज्ञानम्' असमर्थप्रवृत्तिजन-कत्वादित्यादिकेन प्रवृत्तिवैफल्यमूलकेनानुमानेन गृहीतस्य ज्ञानस्याप्रामाण्यञ्च गृह्यते।

एवं न्यायनये ज्ञानग्राहिकायाः अनुव्यवसायात्मिकायाः सामग्र्याः प्रामाण्याप्रामाण्यग्राहिकया प्रवृत्तिसाफल्यवैफल्यमूलकानुमानात्मिकया सामग्र्या सह भेदात् ज्ञानग्राहकातिरिक्तापेक्षत्वरूपमुभयोः प्रामाण्याप्रामाण्ययोः परतस्त्वं स्वीक्रियते।

ज्ञप्तौ प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वम्

ज्ञानग्राहकसामग्रीग्राह्यत्वं ज्ञानग्राहकातिरिक्तानपेक्षत्वं वा ज्ञप्तिगतस्य प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वमुच्यते[6]। गुरुमिश्रभट्टमतभेदेन त्रैविध्यमवाप्नुवद्भिः त्रिविधैरपि मीमांसामतावलम्बिभिः ज्ञप्तिगतस्य ज्ञानप्रामाण्यस्य समानसामग्रीग्राह्यत्वात्मकं स्वतस्त्वमेव संस्थाप्यते।

गुरुमतम्

गुरुमते ज्ञानस्य स्वप्रकाशतया ज्ञानोत्पादिका सामग्र्येव ज्ञानग्राहिका। अनया ज्ञानोत्पादिकया सामग्र्या तज्ज्ञानीयप्रामाण्यमप्यवगम्यते।

यदि ज्ञानोत्पादिका सामग्री ज्ञानग्राहिकया सामग्र्या भिन्नत्वेनाङ्गीक्रियते तर्हि उत्पत्तिक्षणेऽनिश्चयाद् ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वमनुपपन्नं स्यात्। अस्याऽनुपपत्तेर्निवारणार्थमेव त्रिपुटीप्रत्यक्षमङ्गीक्रियते प्राभाकरैः। अनेन त्रिपुटीप्रत्यक्षेण न केवलं विषयविषयिज्ञातॄणां त्रयाणां ज्ञानमुत्पद्यते गृह्यते च अपितु अनेनैव ज्ञानस्य प्रामाण्यमपि निश्चीयते।[7]

एवं त्रिपुटीप्रत्यक्षात्मिकया एकयैव सामग्र्या ज्ञानस्य प्रामाण्यस्य च ग्रहणात् समानसामग्रीग्राह्यत्वात्मकं प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वं सिद्ध्यति।

मिश्रमतम्

मुरारिमिश्रास्तु अयं घट इत्याकारकं ज्ञानं घटमहं जानामीत्याकारकेन मानसेनानुव्यवसायात्मकेन ज्ञानेन गृह्यत इति मन्यन्ते। एतेषां मते अनुव्यवसायात्मिकया ज्ञानग्राहकसामग्र्यैव ज्ञानप्रामाण्यस्यापि ग्रहणात् समानसामग्रीग्राह्यत्वात्मकस्य ज्ञप्तिगतस्य प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वमक्षुण्णमेव।[8]

भाट्टनये प्रथमं तावद् घटोऽयमित्याकारकं ज्ञानं जन्यते। एतदनन्तरम् अनेन ज्ञानेन स्वविषये घटे ज्ञाततासञ्ज्ञकः कश्चित् धर्म उत्पाद्यते। ज्ञाततेयं घटज्ञानानन्तरं 'ज्ञातो मया घट' इत्याकारकेन मानसेन ज्ञानेन प्रतिसन्धीयते। अस्या ज्ञाततायाः घटज्ञानात्प्रागनवस्थानाद् ज्ञानोत्पत्त्यनन्तरमेव प्रतिसन्धानाच्च ज्ञायते यदियं ज्ञातता घटादिज्ञानजन्यैव। अस्याः ज्ञाततायाः स्वकारणेन घटादिज्ञानेन विनोत्पत्तेरनुपपत्तिर्जायते। अत एवास्यानुपपत्तेर्निराकरणार्थमुपपादकीभूतया ज्ञाततान्यथानुपपत्तिप्रसूतार्थापत्त्या ज्ञाततजनकत्वेन ज्ञानं गृह्यते। अनेन ज्ञानेन सह याथार्थ्यलक्षणं प्रमात्वात्मकं ज्ञानप्रामाण्यमपि अनयैवार्थापत्त्या गृह्यते। एवं ज्ञानग्राहिकया सामग्रीभूतयार्थापत्त्यैव ज्ञानप्रामाण्यस्यापि ग्रहणात्[9] समानसामग्रीग्राह्यत्वं समानसंवित्संवेद्यत्वात्मकं[10] वा प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वं निष्पद्यते।

भट्टपादैस्तावत् श्लोकवार्तिके-

स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम्।
नहि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन शक्यते।।[11]

इत्यनया कारिकया सर्वेषां ज्ञानानां स्वतःप्रामाण्यं साधितम्।

एवमेव पार्थसारथिमिश्रैरपि न्यायरत्नमालायां-

विज्ञानस्य प्रमाणत्वं स्वतो निर्णीयते यथा।
परतश्चाप्रमाणत्वं तथा न्यायोऽभिधीयते।।[12]

इत्यारभ्य "तस्मात्स्वतः सिद्धं प्रामाण्यं सर्वज्ञानानां तच्च वेदस्यानुमोदितमित्यनया[13] पङ्क्तया सर्वेषां ज्ञानानां स्वाभाविकं स्वतःप्रामाण्यं प्रतिपादितम्।

नूतनायां विचारधारायां सर्वपल्लिभिः डॉ० राधाकृष्णन्महाभागैरपि एवमेव प्रतिपादितम् "The Mimamsa theory of self validity prounts out that validity is a quality of all knowing inseparable from it."[14]

अस्मिन्सन्दर्भे सप्तदशशताब्द्याः मध्यकाले लब्धप्रतिष्ठैः विश्वेश्वरभट्टापरनामधेयैः श्रीमद्गागाभट्टमहाभागैः भाट्टचिन्तामणेः तर्कपादे-

"कश्चित्तु तेन वेदजन्यज्ञाने संशयाभावात्स्वतःप्रामाण्यं तदभिन्नज्ञाने तु परतः प्रामाण्यं ज्ञायते। अत एव स्मृतिजन्यज्ञाने सन्मूलकत्वगुणज्ञानादेव प्रामाण्यं सिद्धान्तेप्यङ्गीकृतमिति युक्तमुत्पश्यामः।"[15] अत्र "युक्तमुत्पश्यामः" इत्यनेन वेदज्ञानस्य स्वतः प्रामाण्यं तदतिरिक्तेषु स्थलेषु परतः प्रामाण्यमङ्गीकुर्वद्भिर्यद्यपि भाट्टमीमांसानव्यन्यायविचारसरण्योः समन्वयात्मिका दृष्टिरेका स्थापिता, परन्तु अस्मिन्विवेचने ज्ञानमात्रस्य स्वाभाविकं यत् प्रामाण्यमासीत् तद्विनष्टमेव। वेदवत्त्वेनैव ज्ञानस्य प्रामाण्याङ्गीकारात् ज्ञानप्रामाण्यस्य स्वतस्त्वमेव विलुप्तमतो, नास्ति भट्टवर्याणामयं विपश्चिदपश्चिमो सिद्धान्त इति।

ज्ञानप्रामाण्यस्योत्पत्तिगतज्ञप्तिगतयोरुभयत्र स्वतस्त्वमङ्गीकुर्वतां मीमांसकानां मते यावत्कालपर्यन्तं पर्याप्तैः प्रमाणैः प्रमात्वेनाङ्गीकृतस्य ज्ञानस्य दोषवत्त्वात्मकप्रामाण्यं न गृह्यते तावत्कालपर्यन्तं तस्य ज्ञानस्योभयात्मकं प्रामाण्यं स्वतः सिद्धम्। प्रामाण्यत्वेन निश्चितेऽपि ज्ञाने प्रबलतरैः प्रमाणैरप्रामाण्यग्रहाशङ्कयाऽप्रामाण्यस्य परतस्त्वमेवाङ्गीकृतं भाट्टैः।

अस्माकं राष्ट्रस्य विधिशास्त्रेऽपि दोषवत्त्वात्मकस्याप्रामाण्यस्य सिद्धिकाल-

पर्यन्तं दोषाभावात्मकं प्रामाण्यं स्वतः सिद्धत्वेनाङ्गीक्रियते। भाट्टानामपि ज्ञानप्रामाण्यस्य स्वतस्त्वे अप्रामाण्यस्य च परतस्त्वाङ्गीकारे अयमेव विचारः परिलक्ष्यते।

सन्दर्भ

1. 'प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः साङ्ख्याः समाश्रिताः' सर्वदर्शनसङ्ग्रहः पृ०-557, चौखम्बा विद्याभवनं, वाराणसी, 1964
2. "अथैवमप्यप्रामाण्यं परतस्तर्हि प्रामाण्यमपि परत एव गृह्यताम्।" तर्कभाषा, पृष्ठ सङ्ख्या-141, चौखम्बा संस्कृत संस्थानम्, वाराणसी, 1982
3. 'सौगताश्चरमं स्वतः'-सर्वदर्शनसङ्ग्रहः, पृ०-557
4. प्रमां प्रति गुणः कारणम्। न्यायसिद्धान्तमुक्तावली पृ०-427, चौखम्बा-संस्कृत-संस्थानम् वाराणसी, 1983
5. तथाहि-इदं ज्ञानं प्रमा, संवादिप्रवृत्तिजनकत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं, यथाऽप्रमा।' न्याय० सि० मु० पृ०-438 चौखम्बा संस्कृत संस्थानम्, वाराणसी, 1983
6. 'तेन ज्ञानग्राहकातिरिक्तानपेक्षत्वमेव स्वतस्त्वं प्रामाण्यस्य। तर्कभाषा पृष्ठ सङ्ख्या-136
7. गुरवस्तु घटादिमात्रविषयकं न ज्ञानं सर्वज्ञानानां त्रिपुटीविषयकत्वाङ्गीकारात्। त्रिपुटी च ज्ञानात्मविषयरूपा, तेन सर्वज्ञानं घटं जानामीत्याद्यनुव्यवसायाकारमिति। स्वेनैव स्वस्य घटादिविषयकग्रहणात्ततः प्रामाण्यमित्याहुः।" भाट्टचिन्तामणिः पृ०-14, चौखम्बा-संस्कृत-ऑफिस-सीरिज, 1933
8. 'मुरारिमिश्रास्तु घटादिज्ञानोत्तरं घटं जानामीत्याद्यनुव्यवसायो जायते तेन घटत्ववद्विशेष्यकत्वे सति घटत्वप्रकारकत्वरूपप्रामाण्यग्रहं, इत्याहुः।' भाट्टचिन्तामणि, पृ०-14
9. तस्मात् प्रवृत्तेः पूर्वमेव ज्ञाततान्यथानुपपत्तिप्रसूतयाऽर्थापत्त्या ज्ञाने गृहीते ज्ञानगतं प्रामाण्यमप्यर्थापत्त्यैव गृह्यते।' तर्कभाषा पृ०-137
10. ''प्रमात्वस्याननुमेयत्वात् ज्ञानानुमाने समानसंवित्संवेद्यतया ज्ञानत्ववत्प्रमात्वस्य स्वतस्त्वसम्भवात्।'' भाट्टचिन्तामणि, पृ०-13
11. श्लोकवार्त्तिकम् अ० 1, पा० 1, श्लो० सं०-47
12. न्यायरत्नमाला पृ०-36 चौखम्बा-संस्कृत सीरीज, ई० 1900
13. न्यायरत्नमाला पृ०-39
14. Indian Philosophy-Dr. S. Radhakrishnan, Volume II Blackee & Son publishers. Pvt. Ltd. Bombay, Calcutta, Madras, New Delhi, p. 406
15. भाट्टचिन्तामणिः, पृ० सं०-15

5
ख्यातिवादे विपरीतख्यातिः

भारतीयेषु सर्वेष्वपि दर्शनेषु ज्ञानं यथार्थायथार्थभेदेन प्रायः द्विधा विभक्तं वर्तते[1]। पदार्थस्य यादृशं स्वरूपं, तादृशमेव समुत्पन्नं ज्ञानं यथार्थज्ञानमुच्यते। वस्तुनः स्वरूपाद्विपरीतं प्रतीयमानं ज्ञानमयथार्थज्ञानं, भ्रमज्ञानं विपर्ययज्ञानं वोच्यते[2]।

दर्शनसम्प्रदायेषु भ्रमपर्यायत्वेन ख्यातिशब्दो गृह्यते। यद्यपि ख्यातिशब्दस्य ज्ञानमात्रमर्थः[3], तथापि सविकल्पकप्रत्यक्षमनङ्गीकुर्वतो बाह्यार्थस्य चाप्रामाण्यवादिनोर्बौद्धवेदान्तिनोः विचारसरण्योः प्रत्यक्षस्य सविकल्पकत्वे आत्मख्यातिरनिर्वचनख्यातिरूपेणाङ्गीकृतोऽयं ख्यातिशब्दः प्रचलनपरम्परया रूढितः भ्रमस्यार्थे एव पर्यवसितः।

अस्मिन्विषये दार्शनिकसम्प्रदायेषु विद्यमानाः परस्परविरोधिनः सिद्धान्ताः पञ्चख्यातिरूपेण प्रसिद्धाः। आत्मख्यातिरसत्ख्यातिरख्यातिरन्यथाख्यातिर-निर्वचनख्यातिरूपाः। इमाः पञ्चख्यातय इति प्रायोवादः।

एतासु पञ्चख्यातिषु निरालम्बनवादिनः विज्ञानवादिनो वात्मख्यातेरु-पस्थापकाः। बाह्यार्थानामस्तित्वमनङ्गीकुर्वतामेतेषां सिद्धान्ते बाह्यार्थाः केवलं विज्ञानस्यैवाकारविशेषाः। आत्मनः स्वरूपमेभिः गुणादीनामालम्बनत्वेन नाङ्गीक्रियते, अपितु जाग्रत्सुषुप्त्यवस्थयोः क्रमशः प्रवृत्त्यालयधारया प्रवाहितस्य क्षणिकस्यात्मनो विज्ञानरूपत्वमेव स्वीक्रियते।

विज्ञानमेव हि केवलं सद्रूपेणाङ्गीक्रियते एभिरत एव बाह्यार्थानां मिथ्यात्वात् घटपटादीनां प्रतिभासकस्य सविकल्पकप्रत्यक्षस्यापि प्रामाण्यमेतेषां नाभिमतम्। स्वप्नावस्थायामनुभूतानां पदार्थानामनुरूपं बाह्यार्थानामपि ज्ञानरूपत्वमेव एभिः प्रतिपाद्यते। अस्मादेव कारणात् विज्ञानवादिनां सिद्धान्तोऽयमात्मख्यातिशब्देन व्यवह्रियते।

असत्ख्यातिवादिनां माध्यमिकानां शून्यवादे न केवलं बाह्यार्थानामस्तित्व-

मनभिमतमपितु विज्ञानमपि व्यवहारकाल एव स्वीक्रियते। पारमार्थिकतया कस्यापि सतोऽस्तित्वमनङ्गीकुर्वतामेतेषां सिद्धान्तोऽसत्ख्यातिवादः शून्यवादो वोच्यते।

अत्राख्यातिवादिनां प्राभाकराणां सम्प्रदायेऽयथार्थज्ञानमेव न स्वीक्रियते। शुक्तिरजतस्थले जायमानायां प्रवृत्तौ शुक्तिरजतयोः परस्परमत्यन्तभिन्नत्वादेतयोः संसर्गग्रहस्य कारणत्वमेभिः नाङ्गीक्रियतेऽपितु इदमित्याकारकेन प्रत्यक्षात्मकेनानुभवेन सह पूर्वानुभूतस्य रजतस्य स्मृतौ सञ्जातायां (स्मरणशक्तेर्दोषात्मकात्) स्मृतिप्रमोषात् प्रत्यक्षस्मृतिज्ञानविषययोरिदंशुक्ति रजतयोः भिन्नज्ञानविषयत्वस्याग्रहादख्यातिरूपस्य भेदज्ञानस्यानुत्पत्तिरेव रजतविषयिण्यां प्रवृत्तावेभिः कारणत्वं प्रतिपाद्यते।

प्राभाकराणां सिद्धान्तोऽयं दार्शनिकेषु अख्यातिवादरूपेण प्रसिद्धः। तार्किकवीथिकायामङ्गीकृतान्यथाख्यातिरेव भाट्टमतावलम्बिभिर्विपरीतख्यातिरिति व्यवह्रियते। ज्ञानस्य वैपरीत्यमन्यथात्वं वा प्रत्यक्षानुमानागमाभासेभ्यः सञ्जायते। इदं रजतमित्यादौ शुक्तिकायाः स्थाने प्रत्यक्षेण प्रतीयमानं रजतं प्रत्यक्षाभास इत्युच्यते। धूलिपटले धूमभ्रमाद्वहन्यभाववत्यधिकरणे जायमाना वहन्यनुमितिरनुमानाभासजैव। नदीतीरे पञ्च फलानि सन्तीत्यादीनि प्रतारकवाक्यानि आगमाभास इत्युच्यन्ते[4]। एतेषु प्रमाणाभासेषु प्रत्यक्षाभासात्मके भ्रमविषये दार्शनिकसम्प्रदायेषु महती विप्रतिपत्तिः दृग्गोचरीभवति।

अद्वैतवेदान्तिभिः शुक्तिरजतस्थले समुत्पन्नायां रजतप्रतीतावनिर्वचनख्यातिरङ्गीक्रियते। शुक्तिरजतस्थले इदं रजतमित्यत्र चक्षुः प्रणालिकया शुक्त्या सह सम्बद्धाऽपि अन्तःकरणवृत्तिः शुक्तेर्यथार्थरूपं न गृह्णाति। अतएव शुक्तेरावरणभङ्गाभावाच्छुक्त्यवच्छिन्ने चैतन्ये विद्यमाना अविद्यैव रजताकारेण विपरिणमते। उत्तरकालिकशुक्तिज्ञानप्रबाध्यतयाऽस्य रजतस्य शशशृङ्गवदसत्त्वमप्यङ्गीकर्तुमशक्यत्वात्सदसद्भ्यामुभयविलक्षणत्वमनिर्वचनीयत्वमेवाङ्गीक्रियतेऽद्वैतवादिभिः[5]।

सदसद्ख्यातिवादिभिः साङ्ख्यैर्बाह्यार्थानामनुभवस्तदाकाराकारितया बुद्धिवृत्त्या एवानुमन्यते। विज्ञानवादिनामनुरूपमेभिः केवलं ज्ञानात्मिकायाः बुद्धेरस्तित्वमेव नाङ्गीक्रियतेऽपितु बाह्यार्थानामपि सद्रूपत्वमेभिरभिमतम्। एस्यां विचारधारायां यस्मिन् ज्ञाने बुद्धावाकारितस्य पदार्थरूपस्य बाह्यपदार्थरूपेण सह एकाकारिता भवेत्, तदेव ज्ञानं यथार्थज्ञानत्वेनाङ्गीक्रियते।

भ्रमस्थले तु शुक्ताविदं रजतमित्यादौ रजतप्रतीतौ सञ्जातायामिदंस्त्वांशस्य विद्यमानता इदं ज्ञानाश्रयस्य च चाक्षुषप्रत्यक्षविषयत्वादिदंत्वांश-विषयकस्य ज्ञानस्य सद्रूपत्वं स्वीक्रियत एभिः, परन्तु रजतज्ञानाश्रयस्याविद्यमानतया नेदं रजतमित्य-नेनोत्तरकालिकेन ज्ञानेन प्रबाधितत्वाच्च रजतविषयकस्य ज्ञानस्य, रजतांशविषयकं ज्ञानमसदेवाङ्गीक्रियते। एवञ्च भ्रमज्ञानस्य, सदसतोरुभयविधयोर्ज्ञानयोराश्रितत्वा-देतेषां सिद्धान्तोऽयं सदसत्ख्यातिवाद इत्युच्यते।

साङ्ख्यमतावलम्बिभिर्विज्ञानभिक्षुभिस्तावदुच्यते, यत् सर्वेषां पदार्थानां नित्यत्वात् स्वरूपत एतेषां बाधो न सम्भवति, परन्तु चैतन्ये आरोपिते सति इमे संसर्गतः प्रबाध्यन्ते। यथापणे सद्रूपेण स्थितमपि रजत शुक्तावारोपितं संसर्गतः प्रबाध्यते तथैव सद्रूपेण विद्यमानमपि जगत् चैतन्येऽध्यस्ते संसर्गतोऽसद्भवति। अस्मिन्नपि पक्षे ख्यातेः सदसदात्मकत्वमक्षुण्णमेव[6]।

अत्र शुक्तिरजतमित्यादौ प्रतीतं रजतं देशान्तरे सदेवोच्यते वैशेषिकादिभिः। तत्रैव तात्कालिकं सदित्युच्यते भास्करेण। शुक्ताविदं रजतमित्यस्मिन् ज्ञाने प्रसिद्धशुक्तिरजतत्वयोरलीकस्य समवायस्य भासादत्रासत्ख्यातिरेव प्रतिपाद्यते वाचस्पतिमिश्रैः। रामानुजीयास्तु इदं रजतमित्यत्र भूतानां पञ्चीकरणात्सर्वत्र सर्वेषां विद्यमानतया शुक्तावपि रजतस्य सत्त्वाङ्गीकाराद्रजतप्रतीतौ सत्ख्यातिमङ्गीकुर्वन्ति[7]।

भाट्टानां विपरीतख्यातिः

भ्रमज्ञानेषु विपरीतख्यातिरङ्गीक्रियते कौमारिलैः। भ्रमात्मकेषु ज्ञानेषु अतद्वति तत्प्रकारकत्वरूपा याऽन्यथाख्यातिरङ्गीकृता तार्किकैः, प्रायः तादृशी एव वर्तते इयं विपरीतख्यातिः। यथोक्तं- तस्माद्यन्यथासन्तमन्यथा प्रतिपाद्यते[8]।' इत्यस्य वार्तिकांशस्य अन्यथा=शुक्तिकादिरूपेण सन्तमन्यथा रजतादिरूपेण गृह्णातीत्यर्थः रत्नाकरकृता प्रतिपादितः। इदं रजतमित्यत्र शुक्तित्वप्रकारिकायाः शुक्तेः रजतत्वप्रकारकत्वेन जायमानत्वादिदं रजतमित्यस्य ज्ञानस्य भ्रमात्मकत्वं वर्तते। अत्रेन्द्रियदोषाल्पप्रकाशसंयोगचाकचक्यादि सामग्र्या शुक्तित्वधर्मविशिष्टायाः शुक्तेः वस्तुतत्त्वस्य वैपरीत्येन रजतत्वधर्मविशिष्टतया जायमानेन विपरीतख्यातिरूपेण भ्रमात्मकेन ज्ञानेनैव शुक्तौ प्रतीयमाने रजते पुरुषप्रवृत्तिव्यवहारश्च सङ्गच्छते।

अस्यां विपरीतख्यातौ भ्रमस्थलेषु सर्वत्र सत्पदार्थयोरपि उद्देश्यविधेयसंसर्ग-स्यालीकत्वेनैव वैपरीत्यं सञ्जायते। इदं रजतमित्यस्मिञ्ज्ञाने यथा इदत्वांशस्य

याथार्थ्यं वर्तते, तथैव रजतस्याप्यन्यत्रास्तित्त्वं वर्तते एव। एतयोरुभयोरपि सत्पदार्थयोरुद्देश्यविधेयात्मकस्य संसर्गस्यालीकत्वमत्र वैपरीत्ये हेतुः। एवमेव द्विचन्द्रज्ञाने आकाशे विद्यमानयोर्भागद्वयोरेकत्र सञ्ज्ञातेनालीकेन संसर्गेणैव एकस्य चन्द्रस्य स्थाने चन्द्रद्वयात्मिकी विपर्यस्ता प्रतीतिः सञ्जायते। संसर्गस्यालीकत्वेनैव एतादृशेषु स्थलेषु अकार्यस्य कार्यतया भानाद् व्यावहारिकी विप्रतिपत्तिरपि दृष्टिपथे समायाति[9]। यथा 'अयं सर्प' इत्यादौ रज्जुसर्पज्ञान- स्थलेऽयमित्युद्देशेन यदा सर्पो विधीयते, तदा रज्जुसर्पोभयपदार्थयोरलीकेनानेन संसर्गेण सर्पभयस्य अकार्यत्वेऽपि कार्यतया व्यवहारो जायते। 'सर्वत्र संसर्गमात्रमसदेवावभासते। संसर्गिणस्तु सन्त एव, सेयं विपरीतख्यातिरित्युच्यते मीमांसकैः'[10]। इत्थं वदता पार्थसारथिमिश्रेणापि विपरीतख्यातौ संसर्गिणां, याथार्थ्यमङ्गीकृत्य संसर्गस्यैवालीकत्वं प्रतिपादितम्।

विपरीतख्यात्यख्यात्योर्वैभिन्न्यम्

उभयोरप्येतयोर्ख्यात्योर्महदन्तरं प्रतीयते। प्राभाकराणामख्यातिवादे भ्रमस्यास्तित्वमेवास्वीकृतम्। भाट्टानां विपरीतायां ख्यातौ संसर्गतया भ्रमज्ञानस्यास्तित्त्वमभिमतम्।

अख्यातिवादे विवेकाग्रहरूपं यत् कारणत्वं प्रतिपादितं वैपरीत्ये, तदभावात्मकं वर्तते, परन्तु विपरीतख्यातौ रजतत्ववस्तुत्वांशयोः संसर्गग्रहस्य कारणत्वाद् भावात्मकमेव भ्रमकारणत्वमङ्गीकृतमित्यनुभूयते।

विपरीतख्यात्यन्यथाख्यात्योः पार्थक्यम्

यद्यपि प्राच्यप्रतीच्यैः बहुभिरपि विद्वद्भिः विपरीतख्यात्यन्यथाख्यात्योस्तादात्म्यमेवाङ्गीक्रियते, तथापि सूक्ष्मेक्षिकया उभयोरेतयोर्मध्ये किञ्चित्पार्थक्यमपि उद्भावयितुं शक्यते। प्रथमं तावत् उभयोरप्येतयोः ख्यात्योः ज्ञानग्रहणप्रक्रियायां मिथः भेद उपलभ्यते। तथाहि–अन्यथाख्यातिमङ्गीकुर्वतां नैयायिकानां विचारधारायां यथा प्रवृत्तिवैफल्यमूलकेनानुमानेन ज्ञानस्यायथार्थत्वं परतः स्वीक्रियते तथैव प्रवृत्त्युत्तरकालिकेन प्रवृत्तिसाफल्यहेतुकेनानुमानेन ज्ञानस्य यथार्थत्वमपि परत एवाङ्गीक्रियते।

भाट्टनये तु सर्वेषां ज्ञानानामनुभूतिकाले प्रामाण्यमेवाभिमतम्। शुक्तिरजतस्थलेष्वपि यावत्कालपर्यन्तं विफलप्रवृत्तेः कारणदोषानुगमाच्च मिथ्यात्वनिर्णयो न जायते, तावत्कालपर्यन्तं ज्ञानस्य प्रामाण्यमेव वर्तते। एवञ्च पार्थक्यं तावदेतदेव

वर्तते, यद्न्यथाख्यातिवादे ज्ञानस्य विफलप्रवृत्तिहेतुकत्वेनानुमानेनाप्रामाण्यग्रहपर्यन्तं प्रामाण्याप्रामाण्योभयकोटिभ्यां भिन्नज्ञानस्य केवलं ज्ञानरूपत्वमेव वर्तते। परन्तु विपरीतख्यातिनये मिथ्यात्वनिश्चयो यावन्न जायते तावत्कालपर्यन्तमनुभूतस्य ज्ञानस्य प्रामाण्यमेवाङ्गीक्रियते।

भ्रमस्य कारणसामग्र्या भेदादपि अन्यथाख्यातितः विपरीतख्यातेः पार्थक्यमवलोक्यते। तथाहि अन्यथाख्यातिवादे इदं रजतमित्यत्र शुक्तिकायामविद्यमानत्वेऽपि आपणे पूर्वानुभूतस्य रजतस्य स्मरणात्मकेन ज्ञानलक्षणसञ्ज्ञकेनालौकिकसन्निकर्षेण प्रत्यक्षं जायते। इदंत्वांशस्य लौकिकसंयोगसन्निकर्षजन्यतयात्र लौकिकाभ्यां सन्निकर्षाभ्यां जायते इयं भ्रान्तिः[11]।

एवमत्र भ्रमकारणसामग्र्यां पित्ताल्पपरिमाणदूरत्वादिभिर्दोषैस्सह अलौकिकसन्निकर्षस्याप्यस्तित्वमभिमतं वर्तते।

एतद्विपरीतं भाट्टाभिमतायां विपरीतायां ख्यातौ अनुभूतस्य ज्ञानस्याप्रामाण्यं मिथ्याज्ञानाज्ञानसन्देहादिभिः त्रिभिरङ्गीक्रियते।

यथोक्तं- **अप्रामाण्यं त्रिधा भिन्नं मिथ्यात्वाऽज्ञानसंशयैः।**
वस्तुत्वाद् द्विविधस्यात्र सम्भवो दुष्टकारणात्[12]।।

एवमेव 'यत्र कारणदोषज्ञानं बाधकज्ञानं तत्र मिथ्यात्वमिति वदता पार्थसारथिमिश्रेणापि भ्रमस्योत्पत्तौ दोषाणां हेतुत्वं स्वीक्रियते[13]। अतएव भाट्टप्रघट्टे यद्यपि नैयायिकानामनुरूपं भ्रमस्योत्पत्तौ दोषाणां कारणत्वमभिमतं वर्तते, तथापि अलौकिकसन्निकर्षमनङ्गीकुर्वतामेतेषां सिद्धान्ते भ्रमस्य कारणसामग्र्यां ज्ञानलक्षणायास्तित्वमभिमतं नैव प्रतीयते।

श्लोकवार्तिके-''**सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनात्**[14]'' इत्यस्य जैमिनिप्रणीतस्य प्रत्यक्षसूत्रस्य व्याख्यानप्रसङ्गे- 'न लोकव्यतिरिक्तं हि प्रत्यक्षं योगिनामपि[15]। इत्यनेन वार्तिकेन ज्ञायते यद् लौकिकप्रत्यक्षातिरिक्तं योगजज्ञानलक्षणादीनां सर्वेषामलौकिकसन्निकर्षजन्यानाम- लौकिकप्रत्यक्षाणामस्तित्वं नाभिमतं भाट्टानाम्। अत एव भ्रमज्ञानस्य प्रक्रियायां यद्यपि अन्यथाख्यातिविपरीतख्यात्योरेकरूपता वर्तते, तथापि भाट्टमते ज्ञानलक्षणाया नाङ्गीकारादन्यथाख्यातितः विपरीतख्यातेः कारणसामग्रीभेदादपि वैभिन्यं वक्तुं शक्यते।

अत्र अयमेव निष्कर्षः। सर्वैरपि वादिभिः येन केन रूपेण यथार्थज्ञान-वदयथार्थज्ञानमपि स्वीकृतम्। शुक्तिकायाः स्थाने रजतं प्रतीयते इत्यत्र वैपरीत्ये नास्ति विप्रतिपत्तिः। वैपरीत्यं कथं जायते? इत्यत्र प्रकारांशे एव सन्ति विप्रतिपत्तयः दार्शनिकेषु। स्वसम्प्रदायदृष्ट्या सर्वैः समाधानान्यपि प्रदर्शितानि सन्ति। पथां वैभिन्येऽपि लक्ष्यं वस्तु एकमेव वर्तते। उक्तमपि-'**एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्तीति** दिक्।

सन्दर्भ

1. 'अप्रमा च प्रमा चेति ज्ञानं द्विविधमिष्यते। न्या०सि०मु० पृ०- चौखम्बा संस्कृत संस्थानम्, वाराणसी, 1983, 126
2. तच्छून्ये तन्मतिर्या स्यादप्रमा सा निरूपिता। न्या०सि०मु० पृ०-127
3. ख्यातिः ज्ञानम्। न्यायकोशः, पृष्ठ सं०-255, भाण्डारकर-ओरिएंटल-रीसर्च इन्स्टीट्यूट-पुण्यपत्तनम्, 1928
4. न्यायकोशः पृष्ठसङ्ख्या-765, भाण्डारकर-ओरिएण्टल रीसर्च इंस्टीट्यूट, पूना, 1928
5. वेदान्तपरिभाषा भूमिका पृ०-26, चौखम्बा विद्याभवनं, वाराणसी, 1977
6. वेदान्त-परिभाषा-भूमिका पृष्ठ-23-24, चौखम्बा विद्याभवनं, साङ्ख्य-तत्त्व-कौमुदी-भूमिका-पृष्ठ-84, वाराणसी, 1977 चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, 1971
7. न्यायकोशः, पृष्ठ-760, भाण्डारकर ओरियन्टल रीसर्च इन्स्टीट्यूट-पुण्यपत्तनम्, 1928
8. श्लोकवार्तिकम्, पृष्ठसङ्ख्या-202
9. वेदान्तपरिभाषा-भूमिका पृष्ठसङ्ख्या-25-26
10. शास्त्रदीपिका पृ० सं०-137 चौखम्बा संस्कृत बुक डिपो, वाराणसी।
11. तर्कसङ्ग्रह-पद्माख्या व्याख्या पृष्ठ सं०-215, कामेश्वरसिंह दरभङ्गा-संस्कृत विश्वविद्यालयः दरभङ्गा, 1984। "ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्तिकल्पनेऽपि न क्षतिः, फलमुखगौरवस्यादोषत्वात्" न्यायसिद्धान्तमुक्तावली-चौखम्बासंस्कृतसंस्थानं, वाराणसी, तृतीयं संस्करणम्, 1984
12. श्लोकवार्तिकम्, द्वितीये सूत्रे वार्तिक सङ्ख्या-54
13. शास्त्रदीपिका-पृष्ठ सं०-142, चौखम्बा संस्कृत बुक डिपो, वाराणसी।
14. मीमांसादर्शनम् जैमिनिसूत्रं अ० 01, पा० 01, सूत्रं 04
15. श्लोकवार्तिकम्-चतुर्थे सूत्रे वार्तिक सं० 28

6
आत्मवादे भाट्टानामनेकान्तवादः

भारतीयं चिन्तनं प्रामुख्येनात्मतत्त्वविचारं परित एव परिव्याप्तं प्रतीयते। आस्तिकनास्तिकभेदेन विभक्तैर्विविधदर्शनमतावलम्बिभिस्स्वसिद्धान्तदृष्ट्या प्रमेय-विचारावसरे प्रामुख्यमात्वमतत्त्वविचारायैव प्रत्तमिति स्पष्टं परिलक्ष्यते।

शरीरेन्द्रियविज्ञानात्मवादिभ्यो बौद्धचार्वाकेभ्यो व्यतिरिक्तेषु सर्वेष्वपि दर्शन-सम्प्रदायेषु देहेन्द्रियमनोबुद्धिभ्यो व्यतिरिक्तस्यात्मनो नित्यत्वं स्पष्टमेव।

न्याय-वैशेषिकैस्तावदात्मनोऽनेकत्वं, नित्यत्वं विभुत्वञ्च मन्यते।[1] सर्वव्यापकत्वेऽप्यस्यात्मनो भावविचारसङ्कल्पा उत्पत्तिकाले स्वसंयुक्तस्थूलदेह-परिमिता एवैभिः प्रतिपाद्यन्ते।[2] मुक्तौ सुषुप्तौ चात्मनस्सद्भावेऽपि ज्ञानेच्छाप्रयत्न-सुखादीनामननुभवादद्वैतमतानुरूपमात्मनो ज्ञानात्मकत्वं सुखात्मकत्वं वा नाभिमतमेतेषामपितु द्रव्यात्मक आत्मनि समवायसम्बन्धेनोत्पन्नानामेतेषा-मात्मगुणत्वाज्ज्ञानसुखाश्रयत्वमेवात्मनस्स्वीक्रियते तार्किकैरेभिः। यतः स्वरूपतो विद्यमानस्याप्यात्मनो सुषुप्तौ मुक्तावस्थायाञ्च न जायते प्रतीतिरत एव स्वतः प्रकाशकत्वमप्यात्मनो न स्वीक्रियतेऽक्षपादमतावलम्बिभिरपितु 'अहं सुखी, अहं दुःखी, बुभुक्षुरहमित्यादिषु सुखदुःखादीनां विधेयानामुद्देश्यात्मकत्वेन मानसप्रत्यक्षत्वमेवाङ्गीक्रियते।[3] अहं जानेऽहं सुखीत्यादिषु मानसप्रत्यक्षत्वमपि स्वात्मन एव सम्भवति। परात्मनः परिज्ञानं परशरीरे चेष्टात्मिकया प्रवृत्त्या निष्पन्नैः 'परकीयं शरीरमवच्छेदकतासम्बन्धेन प्रयत्नवच्चेष्टावत्त्वात्, मच्छरीरवदित्यादिभि-रनुमानैरेव सङ्गच्छते।[4]

न्यायसमानतन्त्रे वैशेषिकनये यद्यप्यात्मनस्स्वरूपं प्रायः तार्किकमत-सम्मतमेव तथाप्यात्मनो ज्ञानविषये सूक्ष्मेक्षिकया किञ्चित्पार्थक्यमप्यवलोक्यते। आत्ममानसप्रत्यक्षविषये एभिः प्रतिपाद्यते यदहं सुखी इत्याद्याकारकमात्मनः प्रत्यक्षं योग्यविशेषगुणयोगेनैवोपपद्यते नत्वहमित्याकारकेण मानसप्रत्यक्षमात्रेण। अत

एवात्मनो मानसप्रत्यक्षत्वं निराकृत्य[5] प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवन-मनोगतीन्द्रियान्तरविकारसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नादिभिरात्मलिङ्गकैर[6]नुमानैरे-वात्मज्ञानमङ्गीक्रियते वैशेषिकैः।

एवमेव कापिलैरपि पुरुषपदवाच्यस्यात्मनो नित्यत्वमनेकत्वञ्चाङ्गीक्रियते। बुद्धिपरिणामेन ज्ञानेन[7] सहास्य पार्थक्यं यद्यपि साङ्ख्यैरपि स्वीकृतन्तथापि चैतन्यस्यात्मरूपत्वमेभिः प्रतिपाद्यते। एतद्विपरीतन्न्यायनये चैतन्यस्यात्मकत्वन्नैवाभि-मतमपितु ज्ञानाभिन्नत्वेनात्मगुणत्वमेवास्याभिमतमेतेषामिति प्रतीयते।

अद्वैतवेदान्तिनाम्मते जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यात्मकेषु त्रिविधेष्वप्युपाधिषु क्रमशः स्थूललिङ्गाज्ञानशरीरैरवभासमानो जीवः शारीर आत्मा। यद्यपि पारमार्थिक्यामवस्था-याञ्जीवो ब्रह्मात्मक एव तथाप्यविद्यावशात् व्यावहारिक्यां सत्तायां परब्रह्मभिन्नो जीवः सुखदुःखावस्थयोर्बद्धः प्रतीयते। ब्रह्मसाक्षात्कारेण सञ्जातेऽविद्याविरहे पुनरप्यसौ पारमार्थिकीमवस्थामवाप्यात्मनस्सच्चिदानन्दात्मकं ब्रह्मस्वरूपमवाप्नोति।[8]

विशिष्टाद्वैतवादिभिरात्मनो यथार्थत्वन्धर्मभूतज्ञानवत्वञ्चित्स्वरूप-त्वञ्चाङ्गीक्रियते। यद्यप्यात्मनोऽणुपरिमाणवत्वमेभिः प्रतिपाद्यते तथाप्यस्य ज्ञानदृष्ट्या सर्वव्यापकत्वमेवाभीप्सितम्। एवमेवात्मनो ज्ञानात्मकत्वमानन्दात्मकत्व-मप्येतेषामभिमतम्। ज्ञानानन्दयोर्व्यक्तावस्थायाम् अभावात्संसारावस्थायामात्मनो ज्ञानानन्दात्मकत्वं नानुभूयते, तथापि समधिगतायां मुक्तौ सर्वज्ञत्वमानन्दा त्मकत्वञ्चावाप्यते आत्मनेति वर्तते विशिष्टाद्वैतवादिनामाशयः।[9]

भेदाभेदवादे यद्यपि संसारावस्थायामात्मपरमात्मनोर्वर्तते भेदः परन्तु मोक्षावस्थायामस्य परमात्मना सहाभेदप्रतिपादनादात्मनः परमात्मना सहोपपद्यते भेदाऽभेदवादः।[10]

द्वैताद्वैतदर्शने नानाजीवानां भोगवैचित्र्यादनेकत्वमणुपरिमाणवत्वञ्चात्मनः प्रतिपाद्यते। अणुत्वेऽप्यस्यात्मनस्समग्रे शरीरे सुखदुःखानुभावकत्वं स्वगुणैर्विभुत्वं, नित्यत्वं, द्रष्टृत्वं, भोक्तृत्वं, ज्ञानाश्रयत्वेऽपि ज्ञानात्मकत्वञ्चाभिमतम्।[11]

द्वैतदर्शने मुक्तियोग्याः, तमोयोग्याः, नित्यसंसारिणश्चेत्यात्मनां त्रयो भेदाः प्रतिपादिताः। रामानुजस्य विशिष्टाद्वैतनये न केवलं संसारदशायामेव जीवेषु ब्रह्मनिरूपितो वर्तते भेदः, परन्त्वस्मिन्नये मोक्षावस्थायामपि जीवेषु न केवलं परमात्मनः पार्थक्यमभिमतमपितु मुक्तेष्वपि जीवेषु कामसङ्कल्पानन्दवैभिन्यात्पर-स्परमपि प्रतिपाद्यते पार्थक्यम्।[12]

शुद्धाद्वैतवादे जीवात्मनोऽणुपरिमाणवत्वं ब्रह्मात्मकत्वं ब्रह्मांशत्वञ्चाभिमतम्। शुद्धसंसारिमुक्तभेदेन त्रैविध्यमवाप्तेषु त्रिविधेषु जीवेषु संसारिणा जीवात्मनाऽपि लब्धायाम्मुक्तावस्थायामवाप्तात्माव्यक्तगुणेन ब्रह्मणा सहैकाकारतयाऽवाप्यतेऽ-भेदात्मिका स्थितिः।[13]

कला-विद्या-रागकालनियतिसञ्ज्ञकैः पञ्चमायाकञ्चुकैरावृत्तो, मायाशक्ति-प्रभावमुग्धतया परमसदाशिवात्मकं स्वरूपं विहाय कर्मरज्जुभिराबद्धोऽयं जीवात्मेत्यात्मस्वरूपं प्रतिपाद्यते काश्मीरीयशैवमतावलम्बिभिः।[14]

आर्हतदर्शने जीवाँजीवयोर्द्वयोः पदार्थयोर्मध्ये चेतनद्रव्यत्वेन जीवात्माऽभिमतः। अस्य जीवात्मनः कर्तृत्वं, भोक्तृत्वं, देहपरिमाणवत्वञ्चाभिमतमस्मिन्नये। यद्यप्यनन्तज्ञानशान्तिश्रद्धावीर्यसम्पन्नत्वेन स्वाभाविकी एव वर्तते जीवात्मनः परिपूर्णता, तथापि पुद्गलसंयोगेन संसारदशायामेतेषां गुणानां तिरोधानादस्या न जायते प्रतीतिः।[15] जीवोऽयमस्मिन्ननेकान्तवादनये जीवास्तिकायसञ्ज्ञया परिभाषितः पदार्थविशेष आत्मेति प्रतिपाद्यते।[16]

शरीरेन्द्रियमनआत्मवादश्चार्वाकाणां क्षणिकविज्ञानशून्यवादश्च बौद्धानामित्युप लभ्यन्ते प्रायः सर्वत्र दार्शनिकग्रन्थेषु पूर्वपक्षत्वेनास्तिकदर्शनेषु। एतेषामति प्रसिद्धत्वाद् विस्तरभयाच्च उल्लेखमात्रेणैवालं मन्ये।

मीमांसानये आत्मवादः

मीमांसाशास्त्रं हि कर्मकाण्डप्रधानम्। विधिवाक्यप्रतिपादितस्य यागानुष्ठानात्मकस्य धर्मस्य प्रतिपादनमेव मीमांसायाश्चरमं लक्ष्यम्।

"धर्माख्यं विषयं वक्तुं मीमांसायाः प्रयोजनम्।[17] "दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत स्वर्गकामः[18], इत्यादिभिर्वैदिकवाक्यैः प्रतिपादितस्य यागात्मकस्य कर्मणः फलेन सह सम्बन्धो यदि न स्यात्तर्हि न जायेत कस्याप्यस्मिन्कर्मानुष्ठाने प्रवृत्तिः। क्रियात्मकस्य यागस्यतृतियक्षणे विनाशात्कर्मणः फलसम्बन्धरक्षणार्थं यागकर्त्रे यागफलप्राप्तिपर्यन्तं विद्यमानं यागकर्मजन्यमदृष्टात्मकमपूर्वं कल्प्यते मीमांसकैः।

यथोक्तं तन्त्रवार्त्तिके-

फलाय विहितं कर्म क्षणिकं चिरभाविने।
तत्सिद्धिर्नान्यथेत्येवमपूर्वं प्रति गम्यते।।[19]

यागकर्मणशशरीरस्य च विनाशित्वेन फलप्राप्तिपर्यन्तं स्थितेरेतयोर-शक्यत्वाद्यागजन्यापूर्वस्याश्रयत्वेन देहेन्द्रियमनोबुद्धिभ्यः पृथगात्मतत्वं कर्म-प्रतिपादकानां वेदवाक्यानामुपपत्तयेऽङ्गीक्रियते मीमांसकैः।

आत्मा ज्ञातव्य इत्येतन्मोक्षार्थं न च चोदितम्।[20]
कर्मप्रवृत्तिहेतुत्वमात्मज्ञानस्य लक्ष्यते।।

इत्यनेन वार्त्तिकेनापि वेदबोधितकर्मसु पुरुषप्रवृत्तयेऽपेक्षितस्य कर्मणः फलप्राप्तकर्तुस्सहान्वयस्योपपत्तये च देहेन्द्रियमनोबुद्धिभ्यः पृथगाश्रीयते शास्त्रेऽस्मिन्नित्यो जीवात्मेति जायते प्रतिपत्तिरियम्।

अस्य मीमांसाशास्त्रस्य प्रवर्त्तको भगवान् जैमिनिः "सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्मतत् प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वादित्यनेन[21] प्रत्यक्षसूत्रच्छलेनात्मनो बुद्धेरिन्द्रियेभ्यश्च पार्थक्यं विनिर्दिशति।

आत्मविषयकं गुरुमतम्

भाट्ट-प्राभाकरमिश्रमतेषु मिश्रवर्याणामात्मविषयकमभिमतं नोपलभ्यते। भाट्ट-प्राभाकरयोरात्मज्ञानविषयकं परस्परं पार्थक्यमुपलभ्यते। प्राभाकराणां सिद्धान्तेऽप्यात्मनो विभुत्वं शरीरेन्द्रियमनोभ्यः पार्थक्यं, नित्यत्वं[22], विशेषगुणा नाम्बुद्ध्यादीनामाश्रयत्वं[23], कर्तृत्वं भोक्तृत्वञ्च न्यायभाट्टमतानुरूपमेवाभिमतं दृश्यते। एभिरप्यात्मनस्सुखादिस्वरूपत्वं निरस्यैतेषामाश्रयत्वमेव स्वीक्रियते। जीवेषु सुखदुःखादीनां वैचित्र्यादिमेप्यात्मनो नानात्वं मन्वते। अनया दृष्ट्या न्यायभाट्टविचार-सरणिभ्यामेतेषामात्मस्वरूपविषयकाणां विचाराणां महत्सादृश्यमवलोक्यते, तथाप्यात्मज्ञानविषये भाट्टमतेन सर्वथा विपरीता एवैतेषां वर्तते विचारसरणिः।

अहं जानामीत्यत्राहम्प्रत्ययगम्यस्यात्मनो मानसप्रत्यक्षवेद्यत्वमङ्गीक्रियते भाट्टैः नैयायिकैश्च। प्राभाकरैरत्रात्मनो प्रत्यक्षवेद्यत्वं न स्वीक्रियते। एतेषां मते परोक्षस्यात्मनः परिज्ञानं सर्वेषां ज्ञानानामाश्रयत्वेनानुमानमुखेनैव जायते।

स्मृत्यनुभवात्मकेषु सर्वेष्वपि ज्ञानस्थलेषु ज्ञानं, ज्ञाता, ज्ञेयात्मिकां, मितिमातृमेयात्मिकांवा त्रिपुटीमङ्गीकुर्वताम्प्राभाकराणां ज्ञानप्रक्रियायां सर्वेष्वपि ज्ञानेषु कर्तृत्वेनैवात्मनो जायते परिज्ञानं न तु कर्मतया, कुतः? कर्तृत्वकर्मत्वयोरेकत्र विरोधात्। अत्राऽऽश्रयविधयात्मनो विषयविधया घटादीनां विषयाणाञ्च प्रतिपाद्यते स्वप्रकाशकत्वेन ज्ञानेन प्रतिपत्तिः प्राभाकरैः।

प्राभाकराणामस्मिन्नपि सिद्धान्ते वर्तते मतद्वयम्। प्राचीनैः प्राभाकरैर्ज्ञानस्य स्वविषयत्वमात्मविषयत्वञ्च न स्वीक्रियते ज्ञानस्य तादात्म्येन स्वस्मिन्व्यवहार-प्रयोजकत्वमात्मनिस्वसमवायेन व्यवहारप्रयोजकत्वञ्चैभिः प्रतिपाद्यते ! नव्यानां मते तु एतद्विपरीतं ज्ञानस्य स्वविषयत्वे सति स्वाश्रयविषयत्वमप्यङ्गीक्रियते। स्वं स्वाश्रयञ्च विषयीकुर्वतो ज्ञानस्य स्वव्यवहारप्रयोजकत्ववत्स्वाश्रयव्यवहार-प्रयोजकत्वमप्यङ्गीकुर्वन्ति प्राभाकरेषु नव्याः।[24]

अथात्मवादे भाट्टमतम्

भाट्टमतेऽप्यात्मनो नैय्यायिकादिमतानुरूपं शरीरेन्द्रियबुद्धिभ्यां भिन्नत्वं, नित्यत्वञ्चाभिमतमवलोक्यते। यथोक्तं वार्त्तिके-

शरीरेन्द्रियबुद्धिभ्यो व्यतिरिक्तत्वमात्मनः नित्यत्वं चेष्यते।[25]

भाट्टप्रस्थाने प्राथम्यमवाप्नुवद्भिः पार्थसारथिमिश्रैरपि प्राणनादिलिङ्गेन सुखादिगुणैश्चात्मनश्शरीरातिरिक्तत्वं सयुक्तिकं प्रदर्शितम्। तदनुसारेण कोष्ठ्यस्य वायोरूर्ध्वाधोगमनात्मकस्य प्राणनादिकस्य यो हेतुभूतः प्रयत्नस्तस्य सुखादिनाञ्च अयावच्छरीरभावित्वाद्देहभिन्नत्वमात्मनः। अत्रायमाशयः-शरीरस्य विद्यमानत्वेऽपि मृतावस्थायां तत्रानुपलभ्यमानत्वान्नैतेषां सुखादिनां प्रयत्नस्य च शरीरधर्मत्वमुप-पद्यतेऽतएवैतेषामाश्रयत्वेनात्मनो साध्यते देहभिन्नत्वमेभिः।[26]

एवमेव योऽहं रूपमद्राक्षं सोऽहं स्पृशामीत्यादिषु विभिन्नेष्विन्द्रियव्यापारेष्वपि एकस्यैवाहम्प्रत्ययगम्यस्यात्मनः परिज्ञानादिन्द्रियविशेषेण गृहीतस्यार्थस्य तस्येन्द्रियविघातेऽपि स्मृतेरुपपद्यमानत्वाच्चेन्द्रियभिन्नत्वमपि सयुक्तिकं प्रसाध्यते भाट्टमतावलम्बिभिर्मीमांसकैः।[27] मनसोऽपि सुखादिज्ञानानां करणत्वात् ज्ञातुर्ज्ञानकरणभेदस्य च प्रसिद्धत्वादात्मनो मनोभिन्नत्वमप्यनेन तर्केण साध्यते भाट्टैरेभिः।[28]

आत्मज्ञानसाधनम्

आत्मज्ञानप्रक्रियायां शबरस्वामिभिः स्वसंवेद्यः स भवति नासावन्येन शक्यते द्रष्टुं दर्शयितुं वे' त्यनया पङ्क्तया प्रतिपाद्यते स्वतः संवेद्यत्वं स्वप्रकाश-कत्वञ्चात्मनः।[29] 'स्वसंवेद्य' इत्यत्र भाष्ये कर्मवाचिनः कृत्यप्रत्ययस्य प्रयोगात् 'स मानसीन आत्मा जनानाम्' तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप' इत्येषां श्रुतिस्मृतिवाक्यानामनुरोधाच्च साध्यत आत्मन अहमिति मानसप्रत्ययगम्यत्वं भाट्टैः।[30]

तार्किकानुरूपमात्मनो मानसाहं प्रत्ययगम्यत्वाङ्गीकारे एकस्यैवात्मनि कर्तृत्वकर्मत्वयोरुभयोर्विद्यमानत्वाद्यः क्रियावृत्तिविरोध उद्भाव्यते प्राभाकरैस्तस्य, प्राभाकराभिमतायास्संवित्तेर्भासनात्मकस्य फलस्यार्थवित्तिषु भासमाने कर्तरि, आत्मन अपि सद्भावात् प्रभाकरमतेऽपि क्रियावृत्तिविरोधस्य तुल्यत्वारोपेण निराकरणं प्रदर्श्यते पार्थसारथिमिश्रैः।[31] अस्मिन् क्रियावृत्तिविरोधसन्दर्भे भट्टकुलावतंसैर्गागाभट्टापरनामधेयै विश्वेश्वरभट्टैः "स्वात्मनि क्रियाविरोधस्य दूषकताबीजभावेनादूषकत्वादित्यनया पङ्क्तया प्रतिपाद्यते यदात्मनि कर्तृत्वकर्मत्वयोरेकत्रसद्भावमात्रस्य नास्ति दूषकताबीजत्वमपितु यत्रैतयोरेकत्रसद्भावाज्जायते क्रियाविरोधस्तत्रैव वर्त्तते दूषणत्वं, यथा स आत्मानमचिन्तयत् तथापि नाबुद्ध इत्यत्र यत् चिन्तनक्रियाकर्तुरेवकर्मत्वं वर्त्तते, तस्यात्मनि चिन्तनक्रियायास्तद्विरोधिनो ज्ञानाभावस्य च विद्यमानत्वाद्वर्तते क्रियाविरोधः, परन्त्वहमात्मानं जानामीत्यत्र क्रियाविरोधस्याभावात्कर्तृत्व- कर्मत्वयोरेकत्वेऽप्यात्मनो मनसाअहमिति मानसप्रत्ययगम्यत्वाङ्गीकारे नास्ति काऽपि क्षतिः।[32]

परसमवेतक्रियाजन्यफलशालित्वमेव कर्मत्वमित्यङ्गीकृत्य अस्य कर्मत्वस्य मानसज्ञानगम्ये आत्मनि असाधुत्वादेतादृशस्य मानसप्रत्यक्षगम्यत्वस्यानौचित्यं प्रतिपाद्यते प्राभाकरैः।[33] अत्र वर्तते अयमाशयोः यद्देवदत्तो गृहं गच्छतीत्यत्र गृहात्परो यो देवदत्तः तस्मिन् समवेता या गमनक्रिया तज्जन्यं यद्गृहसंयोगात्मकं फलं, तस्य संयोगस्य द्विष्ठतया गृहे सद्भावादृगृहे यथोपपद्यते कर्मत्वमेतादृशस्य कर्मत्वस्यात्मानमहं जानामीत्यत्र ज्ञानक्रिया यत्र समवेता तस्यैवात्मनः ज्ञानक्रियाजन्यफलशालित्वादत्र विद्यमानाया द्वितीयाविभक्तेरसाधुत्वादसाधुत्वघटितस्य मानसज्ञानस्यात्मसाधनत्वाङ्गीकारे नास्त्यौचित्यम्।

आत्मनो मानसप्रत्यक्षात्मकस्य ज्ञानस्य प्राभाकरैः प्रदर्शितमनौचित्यं प्रयोगसाधुत्वेन निराक्रियते विश्वेश्वरभट्टैः। एभिरुच्यते यत्सर्वत्र परसमवेतक्रियाजन्यफलशालित्वे एव कर्मत्वं द्वितीयाविभक्तिश्च भवेन्नास्त्येतादृशो नियमः। "आत्मानं वेद, आत्मानमुपासीत, आत्मानं जानामी" त्यादिषु लौकिकवैदिकप्रयोगेषु परसमवेतक्रियाजन्यफलशालित्वाभावेऽपि द्वितीयाविभक्तेर्दर्शनादेतादृशस्थलेष्वपि प्रयोगसाधुत्वं वर्तत एव।[34] एवञ्चाऽहंवित्तेरप्युपपद्यते साधनत्वम् आत्मनः परिज्ञानस्य।

आत्मनो विभुत्वम्

आत्मनः परिमाणविषयेऽपि परस्परं विवदन्ते विविधविचारधारावन्तो

विचक्षणाः। अणुमध्यमविभुत्वाख्यानि त्रिविधानि परिमाणानि दर्शनपरिसरे प्रसिद्धानि। एतेष्वात्मनोऽणुपरिमाणं प्रतिपाद्यते रामानुजाचार्येण।[35] आत्मनस्सावयवत्वं सञ्कोचविकासशालित्वञ्चाङ्गीकृत्य जैनशासनरतैर्दिगम्बरैरस्य देहपरिमाणवत्वमङ्गीक्रियते।[36] भाट्टचिन्तनेऽस्मिन्सन्दर्भे तार्किककाणाद-प्राभाकरैस्सह मतैक्यमवलोक्यते। एतेषामनुरूपं भाट्टैरप्यात्मनोऽङ्गीक्रियते विभुत्वाऽपरपर्यायं सर्वव्यापकत्वम्। अत्रोच्यते भट्टपादैर्यदात्मनोऽणुपरिमाणपक्षे येषु प्रदेशेष्वात्मनः स्थितिस्तत्रैव सुखदुःखादीनामुपलब्धावेकस्मिन् क्षणे शिरः पादयोर्वेदनानुभूतेरसङ्गतिः स्यात्। अथ च शिरःपादवेदनयोरयौगपद्या-दप्यतिशैघ्र्यादात्मनो यौगपद्याभिमानोपपद्यत इति चेदत्रोच्यते भट्टवर्यैर्यदात्मन-श्शीघ्रगामित्वादेकस्मिंस्थानेऽवस्थानमेव नास्ति तस्मादस्योपलब्धिकालस्याप्येकत्र भानाभावादस्यां कल्पनायां विनिगमनाविरहान्नास्त्यौचित्यम्।[37]

दिगम्बराणामनुरूपं शरीरपरिमाणवत्वमङ्गीक्रियते चेदस्यामवस्थायामात्मनः सावयवत्वं स्यात्। सावयवत्वेऽप्यस्य यथाकथञ्चिन्नित्यत्वं प्रतिपादनीयं भवेदेवमेव बह्ववयवकल्पना करणीया भवेदत्रापि पुत्तिकाहस्तिदेहेष्वात्मनस्सङ्गतयेऽ-स्यातिसङ्कोचविस्तारकल्पनाऽपि करणीयास्यादत एवास्मिन्देहपरिमाणाङ्गीका-रेऽनेकानां कल्पनानामावश्यकत्वादस्य कल्पनागौरवदोषग्रस्तत्वादात्मनो विभुपरिमाणस्यैवौचित्यमङ्गीक्रियते भट्टपादैः।[38]

आत्मनो विभुत्वसिद्धये प्रदीयते अयमपि तर्को भट्टवर्यैर्यदात्मनस्सर्वग-तत्वाभावे शरीरस्य एकस्मात्स्थानादन्यत्र गमने तद्गताकाशो यथा तत्रैव परित्यक्तो भवति तथैवात्माऽपि परित्यक्तस्स्यात्। तस्य प्रेरकाभावादनुगमनमपि न सिद्ध्यति। ज्वालादीनां स्पर्शवत्वानां वाय्वादिभिर्यथोपपद्यतेऽनुगमनार्थं प्रेरणं तथात्मनोऽस्पर्शवत्वादेतादृशं परप्रेरणमपि नोपपद्यते। एवञ्च स्वातन्त्र्येण परप्रेरितेन वाऽत्मनश्शरीरानुगमनाभावे गच्छति शरीरे तस्यात्मनः परित्यागादस्यां स्थितौ शरीरस्याचेतनत्वापत्तिस्यादत एवात्मनो विभुत्वे एवौचित्यमङ्गीकुर्वद्भिरुच्यते भट्टपादैर्यदात्मनो व्यापकत्वे गगनवदात्मनोऽपि सर्वत्रानुस्यूतेरुपपद्यते गमनक्रिया वतो- ऽपि शरीरस्य चैतन्यानुवृत्तिः।[39]

नन्वात्मनः व्यापकत्वे सर्वेषामात्मनां सर्वेष्वपि शरीरेष्ववस्थानात्महद्वैषम्यं भवेदिति चेन्मैवम्। मूर्तानामेव पदार्थानामेकत्रावस्थाने जायते विरोधः। अमूर्तानामात्मनामेकत्रावस्थानेऽमूर्तानां कालदिग्गगनानामेकत्रावस्थानवन्नास्ति किमपि वैषम्यम्।[40]

एवमेवात्मनस्सर्वव्यापकत्वाद्यत्र देहो नास्ति तत्राप्यात्मगुणानामुपलब्धि-प्रसङ्गस्यादिति चेदत्रात्मनस्सर्वव्यापकत्वे भाट्टैस्सह साम्यमवाप्नुवद्भिश्शालिकनाथ-मिश्रैरुच्यते यदात्मगुणानामुपलब्धावात्ममनस्सन्निकर्षस्यासमवायिकारणत्वात् मनसश्च देहमात्रेऽवस्थानात् देहभिन्नप्रदेशेऽस्यात्ममनस्सन्निकर्षात्मकस्या-समवायिकारणस्याभावन्नास्त्यात्मगुणानान्तत्रोपलब्धिप्रसङ्गः।[41]

नन्वात्मनो व्यापकत्वात्सर्वत्रैकात्मैवास्तु इति चेदत्र प्रतिशरीरे धर्माधर्मसुखदुः-खादिव्यवस्थादर्शनस्य तर्केणास्य पक्षस्य क्रियते निराकरणं शालिकनाथमिश्रैः।[42]

पार्थसारथिभिस्तावदत्रोच्यते यदेकात्मवादाङ्गीकारे यथा नेत्रेणालोकितस्यार्थस्य मनसा त्वचा च कतुरिकत्वादृग्रहणं सङ्गच्छते, तथैव, सर्वशरीरेष्वेकात्मवादाङ्गीकारे देवदत्तेन दृष्टस्यार्थस्य यज्ञदत्तद्वारा स्मरणमापद्येत अत एवात्मनः प्रतिशरीर-भिन्नत्वाङ्गी-कारे एवौचित्यमाचक्षते मिश्रवर्यैः।[43]

कर्तृत्वभोक्तृत्वाङ्गीकारेऽनेकान्तवादोपन्यासः

भाट्टविचारवीथिकायामात्मनः नित्यत्वव्यापकत्वज्ञानसुखादीनामाश्र-यत्ववत्कर्तृत्वभोक्तृत्वयोरप्यङ्गीकारः क्रियते। अत्रोच्यते भट्टपादैर्यत्सर्वत्र व्यापकत्वादात्मनि संयोगविभागयोरशक्यत्वाद्वैशेषिकाभिमता परिस्पन्दात्मिका क्रिया न सम्भवति, अत एव यद्यप्यात्मनि स्पन्दात्मिकाक्रियानिरूपितं कर्तृत्वं नोपपद्यते, तथापि धात्वर्थमात्रस्य क्रियात्वेनाङ्गीकाराज्जानाम्यहं, सत्तावानहं, सङ्कल्पवानहमित्यादिषु ज्ञानसत्तासङ्कल्पादिनिरूपितमुपपद्यते कर्तृत्वमात्मनः। यथोक्तं वार्तिके-

'क्रिया धात्वर्थमात्रस्यादन्याधारेऽपि कर्तृता।'[44]

पार्थसारथिमिश्रैरपि शास्त्रदीपिकायां प्रतिपाद्यते यन्न केवलमुत्क्षेपणादीनां स्पन्दात्मिकानां क्रियात्वादाभिर्निरूपितमेव कर्तृत्वमपितु धात्वर्थमात्रस्य क्रियात्वात् यागज्ञानप्रयत्नसङ्कल्पादिभिर्निरूपितं कर्तृत्वमात्मनः सर्वगतत्वेऽपि तस्मिन् साक्षादुपपद्यते।[45]

एवमेव एतदप्युच्यते भाट्टैर्यत्सर्वत्र यत्समवेता क्रिया विद्यते तस्यैव कर्तृत्वं स्यादिति नास्ति नियमः।[46] परक्रियाप्रयोजकत्वेनाप्युपपद्यत एव कर्तृत्वम्। भूतेषु यावलोक्यते स्पन्दात्मिकाक्रिया, साऽप्यात्माधिष्ठितेष्वेव भूतेषु दृश्यते। आत्मनो विरहे भूतेषु सत्स्वपि मृते शरीरे परिस्पन्दस्याभावादात्मनः भूतानां शरीरस्य च प्रयोजकत्वेन स्पन्दक्रियानिरूपितं कर्तृत्वमपि साध्यते भाट्टैः।[47]

अत्रात्मनि कर्तृत्वभोक्तृत्वाभ्यां विकारवत्वादनित्यत्वमाक्षिप्यते चेदत्र विकारमात्रेण कस्यचिदनित्यत्वं नैवाङ्गीक्रियते भाट्टैः। एतेषां मते यथा बालयुवावस्थयोः पूर्वमवलोकितस्य देवदत्तस्य वर्तमानकाले स्थविरावस्थायां विद्यमानेऽपि तस्य कृते सोऽयं देवदत्त इति जायते प्रत्यभिज्ञा, तथैव ज्ञान-सुखादिभिर्विकारैः परिणामिनोऽप्यात्मनः स्थैर्यमुपपद्यते।[48]

एवं कटककुण्डलादिभिराकारैः परस्परभिन्नेषु रूपेषु परिणतस्यापि सुवर्णस्य सुवर्णत्वेनैकत्वमङ्गीक्रियते तथैवात्मन्यपि ज्ञानेच्छासुखदुःखादिभिः परिणामजन्यस्य विकारस्य विद्यमानत्वेऽपि स्थैर्यत्वमङ्गीकृत्य भाट्टैरुभयोः विकारस्थिरत्वयोरेकत्र स्वीकारादाश्रियतेऽत्रानेकान्तवादः।[49] न्यायरत्नाकरव्याख्यायां अन्यानन्यविकल्पश्च सर्वत्रानेकान्तवादाश्रयणेन परिहर्त्तव्येत्यनया पङ्क्त्या पार्थसारथिमिश्रैरप्यात्मनि समर्थ्य-तेऽयं परिणामित्वेऽपि स्थैर्यत्वाङ्गीकारघटितोऽनेकान्तवाद[50] इति दिक्।

आत्मनश्चैतन्यमचैतन्यञ्च

यद्यपि भाट्टविचारधारायामात्मनश्शरीरेन्द्रियमनोभ्यः पार्थक्यमन्यवादि-सम्मतं तथाप्यात्मनि यच्चैतन्यमनुभूयते तदात्मनः स्वरूपं तद्भिन्नं वेत्यपि विचारणीयम्। चैतन्यमत्रात्मनः स्वरूपमभिमतङ्कापिले तन्त्रे।[51] औलुक्यमता-वलम्बिनस्तर्करसिकाअक्षपादानुयायिनश्च जडत्वमेवात्मनस्स्वरूपं मन्वते।[52]

आत्मचैतन्यम्

भाट्टतन्त्रे चैतन्यवदचैतन्यमप्यात्मनः स्वरूपमभिमतं प्रतीयते।

सुखदुःखाद्यवस्थाश्च गच्छन्नपि नरो मम।
चैतन्यद्रव्यसत्तादिरूपं नैव विमुञ्चति।।"[53]

इत्यनया वार्तिकोक्त्या स्पष्टं प्रतीयते यदत्र चैतन्यादिकमात्मस्वरूपेणैवाभिमतं भट्टवर्याणाम्। एवमेव तन्त्रवार्तिकस्य द्वितीयाध्यायस्य प्रथमे पादेऽपूर्वाधिकरणे "अहं प्रत्ययेन हि चैतन्यस्वभावस्यात्मनोऽस्तित्वमात्रमवगम्यत"[54] इत्यत्र "तदपेक्षयैव च चैतन्यात्मकत्वाद्यविभागाच्चोपनिषत्स्वैकात्मव्यवहार[55]" इत्यत्रापि चात्मनश्चैतन्यात्मकत्वमेव प्रतिपादितं लक्ष्यते।

भाट्टदृष्ट्या तत्त्वानां प्रतिपादनधुरं वहद्भिः पार्थसारथिमिश्रैरपि "भूतेन्द्रियविज्ञानानामसञ्ज्ञित्वमचैतन्यम्, अन्यस्तु तेभ्यो नित्यश्चेतन" इत्यत्र

न्यायरत्नाकरे[56] "तस्मादन्यश्चेतन"[57] इत्यनेन वचनांशेन शास्त्रदीपिकायामपि चैतन्यात्मकत्वमेवात्मनः प्रतिपादितमित्येव जायते प्रतिपत्तिः।

चैतन्यत्वमचैतन्यत्वञ्च

उक्तैस्सन्दर्भैर्यद्यप्यात्मनश्चैतन्यं प्रतीयते तथापि नैतच्चैतन्यं साङ्ख्यशास्त्रे प्रतिपादितेन चैतन्येनाभिन्नमपितु विलक्षणमेवेति मन्ये।

साङ्ख्ये प्रतिपादितस्य चैतन्यस्य बुद्धिपरिणामेन ज्ञानेन सह स्पष्टमेव पार्थक्यमुपलभ्यते[58] परन्तु यथा न्यायवैशेषिकसिद्धान्तयोर्गुणपदार्थेषु पृथक्तया गणनाया अभावाच्चैतन्यस्य ज्ञानात्मकत्वं मन्यते विद्वद्भिस्तथैव भाट्टतन्त्रेऽपि चैतन्येन सह कर्तृत्वभोक्तृत्वयोरप्युपादानात्साङ्ख्यवदात्मनश्चैतन्यमात्रस्वरूपस्यानङ्गीकाराच्च प्रतिभाति यदत्रात्मनश्चैतन्यं साङ्ख्यविलक्षणं ज्ञानात्मकमेवाभिमतमिति।

नच चैतन्यस्य ज्ञानात्मकत्वे भाट्टविचारवीथिकायामद्वैतवादिसम्मतस्यात्मनो ज्ञानात्मकत्वाभावादात्मनश्चैतन्यस्वरूपबोधकानामुक्तसन्दर्भानामसङ्गतिरिति वाच्यम्। ज्ञानस्यात्मनिष्ठत्वेन ज्ञानशक्तिस्वभावत्वेन च प्रतिपादनादुक्तसन्दर्भाणां सङ्गतेरुपपन्नत्वात्।[59]

"ज्ञानशक्तिस्वभावोऽतो नित्यः सर्वगतः पुमान्"[60] इत्यनेन वार्तिकेन भट्टवर्यैः "अविनाशी स्वरूपेण पुरुषो यातु नाशिता।

मात्राणां साऽधिकाराणां भूतादीनामसञ्ज्ञिता।।"[61] इत्यस्य वार्त्तिकस्य व्याख्याप्रसङ्गे" विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यतीमं मन्त्रं विवृण्वद्भिः पार्थसारथिमिश्रवर्यैरपि न्यायरत्नाकरे "एतदुक्तं भवति-'विज्ञानघन' इति ज्ञानशक्तिस्वभावस्यात्मनोऽभिधानम्, न ज्ञानमात्रस्येत्यनेनांशेना"त्र[62] शास्त्रदीपिकियामपि "नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यत' इति वाक्यं ज्ञानशक्त्यभिप्रायमि[63]त्यङ्गीकुर्वद्भिरात्मनो ज्ञानशक्तिस्वभावात्मकाभिन्नं ज्ञानशक्तिवैशिष्ट्यं प्रकाशितम्।

उक्तदिशा चैतन्यात्मकस्य ज्ञानस्य ज्ञानशक्त्यात्मनात्मना सह सम्बन्ध-विधानाच्छक्तेश्चात्मनि भेदाऽभेदेन तादात्म्येनैव सम्बन्धेन विद्यमानत्वाच्चैत-न्यात्मकस्य ज्ञानस्यात्मना सह भिन्नाऽभिन्ना प्रतीतिरुपपद्यते।

नात्र भाट्टप्रघट्टेऽस्मिश्चैतन्यात्मकस्य ज्ञानस्यात्मस्वरूपत्वमङ्गीक्रियतेऽपितु नित्यज्ञानशक्तिवैशिष्ट्यमेव। अस्मादेव कारणादनुकूलासु स्थितिषु शरीरेन्द्रियविषयेषु सत्स्वात्मन्युत्पन्नं ज्ञानात्मकं चैतन्यमात्मनः स्वभावत्वेन शक्यतेऽङ्गीकर्तुम्।

प्रतिकूलावस्थायां यत्र शरीरेन्द्रियषियाणां नास्ति सद्भावस्तस्यामवस्थायां यथा सुषुप्तौ मुक्तौ वा नाङ्गीक्रियते ज्ञानात्मकस्य चैतन्यस्यास्तित्त्वम् "भूतादीनामसञ्ज्ञिता"[64] इत्यनेन वार्तिकांशेन भाट्टप्रघट्टस्थापकैः कुमारिलैर्निराकृतं सुषुप्तौ मुक्तात्मनि वा ज्ञानात्मकं चैतन्यम्।

एवञ्च कटककुण्डलादिभिः परिणामिनोऽपि सुवर्णस्य स्थैर्यवज्ज्ञानेच्छा-सुखदुःखादिभिः परिणामिनोऽप्यात्मनस्स्थैर्याङ्गीकारेणोभयनिरूपितत्वादात्मस्वरूप-विषयेऽङ्गीक्रियतेऽनेकान्तवादस्तथैव ज्ञानाज्ञानलक्षणयोश्चैतन्याचैतन्ययोरुभ-योरप्यात्मरूपेण स्वीकारादत्रापि कश्चन विलक्षणोऽनेकान्तवाद एवोपपद्यते।

मन्ये अनया एव विधया जडबोधात्मकमात्मनस्स्वरूपमङ्गीकृतं भाट्टैरिति प्रतिपाद्यते हिरयन्नाराधाकृष्णन्बलदेवेपाध्यायादिभिर्विद्वद्भिरित्यलम्।

सन्दर्भ

1. 'विभुत्वं परममहत्परिमाणवत्वम्'- न्यायसिद्धान्तमुक्तावली किरणावलीसमन्विता, पृष्ठ सङ्ख्या 180, चौखम्बा संस्कृतसंस्थानं वाराणसी, 1983
2. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ सङ्ख्या 229, राजकमल प्रकाशन, पटना, 1987
3. "स च मानसप्रत्यक्षः" तर्कभाषा, पृष्ठ सङ्ख्या 144, चौखम्बासंस्कृतसंस्थानम्, वाराणसी, 1982
4. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली-किरणावली व्याख्या, पृष्ठ सङ्ख्या 180, पङ्क्तिः 15, चौखम्बा- संस्कृतसंस्थानम्, वाराणसी, 1983
5. "तत्रात्मामश्चाप्रत्यक्षे"-वैशेषिकसूत्रम् 8/1/2
6. "प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गनि।"-वैशेषिक सूत्रम् 3/2/4
7. अध्यवसायो बुद्धिधर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्। साङ्ख्यकारिका-23
8. न्यायकोशः, पृष्ठ सङ्ख्या 296, पङ्क्ति 8
9. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ 402-403, एम० हिरयन्ना, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1987
10. भारतीय दर्शन, पृष्ठ सङ्ख्या 400, डॉ० उमेशमिश्रा, हिन्दी समिति, उत्तरप्रदेश लखनऊ, 1975
11. वही, पृ० सं० 421, वही हिन्दी समिति, उत्तरप्रदेश
12. वही, पृ० सं० 430-431 वही, हिन्दी समिति उत्तरप्रदेश
13. भारतीय दर्शन, पृष्ठ सङ्ख्या 758, डॉ० राधा कृष्णन्, राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली-1969

14. भारतीय दर्शन, पृष्ठ सङ्ख्या 384-385, डॉ० उमेशमिश्र, हिन्दी समिति, उ० प्र०, लखनऊ 1975
15. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ० सङ्ख्या 158, डॉ० एम० हिरयन्ना, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली-1987
16. 'न्यायकोशः' पृष्ठ सङ्ख्या 296, निर्णयसागर मुद्रणालयः, मुम्बई-1928
17. श्लोकवार्तिकम्-प्रतिज्ञासूत्रम्, सूत्रसङ्ख्या 1/1/1
18. शतपथ ब्रह्मणम्-2/6/4/17
19. तन्त्रवार्तिकम्, द्वितीयो भागः, पृष्ठसङ्ख्या 36, गङ्गानाथझा केन्द्रीयसंस्कृतपीठम्, प्रयागः, 1990
20. श्लोकवार्तिकम् पृष्ठसङ्ख्या 474, तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी 1978
21. जैमिनिसूत्रम्, 1/1/4
22. 'बुद्धीन्द्रियशरीरेभ्यो भिन्न आत्मा विभुर्ध्रुवः'। -प्रकारण पञ्चिका, पृ० 316
23. तस्माच्छरीरादन्यस्य गुणो ज्ञानमिति-" 327
24. प्रकरणपञ्चिका व्याख्या पृष्ठ सङ्ख्या-167 पङ्क्तिः 20, तः 168, प्रकरणपञ्चिका, बी०एच०यू०वाराणसी, 1961
25. श्लोकवार्त्तिकम्, पृष्ठ सङ्ख्या-489
26. शास्त्रदीपिका पृष्ठ सङ्ख्या-119, पङ्क्तिः 15, कृष्णदास अकादमी-वाराणसी, 1988
27. "कथमिन्द्रियभेदः? इन्द्रियाभावेऽपि ज्ञातुरेकस्य प्रत्यभिज्ञानात् योऽहं रूप-मद्राक्षं सोऽहं स्पृशामीति योऽहमग्रहीषं सोऽहं स्मरामीति।"
शास्त्रदीपिका पृष्ठ सङ्ख्या-123, पङ्क्तिः 24
28. मनस्तु प्रत्यक्षसिद्धस्य ज्ञातुः रूपादिज्ञानेषु व्यतिरिक्तकरणाधीनत्वात् सुखादिज्ञानेषु भवितव्यं करणेनेत्येवं कल्प्यत इति नास्य ज्ञातृत्वमाशङ्कनीयम्। शास्त्रदीपिका पृष्ठ सङ्ख्या-123 पङ्क्तिः 24
29. भारतीयदर्शनम् पृष्ठ सङ्ख्या-403, डॉ० राधाकृष्णन्
30. शास्त्रदीपिका पृष्ठ सङ्ख्या-122, पङ्क्तिः 19
31. शास्त्रदीपिका पृष्ठ सङ्ख्या-122, पङ्क्तिः11 तः 16 पर्यन्तम्।
32. "स्वात्मान क्रियाविरोधस्य दूषकताबीजभावेनादूषकत्वात्।"
भाट्टचिन्तामणिः पृष्ठ सङ्ख्या-41 पङ्क्तिः 23, चौखम्बा संस्कृत-सीरीज-ऑफिस, 1933
33. "न च परसमवेतक्रियाजन्यफलभागित्वस्य कर्मत्वतया कर्मसञ्ज्ञायास्तद् विभक्तेश्चासाधुतापत्तिर्दूषकताबीजमिति वाच्यम्। भाट्टचिन्तामणि, पृ०-41 पङ्क्तिः 24
"परसमवेत-क्रिया-फलशालिकर्मेति कर्मज्ञाः। अतो न मानसप्रत्यक्षः।

'तन्त्ररहस्यम्' पृष्ठ-21 पङ्क्तिः 2 तः 3 पर्यन्तम्।
बड़ौदा सेन्ट्रल लाइब्रेरी-प्रकाशन, बड़ौदा, 1923

34. "तादृशकर्मत्वाभावेपि तद्विभक्तेः। आत्मा ज्ञातव्य, आत्मानं वेद, आत्मान गुणासीत' इत्यादि लौकिकवैदिकप्रयोगेणैव साधुत्वात्।"
भाट्टचिन्तामणिः, पृष्ठ सङ्ख्या-41, पङ्क्ति 25 तः 27 पर्यन्तम्।
35. "अणुपरिमाणो नानाविधश्च जीव इति रामानुजीयमाध्वादयो वैष्णवाः।'' न्यायकोशः पृ०सं०297
36. एम०एम०हिरयन्ना, भारतीयदर्शन की रूपरेखा, पृष्ठ सङ्ख्या-159, पङ्क्तिः 12
"तत्रापि देहपरिमाणरूपो जीव इत्यार्हताः।" न्यायकोशः पृ०सं०-297
37. कुमारिलः, तन्त्रवार्त्तिकम् पृ०सं०-56
''पार्थसारथिमिश्राः, शास्त्रदीपिका, पृष्ठ सङ्ख्या-124, पङ्क्तिः 14
38. कुमारिलः, तन्त्रवार्त्तिकम् पृष्ठ सङ्ख्या-57 पार्थसारथिमिश्राः, शास्त्रदीपिका पृ०-124, पं० 17
39. वही, पृष्ठ सङ्ख्या-56 पङ्क्तिः 01
"सर्वगतत्वे तु यत्र यत्र गम्यते तत्र तत्रात्मानुस्यूतिरस्तीति युक्ता चैतन्यानुवृत्तिः।"
कुमारिलः, तन्त्रवार्त्तिकम्, पृ०सं०-56 पङ्क्ति 5
40. "सर्वेषामपि च सर्वगतत्वे मूर्तिरहितत्वात्समानदेशवृत्यविरोधः।''
कुमारिलः, तन्त्रवार्त्तिकम्, पृ०सङ्ख्या 58 पङ्क्ति 16
41. शालिकनाथमिश्राः, प्रकरणपञ्चिका, पृष्ठ सङ्ख्या-344
42. शालिकनाथमिश्राः, प्रकरणपञ्चिका, पृष्ठ सङ्ख्या-345 पङ्क्ति 13
43. पार्थसारथिमिश्रः शास्त्रदीपिका, पृष्ठ सङ्ख्या-124, पङ्क्तिः 22
44. कुमारिलः, श्लोकवार्तिकम् पृष्ठ सङ्ख्या-501 आत्मवादे वार्तिक सङ्ख्या, 75
45. पार्थसारथिमिश्रः, शास्त्रदीपिका, पृष्ठ सङ्ख्या-119 पङ्क्तिः 11
46. कुमारिलः, श्लोकवार्तिकम्, आत्मवादः न च स्वसमवेतैव कर्तृभिः क्रियते क्रिया। श्लो० 75, 501
47. "योऽपि भूतपरिस्पन्दस्तत्राधिष्ठानतो भवेत्। 76
तद्देशप्रवृत्तेश्च या या देहेन्द्रियैः क्रिया।
क्रियते पुरुषणैव सा सा सर्वा कृतोच्यते।। 77 श्लोकवार्तिकम् पृ०सं०-501
48. "नानित्यशब्दवाच्यत्वमात्मनो विनिवार्यते।
विक्रियामात्रवाचित्वे न ह्युच्छेदोऽस्य तावता।। श्लोकवार्तिकम् 22, पृष्ठ सङ्ख्या-492
49. "तस्मादुभयहानेन व्यावृत्त्यनुगमात्मकः।
पुरुषोऽभ्युपयगन्तव्यः कुण्डलादिषु स्वर्णवत्।।28 श्लोकवार्तिकम् 22, पृष्ठ संख्या-492

50. पार्थसारथिः श्लो०वा०व्याख्या न्यायरत्नाकर, श्लोकवार्तिकम् पृष्ठ संख्या-492 पङ्क्तिः 07
51. तत्र जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः। सां०का०सङ्ख्या-55
52. "अतो ज्ञानादिभिन्नो नित्य आत्मेति सिद्धम्। न्याय-सिद्धान्त-मुक्तावली पृष्ठ सङ्ख्या-169
किरणावली व्याख्या, चौखम्बा-संस्कृत-संस्थानम्, वाराणसी, तृतीयं संस्करणम्, 1983
53.
54. श्लोकवार्त्तिकम् आत्मवादः कारिकासङ्ख्या 26
55. अजितोपेतं तन्त्रवार्त्तिकम् पृष्ठ सङ्ख्या-53, एवं पृष्ठ सङ्ख्या-58, द्वितीयो भागः गङ्गानाथ-केन्द्रीय-संस्कृतविद्यापीठम्, प्रयागः 1990
56. वही,
57. श्लोकवार्त्तिकस्य न्यायरत्नाकरव्याख्या-श्लोकवार्त्तिकम् पृष्ठ सङ्ख्या-514 पङ्क्तिः 27, श्लोकवार्त्तिकम्, तारा पब्लिकेशन्स-वाराणसी, 1978
58. शास्त्रदीपिका, पृष्ठ सङ्ख्या-120, पङ्क्तिः 4, कृष्णदास-संस्कृतसीरीजसङ्ख्या-103, कृष्णदास-अकादमी, वाराणसी, 1988
59. अध्यवसायो बुद्धिधर्मोज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्। साङ्ख्यकारिका सङ्ख्या-23
60. श्लोकवार्त्तिकम्, आत्मवादः श्लोक सङ्ख्या-73
61. श्लोकवार्त्तिकम् आत्मवादः श्लोक सङ्ख्या-1471
62. न्यायरत्नाकरव्याख्या-श्लोकवार्त्तिकम् पृष्ठ सङ्ख्या-514, पङ्क्तिः 19
63. शास्त्रदीपिका, पृष्ठ संख्या 127
64. भूतादीनामसंज्ञिता श्लोक वार्त्तिकम् पृष्ठ संख्या 514

7
पूर्वमीमांसकाणां मते मोक्षस्वरूपम्

भारतीयदर्शनशास्त्रस्य प्रायः सर्वेष्वपि प्रस्थानेषु परमपुरुषार्थत्वेन 'मोक्षस्य' प्रतिपादनं प्रामुख्येन विचिकित्सितं परिलक्ष्यते। नास्तिकास्तिकभेदयोर्वैदिकावैदिकभेदयोर्वा विभक्तेषु दर्शनभेदेषु स्वसिद्धान्तदृष्ट्या 'मोक्षस्य' विशदरूपेण प्रतिपादानार्थं सर्वेषां प्रकाशतेऽत्र महती प्रवृत्तिः।

दर्शनवीथिकायां विराजमानेषु चिन्तनप्रस्थानेषु स्वपदवाच्यस्यात्मनस्तद्भिन्नेभ्यः सकलेभ्यः पदार्थेभ्यस्सम्बन्धस्य राहित्यात्मकं मोक्षस्वरूपमभिमतं मन्ये। अनात्मपदार्थेभ्य आत्मनः सम्बन्धस्य राहित्यात्मकत्वेन मोक्षस्वरूपस्य सर्वेषामभिमतत्वेऽपि मोक्षस्यास्य साधनविषये परिलक्ष्यन्ते दार्शनिकानां परस्परभिन्ना दृष्टयः।

दार्शनिकप्रस्थानेषु मौलिभूतत्वेनाभिमतस्य मोक्षस्य बन्धराहित्यात्मकत्वात् बन्धस्य चालीकवास्तविकभेदेन द्विविधत्वात् मोक्षस्यापि वास्तविकावास्तविकत्वेन सुवचमेव वर्तते द्वैविध्यम्। नास्तिकवर्गे विद्वद्भिः स्थापितस्य बौद्धदर्शनस्य क्षणिकविज्ञानवादशून्यवादसम्प्रदाययोर्बन्धस्य संवृत्तिरूपतया अलीकत्वात् पारमार्थिक्यामवस्थायां मोक्षोऽप्यत्र अलीक एव इति शक्यते प्रतिपादयितुम्। एवमेवास्तिकवर्गेऽपि साङ्ख्ययोगवेदान्तदृष्ट्या बन्धस्यावास्तविकत्वमेव प्रतिपादितम्। साङ्ख्ये प्रकृत्या सह पुरुषसम्बन्धस्याविवेकग्रस्तत्वमेव स्थापितं परिलक्ष्यते सांख्यग्रन्थेषु। बन्धस्यात्रालीकत्वादेव विवेकज्ञानेन प्रतिपाद्यते निवृत्तिरस्माद्बन्धात् महामुनिना कपिलेन तत्त्वसमाससूत्रे-

एतत् सम्यगज्ञात्वा कृतकृत्यः स्यात्।
न पुनास्त्रिविधेन दुःखेनाभिभूयते।।[1] इति।

तथा च प्रसिद्धे साङ्ख्यदर्शनसूत्रे-

'विवेकान्निःशेषदुःखनिवृत्तौ कृतकृत्यता नेतरान्नेतरात्'[2] इति।

साङ्ख्यवदयोगशास्त्रेऽपि "विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपाय"[3] इत्यनेन सूत्रेणाभ्यासवैराग्यसहकृतस्य विवेकज्ञानस्यैव प्रदर्शितं परमर्षिणा पतञ्जलिना मोक्षहेतुत्वम्। साङ्ख्ययोगवद्वेदान्तेऽपि प्रातिभासिकव्यावहारिकपारमार्थिकीषु त्रिविधासु सत्तासु ब्रह्मसाक्षात्कारात्मिकां पारमार्थिकीं सत्तां विहायाविद्याकार्यभूतयोरुभयोरेव प्रातिभासिकव्यावहारिकसत्तयोरङ्गीक्रियते बन्धस्यावस्थितिः। अस्य बन्धस्यालीकत्वादेव 'दशमस्त्वमसीतिवत्तत्त्वमसी'[4] त्यादिभिर्बोधकवाक्यगम्यस्याधिकरणात्मकस्य ब्रह्मणो ज्ञानादेवाङ्गीक्रियते सिद्धस्यैव मोक्षस्यावाप्तिर्वेदान्तिभिः।

उक्तदिशा नास्तिकेषु दर्शनेषु क्षणिकविज्ञानवादशून्यवादाभ्यां सह वैदिकान्तर्गतानि साङ्ख्ययोगवेदान्तप्रस्थानानि विहायावैदिकेषु जैनदर्शनेन सह वैदिकान्तर्गतेषु न्यायवैशेषिकमीमांसादर्शनेषु बन्धस्य वास्तविकत्वान्मोक्षस्यापि वास्तविकत्वं परिलक्ष्यते।

मीमांसकानां मते मोक्षस्वरूपम्

वेदार्थनिर्णयार्थं प्रवृत्तायां मीमांसायां सर्वेषां वैदिकवाक्यानां कर्मण्येव तात्पर्य-प्रतिपादनादियं मीमांसा कर्ममीमांसा इत्यनयाऽपि सञ्ज्ञया विद्वत्समवाये प्रथिता। यद्यपि मीमांसाशब्देनोपनिषद्वाक्यानामर्थनिर्णयार्थं प्रवृत्तायाः वेदान्तापरसञ्ज्ञिकाया उत्तरमीमांसाया अपि जायते बोधस्तथापि मीमांसाशब्दमात्रेण कर्ममीमांसाया एव झटिति बोधात् कर्मप्रतिपादक एव शास्त्रे रूढोऽयं मीमांसा-शब्दः। अस्य मीमांसाशास्त्रस्य कर्मपरत्वात् शास्त्रप्रवर्तके जैमिनि-विरचिते सूत्रग्रन्थे सूत्रार्थवैशद्यात्मके च 'शाबरभाष्ये' नास्ति कोऽप्युल्लेखोऽस्यात्मनः स्वरूपावस्थानरूपस्य देहेन्द्रियकर्मफलादिसम्बन्धरहितस्य मोक्षस्य।

प्रभाकरसम्प्रदाये मोक्षस्वरूपम्

मीमांसाशास्त्रे सूत्रभाष्यग्रन्थवद्यद्यपि गुरोः प्रभाकरस्यापि नोपलभ्यते मोक्षविषयकं साक्षादभिमतं किञ्चित्तथापि प्रभाकरमतावलम्बिना शालिकनाथेन प्रकरणपञ्चिकायां विशदीकृतमेतन्मोक्षस्वरूपम्। साक्षाद्रीत्या प्रभाकरस्यात्र प्रतिपादनाभावेऽपि शालिकनाथस्य प्रभाकरमतपक्षपातित्वात्प्रकरणपञ्चिकायामालोकितं मोक्षस्वरूपं प्रभाकराभिमतमित्यङ्गीकारेऽपि न प्रतीयते काऽपि विप्रतिपत्तिः।

प्रकरणपञ्चिकायां शालिकनाथेन "आत्यन्तिकस्तु देहोच्छेदो निश्शेष धर्माधर्मपरिक्षयनिबन्धनो मोक्ष इति युक्तमि"[5]त्यनया पङ्क्त्या प्राप्तशरीरस्य

धर्माधर्मयोः पूर्णविनाशादात्यन्तिकोच्छेदत्वेन प्रकाशितं मोक्षस्वरूपम्। स्वविरचितस्य मोक्षस्वरूपस्य वैशद्यार्थमेभिः कृतं विवेचनं चरणत्रयेण पल्लवितुं शक्यतेः-

1. धर्माधर्मजन्यफलोपभोगायैव जायते शरीरेण सहात्मनः सम्बन्धरूपो बन्ध अत एव धर्माधर्मयोरेव वर्तते बन्धस्य हेतुत्वम्।
2. धर्माधर्मयोरेवात्मनश्शरीरसम्बन्धात्मकस्य बन्धस्य हेतुत्वाद्-द्वयोरेतयोर्विनाशाज्जन्मकारणस्याभावादात्मनो जन्ममूलत्वेन सञ्जातस्य शरीरेन्द्रियसम्बन्धस्य साध्यते परिसमाप्तिः।
3. आत्मनः शरीरमनसेन्द्रियसम्बन्धस्य सुखदुःखहेतुत्वादस्य परिक्षयादेव समस्तसुखदुःखात्मकस्य प्रपञ्चात्मकस्य बन्धस्य या परिसमाप्तिः सा एवैतेषामभिमता वर्तते मुक्तिः-

"धर्माधर्मवशीकृतो हि जीवस्तासु तासु योनिषु संसरति। स तयोरेकान्तोच्छेदे व्यपगतदेहेन्द्रियसम्बन्धस्समुत्खातनिखिलसांसारिकदुःखानुबन्धो मुक्त इत्युच्यते।"[6]

प्रभाकरमतावलम्बिनः शालिकनाथस्याभिमतं मोक्षस्वरूपं प्राच्यप्रतीच्योभयविद्यानदीष्णैराचार्यवर्यैः डॉ०-गङ्गानाथ-झा-महाभागैः 'पूर्वमीमांसा-इन-इट्स-सोर्सेस-सञ्ज्ञके स्वविरचिते ग्रन्थे चतुश्चरणेषु विशदीकृतम्ः-

1. भूमौ स्वकीये जीवने दुःखानामनुभवात् प्रथमं तावदुत्पद्यते दुःख-विषयिणी वितृष्णा।
2. यद्यपि प्राथमिके चरणे सुखेषु वितृष्णा नोत्पद्यते परन्तु चिन्तनपरम्परायां समारूढेऽस्यां व्यक्तौ सर्वेषां सुखानामवश्यमेव दुःखोत्पादकत्वमस्तीति समुत्पद्यतेऽनुभूतिः। अनयाऽनुभूत्या एव निखिलस्य प्रपञ्चस्य दुःखात्मकत्वानुभवादस्माज्जायते विरक्तिः। दुःखात्मकप्रपञ्चान्तर्गतानां सुखानामपि दुःखमिश्रितत्वेन सह दुःखोत्पादकत्वानुभवादाभ्यां सुखदुःखाभ्यां विरहितात्मकं मोक्षमवाप्तुम् एभ्यस्सुखेभ्योऽपि समुत्पद्यते विरक्तिः।
3. विरक्तस्तावन्मोक्षाय कास्यनिषिद्धकर्मवर्जनपुरस्सरं भोगेन प्रारब्धकर्मजन्यदुःखप्रणाशाय प्रवर्तते।
4. उक्तदिशा काम्यनिषिद्धकर्मपरित्यागात्तज्जन्यानां दुःखानामनुत्पादेऽपि सञ्चितकर्मराशेरनन्तत्वादस्या विनाशाय यदा मुमुक्षुः शमदमब्रह्मचर्यादीनां साधनानामवलम्बनेन सहात्मज्ञानमप्यवलम्बते तदा बन्धहेतुभूतानां कर्मणां त्यागान्नित्यकर्मणामनुष्ठानसहकृतेनात्मज्ञानेन शरीरेन्द्रियादिभ्यः सम्बन्धस्य विनाशादात्मनः मोक्षमधिगच्छति।[7]

रामानुजाचार्याभिमतं मोक्षस्वरूपम्

प्रकरणपञ्चिकाकर्तुः पृष्ठवर्तिभिर्धर्मपुरीवास्तव्यैः रामानुजाचार्यैः 'मोक्षोऽपि सकलदुःखोच्छेदरूपतया विलक्षणः पुरुषार्थ'[8] इत्यनया पङ्क्त्या निखिलदुःख-विनाशात्मकं मोक्षस्वरूपं संसाध्य "तत्प्राप्तिस्तु 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्य[9]' श्श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः,[10]' तरति शोकमात्मविदि[11]त्यादिश्रुतिविहितादात्म-ज्ञानादित्यनया पङ्क्त्या ज्ञानमात्रस्य मोक्षहेतुत्वं प्रतिपादितम्।[12]

भाट्टमीमांसायां मोक्षस्य द्वैविध्यम्

मीमांसायाः कुमारिलभट्टप्रवर्तितायां शाखायां मोक्षस्वरूपस्य यत्र कैश्चित्सुखदुःखाभावत्वमङ्गीक्रियते तत्रैव केचिभाट्टमतावलम्बिभिर्मीमांसकैरस्य मोक्षस्यानन्दात्मकत्वमपि प्रतिपाद्यते। सुखदुःखाभावत्वेन मोक्षमङ्गीकुर्वत्सु मीमांसकेषु भट्टपादैस्सह पार्थसारथिविश्वेश्वरभट्टप्रभृतयो विशेषेणोल्लेखनीयाः सन्ति। आनन्दरूपतावादे चिदानन्दनारायणपण्डितकमलाकरभट्टकाण्व-शङ्करशुक्लादीनां सुतरां विराजन्तेऽभिमतानि।

मोक्षस्याभावात्मकत्वे कौमारिलं मतम्

भाट्टमीमांसायामपि शरीरेण सहात्मनस्सम्बन्धस्य बन्धत्वमङ्गीकृत्य तदभावस्यात्मनस्स्वातन्त्र्यात्मकत्वेनाभिमतं मोक्षस्वरूपम्। भोगायतनं तावच्छरीरं वर्तते। मनस इन्द्रियाणाञ्चाभिमतं भोगसाधनत्वं, शब्दस्पर्शादीनां विषयाणां भोग्यत्वञ्च सर्वेष्वपि दार्शनिकप्रस्थानेषु प्रायः निरूपितं संलक्ष्यते। एभिश्शरीरेन्द्रिय-विषयैर्यदात्मना सह जायते सम्बन्धस्तदास्य प्रपञ्चसम्बन्धस्य बन्धत्वमुररीक्रियते मीमांसकैरपि। अस्मात्सम्बन्धादात्मनो विरह एव वर्तते भाट्टभिमतो मोक्षः।

भाट्टप्रस्थानप्रवर्तकाः कुमारिलभट्टपादाः मोक्षस्य सुखरूपत्वं नाङ्गीकुर्वन्ति। एतेषां दृष्ट्याभावात्मकत्वेनैवाभिमतं मोक्षस्वरूपम्। अत्रानन्दात्मकत्वेनाभिमतं मोक्षस्वरूपमिति चेत् तदाऽस्य स्वर्गरूपत्वमेव स्यात्। तदात्वे स्वर्गस्य कर्मजन्यत्वादस्य मोक्षस्याप्यनित्यत्वमेवापतितं स्यादित्युपन्यस्तं भट्टपादैस्तद्यथा वार्तिके–

सुखोपभोगरूपश्च यदि मोक्षः प्रकल्प्यते।
स्वर्ग एव भवेदेष पर्यायेण क्षयी च सः।।[13] इति।

अस्य मोक्षस्य सुखात्मकत्वाङ्गीकारे कर्मजन्यत्वं कर्मजन्यत्वाच्चास्यानित्यत्वमेव स्यात्। यतो हि कर्मकारणस्य भावपदार्थस्य नोपपद्यते नित्यत्वमत एवात्र मोक्षत्वं न सुखरूपत्वमपितु शरीरादिभ्यस्सम्बन्धाभावत्वमेवास्योपपद्यते स्वरूपम्। भाट्टपादैरत्र निष्पन्नस्य देहस्य प्रध्वंसाभावत्वेनानुत्पन्नानां शरीराणां प्रागभावत्वेन च मोक्षत्वं प्रतिपाद्य बन्धस्य कर्मजन्यत्वात्कर्मक्षयस्यैव मोक्षहेतुत्वमुपन्यस्यते वार्तिके -

न हि कारणवत् किञ्चिदक्षयित्वेन गम्यते।
तस्मात् कर्मक्षयादेव हेत्वभावेन मुच्यते।।[14] **इति।**

पार्थसारथिमिश्राभिमतं मोक्षस्वरूपम्

पार्थसारथिमिश्रा अपि शरीरेन्द्रियविषयात्मकात्प्रपञ्चादात्मनो राहित्यमेव मोक्षरूपत्वं शास्त्रदीपिकायां प्रतिपादयाञ्चक्रुः "तदस्य त्रिविधस्यापि बन्धस्यान्तिको विलयो मोक्ष"[15] इति।

यतो हि पार्थसारथिमिश्रा मोक्षे दुःखानुरूपं सुखस्याप्युच्छेदं स्वीकुर्वन्ति एतदर्थमेतेषामपि प्रतिपादने मोक्षस्य नास्ति सुखरूपत्वमपितु दुःखाभावत्वमेवैतेषामभिमतं वर्तते मोक्षस्वरूपम्।

गागाभट्टाभिमता मुक्तिः

सप्तदशशतख्रैस्ताब्दिकालिकैर्विश्वेश्वरभट्टापरनामधेयैर्गागाभट्टैरपि 'प्रपञ्चस्य सर्वथा विलयो मुक्तिः'[16] इत्यनया पङ्क्त्या दुःखाभावत्वमेव प्रतिपादितं मुक्तेः स्वरूपं भाट्टचिन्तामणौ।

मोक्षस्यानन्दात्मकत्ववादः

यद्यपि कुमारिलभट्टपार्थसारथिमिश्रप्रभृतिभिर्दुःखाभावत्वेनाङ्गीकृतो मोक्षस्तथाप्यस्यानन्दात्मकत्वेन स्वीकृतेरपि भाट्टप्रघट्ट एव प्रकाशतेऽपरोऽपि पक्षः। अत्र मोक्षस्यानन्दरूपतावादस्य पक्षधरेषु चिन्तकेषु चिदानन्दनारायणकमलाकरभट्ट शङ्करशुक्लप्रभृतयो विराजन्ते भाट्टमतावलम्बिनो मीमांसकाः।

चिदानन्दस्याभिमतम्

भाट्टमतावलम्बिना चिदानन्देन 'नीतितत्त्वाविर्भावे' वयन्तु सकलदुःखविलये सति नित्यनिरतिशयानन्दाभिव्यक्तिलक्षणं मोक्षमाचक्ष्महे।'[17] इत्यनेन प्रतिपादनेन मोक्षस्य दुःखाभावसहकृतमानन्दात्मकत्वं प्रकाशितम्।

नारायणभट्टाभिमतं मोक्षस्वरूपम्

मानमेयोदयग्रन्थस्य कर्तारो नारायणपण्डिता अपि मोक्षस्यानन्दात्मकत्वमेवाचक्षन्ते। दुःखानामत्यन्तसमुच्छेदे सति आत्मनि (स्वरूपतो) विद्यमानस्य सुखस्य या मनसा भुक्तिः सा एवैतेषां दृष्ट्या वर्तते कुमारिलभट्टप्रतिपादिता मुक्तिः। अयमेवार्थः कारिकया एभिः प्रकाश्यते-

दुःखात्यन्तसमुच्छेदे सति प्रागात्मवर्तिनः।
सुखस्य मनसा भुक्तिर्मुक्तिरुक्ता कुमारिलैः।।[18] **इति।**

अत्रात्मनि विद्यमानोऽयमानन्दः संसारावस्थायामपि कथमनुभवपथं नायाति चेत्वर्तते पूर्वपक्षस्य प्रश्नस्तर्ह्यस्य प्रश्नस्य समाधानार्थमेभिरुच्यते यत्संसारावस्थायामस्यानन्दस्यानुभूतयेऽपेक्षितायाः कारणसामग्र्याअभावादेव नानुभूयते विद्यमानोऽप्ययमानन्दः। आत्मनः स्वरूपभूतस्य मोक्षानन्दस्यानुभूतौ शरीरेन्द्रियादीनामात्यन्तिकविनाशानुगृहीतस्य मनस एव कारणत्वमेतेषामभिमतम्। संसारावस्थायां मनस्तु वर्तते परन्तु शरीरेन्द्रियादीनामात्यन्तिकविनाशसहकृतं तस्यास्तित्वं नास्त्येव। शरीरेन्द्रियादीनामात्यन्तिकविनाशात्मकेन विशेषणेनास्य मनसो विशिष्टत्वं मोक्षावस्थायामेव सम्भवति। संसारावस्थायां मोक्षानन्दानुभूतेः कारणात् सर्वथा विपरीतस्य शरीरेन्द्रियादीनां सद्भावसहकृतस्य मनस एवावस्थानादस्य मोक्षानन्दस्य विद्यमानत्वेऽपि न जायते प्रतीतिः।

यद्यप्यत्र **"अशरीरं वावसन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः"**[19]

इत्यनया श्रुत्या मोक्षावस्थायां शरीरेन्द्रियाणामभावात्सुखदुःखानामप्यभावान्मोक्षस्य अभावात्मकत्वमेव श्रुतिसिद्धमित्याक्षिपेरन् पूर्वपक्षिणस्तर्ह्येतेषामयमाक्षेपो नारायणभट्टानां दृष्ट्या नास्ति क्षोदक्षमः। मोक्षावस्थायाम् इन्द्रियजन्यसुखदुःखादीनाम् अभावप्रतिपादनमेव अस्याः श्रुतेः तात्पर्यमित्याशयो वर्तते नारायणभट्टवर्याणाम्। अनेनैव तात्पर्येण एभिरुच्यते यन्मुक्तेः सुखाभावत्वस्याङ्गीकारेऽस्य पुरुषार्थत्वमेव न स्यात् न हि कश्चिदभावसिद्धये प्रवर्तेत। एतदर्थं परमपुरुषार्थत्वेनाभिमतस्य मोक्षस्य पुरुषार्थत्वसिद्ध्यै मोक्षस्यानन्दात्मकत्वमेतेषां दृष्ट्यावश्यमेवाङ्गीकरणीयम्[20] इत्यलमतिपल्लवितेन।

कमलाकरभट्टाभिमतं मोक्षस्वरूपम्

मीमांसाकुतूहलकारैर्भट्टकुलावतंसैः कमलाकरभट्टपादैरपि मोक्षस्य

दुःखाभावत्वमात्रं निरस्य "तस्मात्सिद्धं नित्यसुखाभिव्यक्तिर्मुक्तिरित्यनया पङ्क्त्या नारायणभट्टानुरूपम् आत्मनः स्वाभाविकस्यानन्दस्याभिव्यक्तिरूपेणैव अस्यानन्दात्मकत्वं निरूपितम्। आत्मनो मुक्तौ आनन्दरूपता कथं भवेदित्यस्मिन्प्रश्ने समाधानार्थं कमलाकरभट्टैः मनसा स्वरूपभूतस्यानन्दस्यानुभूतिरूपं नारायणाभिमतं मतं परित्यज्य 'तत्त्वतस्तु अस्माकं मोक्षो वेदान्ताभिमतादभिन्न एव' इत्यनया पङ्क्त्या कैवल्यलक्षणात्मकमात्मनः स्वरूपभूतावस्थानं वेदान्ताभिमतं मोक्षस्वरूपमेव एतेषामभिमतमिति स्पष्टं प्रतिपादितम्।[21]

शङ्करशुक्लाभिमतं मोक्षस्वरूपम्

उज्जयिन्यां सिन्धियाप्राच्यविद्याशोधप्रतिष्ठाने पाण्डुलिपित्वेन वर्तमानस्याप्रकाशितस्य 'मीमांसार्थप्रदीप'-सञ्ज्ञकस्य ग्रन्थस्य लेखकैः काण्वशङ्करशुक्लमहाभागैरपि कमलाकरभट्टानुरूपं 'नित्यनिरतिशयसुखाभिव्यक्तित्वं मोक्षत्वम्' इत्यनया पङ्क्त्या मोक्षस्यानन्दात्मकत्वं संसाध्य 'एवं ब्रह्मसुखावाप्तौ नित्यत्वान्निरतिशयत्वाच्च लक्षणसमन्वय'[22] इत्यनया पङ्क्त्या मोक्षलक्षणस्य समन्वयं स्वीकुर्वद्भिरात्मनो वेदान्तपक्षपातित्वमपि सुतरां प्रकाशितम्।

'मोक्षे' उभयमतयोः समन्वयः

भाट्टप्रस्थानान्तर्गतानां मीमांसकानां मोक्षस्वरूपस्य प्रतिपादनेषु मोक्षस्य अभावात्मकत्वानन्दात्मकत्वयोः स्वरूपयोरापाततः प्रतीयमानेऽपि विरोधे विचार्यमाणेऽत्र विरोधाभास एव वर्तते न तु वास्तविको विरोधः। भट्टपादास्तावत्स्वर्गस्य भावात्मकत्वात्कर्मजन्यतयानित्यत्वाच्चास्य 'सुखोपभोगरूपश्च' इत्यनेन पूर्वोक्तेन वार्तिकेन मोक्षात्मकत्वं यद्यपि निराकुर्वन्ति तथापि अग्निहोत्रादीनामवश्यं फलवत्त्वनियमादेतेषामनुष्ठानस्य परित्यागाज्जैमिनेः शासनोल्लङ्घनदोषस्य च समुत्पन्नत्वादत्रोच्यते भट्टपादैर्यत्तदेव कर्म फलोत्पादकत्वाद्बन्धजनकं भवेत् यद् फलकामनाबुद्ध्या एवानुष्ठीयेत। फलकामनाविरहितेन चेतसा यदा कर्तव्यबुद्ध्या एवानुष्ठीयते तदा तदेव कर्म न बन्धजनकमपितु फलाजन्यत्वान्मोक्षसाधनमेव इत्यङ्गीक्रियते-

'प्रार्थ्यमानं फलं ज्ञातं न चानिच्छोर्भविष्यति'[23] इति।

वार्तिकमिदं विवृण्वद्भिः पार्थसारथिमिश्रैरपि न्यायरत्नाकरव्याख्यां भगवद्वाक्यमाश्रित्य प्रस्तूयते समाधानम्। भगवद्गीतायां भगवता कर्मफलविषयिणीं कामनां विहाय दिव्यभावनया कर्मानुष्ठानरतानामेव सन्न्यासीत्वं योगीत्वञ्च निरूपितम्-

'अनाश्रितं कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स सन्न्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः।।'[24]

अस्य भगवद्वाक्यस्यानुरोधादत्र पार्थसारथिभिरपि-

'सत्यम्, तानि तु फलाभिसन्धिकृतानि स्वफलदानेन पुरुषं बध्नन्ति, न त्वनभिसन्धिकृतानिति।'[25] इत्यनया पङ्क्त्या फलकामनाबुद्ध्यानुष्ठितानामेव कर्मणां बन्धजनकत्वमङ्गीकृत्य फलासक्त्याविरहितेन चेतसानुष्ठितानां फलाजनकत्वमेव प्रतिपाद्यते।

भट्टपादानां स्वर्गस्य मोक्षत्वेनाङ्गीकारस्य निराकरणेन सह स्वर्गफलोत्पादकानां नित्याग्निहोत्रादीनामनासक्तिभावेन विहितस्य प्रतिपादनस्य समन्वयात्मिकया दृष्ट्या पर्यालोचनेन प्रतीयते यदेतेषां दृष्ट्या फलकामनाबुद्ध्यानुष्ठितकर्मजन्यस्य स्वर्गस्यैव मोक्षत्वमेभिर्निराकृतम्। निरतिशयप्रीत्यात्मकेन यस्यानन्दस्य मोक्षत्वम् आनन्दरूपतावादिभिः प्रतिपादितं, तस्यापि विषयजन्यानन्देन वैलक्षण्यात् वैषयिकसुखाभावात्मकत्वेनात्मनः स्वरूपत्वमेव वर्तते। अस्यात्मनः स्वरूपभूतस्य सुखविशेषत्वेनाभिमतस्य स्वर्गस्य जन्यसुखदुःखानामभावात्मकेन मोक्षस्वरूपेण सह नास्ति कोऽपि विरोधः।

अस्य विवेचनस्य निष्कर्षस्तु अयमेव वर्तते यन्मोक्षस्यानन्दरूपतावादोऽपि जन्यसुखाभावस्यैव वर्तते एका भावात्मिका प्रतीतिः। वस्तुतस्तु जन्यसुखदुःखानामभावस्य मोक्षत्वमुभयवादि-सम्मतम्।

ज्ञानकर्मणोः समुच्चयस्य मोक्षकारणत्वम्

अनेकेषु विषयेषु सत्स्वपि विरोधेषु मोक्षसाधनत्वनिर्णये प्रभाकर-कुमारिलयोरुभयोरपि मतैक्यं परिलक्ष्यते। प्रभाकरमतावलम्बिनां शालिकनाथानां वर्तते प्रतिपादनमिदम् शमदमब्रह्मचर्यादिभिः साधनैः सहकृतेन आत्मज्ञानेन 'न स पुनरावर्तते'[26] इत्यनेनापुनरावृत्तिप्रतिपादकस्य श्रुतिवाक्यस्यानुरूपं निखिलं कर्माशयं नाशयन् मुमुक्षुर्मुक्तो भवति। अत्र ज्ञानस्य प्राधान्यं वर्तते कर्मणो वा? इत्यत्र एकस्मिन्नपि पक्षे प्राधान्यनिर्णयार्थं विनिगमनाभावात्परस्परमुभयोरङ्गाङ्गीभावस्य असिद्धत्वादगत्या ज्ञानकर्मणोः समुच्चय एवाङ्गीकरणीयो वर्तते।[27]

भट्टपादानामपि सिद्धान्ते ज्ञानकर्मणोः समुच्चय एव मोक्षसाधनत्वेनाङ्गीकृतो वर्तते। एतेषां वर्तते इदं प्रतिपादनम्-

आत्मज्ञाने समुत्पन्ने, प्रारब्धकर्मणां भोगेन नाशे सञ्जाते, नित्यनैमित्तिकानां कर्मणामनुष्ठानान्निषिद्धानाञ्चाननुष्ठानादुत्तरकर्मराशेरभावात्तस्यैव च शरीरोत्पत्तौ कारणत्वात् कर्माशयाभावात् शरीराभावात्मको मोक्षः सिद्धो भवति।

तत्र ज्ञातात्मतत्त्वानां भोगात् पूर्वक्रियाक्षये।
उत्तरप्रचयासत्त्वाद् देहो नोत्पद्यते पुनः।।[28]

मोक्षेऽस्मिन् ज्ञानमात्रस्य हेतुत्वं भट्टाभिमतं नास्ति। आत्मज्ञानेन सह काम्यनिषिद्धकर्मवर्जनपुरस्सरमकरणे प्रत्यवायोत्पादकानां नित्यनैमित्तिक-कर्मणामनुष्ठानस्यापि मोक्षहेतुत्वं कुमारिलभट्टपादैः सम्बन्धाक्षेपपरिहारवार्तिके स्पष्टरूपेणोपन्यस्तम्-

मोक्षार्थी न प्रवर्तेत तत्र काम्यनिषिद्धयोः।
नित्यनैमित्तिके कुर्यात् प्रत्यवायजिहासया।।[29]

भट्टपादैर्विरचितस्य 'तन्त्रवार्तिकस्य' राणकापराभिधया प्रसिद्धायां 'न्यायसुधायां' व्याख्याकारैर्भट्टसोमेश्वरैरपि "ननु निश्श्रेयसं ज्ञानाद् बन्धहेतोर्न कर्मणः' इत्यत्र प्रथमपङ्क्तौ 'ननु' शब्देनाशङ्कामुत्थाप्य-

'नैकस्मादपि तत्किन्तु ज्ञानकर्मसमुच्चयाद्'

इति द्वितीय-पङ्क्तौ प्रस्तूयते इदमेव समाधानं यज्ज्ञानकर्मणोः कस्याप्येकस्यावलम्बनेन यतो हि न साध्यते मोक्षोऽयं, तस्मात् कारणादत्रोभयोः समुच्चयस्यैव कारणत्वमङ्गीकरणीयमिति।[30]

अत्र ज्ञानकर्मसमुच्चये केनरूपेण समुच्चयो भवतीति समुत्थापितः प्रश्नः कमलाकरभट्टैः मीमांसाकुतूहले समप्राधानेन अङ्गाङ्गिभावेन वा?

अत्रेतेषामिदं समाधानं यद् 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' तरति शोक्मात्मवित्' इत्यादिभिः तनवज्ञानस्य मोक्षाहेतुत्वम्। तथा 'तमेतं वेदानुवचनेन विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन' सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा इत्यादिभिः श्रुतिवचनैः हारित स्मृतौ-

उभाभ्यामिवपक्षाभ्यां यथा रवे पक्षिणां गतिः।
तथैव ज्ञानकर्माभ्यां प्राप्यतेब्रह्मशाश्वतम्।।

इति श्रुतिस्मृतिप्रमाणसिद्धमिदं ज्ञानकमसमुच्चयस्य-मोक्षहेतुत्वमिति।

एवमेव 'अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते' इत्यत्र कर्मनिषेधात् 'ततो भूय इव ते य उ विद्यायां रताः इति केवलज्ञानस्यापि निषेधात् समुच्चय एव मोक्षहेतुत्वेन सिद्धोभवति।[31]

दर्शनप्रस्थानेषु कर्मणि प्रवर्तयितुमेव वर्तते मीमांसादर्शनस्य प्रवृत्तिः। सर्वसाधारणतया कर्मत्यागसहकृतेन ज्ञानेनैव मोक्षस्यावाप्तिः प्रतिपाद्यते दार्शनिकैः। अस्य मोक्षस्य स्थूलदृष्ट्या कर्मप्रवृत्तौ बाधकत्वमनुपश्यद्भिरेव सूत्रकारभाष्यकार-प्रभाकरैरत्र मौनमवलम्बितमिति प्रतीयते। कालान्तरे मोक्षविरहितस्यात्मनः पक्षस्य दर्शनत्वमेव कदाचिदङ्गीकृतं न स्यादित्यनया भीत्या मन्येऽग्रवार्तिभि-र्भाट्टप्रभाकरसम्प्रदायान्तःपातिभिराचार्यैर्विशदीकृतं मोक्षस्वरूपम्।

अस्य विवेचितस्य 'मोक्षस्वरूपस्य' सूत्रभाष्यग्रन्थयोरनुल्लेखादेवात्र मीमांसकैर्न्यायवेदान्तप्रस्थानयोरात्मनो रुचेरनुरूपमाकर्षितं मोक्षस्वरूपम्। येषां न्यायदर्शने आसीदभिरुचिस्तैरत्राभावात्मिका मुक्तिरङ्गीकृता। वेदान्तपक्षपातिभिस्तु न केवलं मुक्तेरानन्दात्मकत्वं स्थापितमपितु स्वपक्षस्य वेदान्ताभिन्नत्वमपि कण्ठतः स्वीकृतम्। मोक्षस्वरूपस्य निर्धारणे यद्यप्यङ्गीकृता मीमांसकैः न्यायदिशा वेदान्तदिशा वा, तथापि मोक्षसाधनत्वनिर्णये ज्ञानेन सह कर्मणामपि मोक्षसाधनत्वाङ्गीकारेणात्मनः कर्मप्रतिपादकत्वलक्षणं मीमांसकत्वमपि परिरक्षितमित्यलम्।

सन्दर्भ

1. तत्त्वसमाससूत्रम् सूत्रसङ्ख्या 22, पातञ्जलयोगप्रदीपे 107, पृष्ठे उद्धृतम्, पा०यो०प्र०गीताप्रेस-गोरखपुरम्, सं० 2051
2. साङ्ख्यदर्शनम् अ० 3, सू० सङ्ख्या 84 पृष्ठम् 510 चौ०सं० संस्थानम्, 1987
3. पातञ्जलयोगदर्शनम् पादसङ्ख्या 02 सू० सं० 26,
4. तत्त्वमसि छान्दोग्योप० 6/8/07
5. प्रकरणपञ्चिका पृ०-341, का०हि०वि०वि० वाराणसी, 1961
6. प्र० पञ्चिका पृ०-431
7. प्र० पञ्चिका पृ०-341, एवं Purva Mīmāmsa in its sources P. 31. B.H.U.Varanasi, 1964.
8. तन्त्ररहस्यम् पृ०-24, Baroda, Central library 1923.
9. आत्मा वाऽरे दृष्टव्यः बृहदा उ० 2/4/5 तथा 4/5/6
10. श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः वही

11. 'तरति शोकमात्मवित्' छान्दोग्योप० 3/2/9
12. 'तन्त्ररहस्यम्' पृ०-24
13. श्लोकवार्तिके सम्बन्धाक्षेपपरिहारवार्तिकम् वा०सं० 105
14. वही, वा०सं० 106
15. शास्त्रदीपिका पृ०-125 पङ्क्ति 30 कृष्णदासअकादमी, वाराणसी, 1988
16. भाट्टचिन्तामणि पृ०-43, पङ्क्ति 03 चौ०सं० सीरीज-ऑफिस-वाराणसी, 1933
17. नीतितत्त्वाविर्भाव:
18. 'मानमेयोदय:' पृ०-212 थियोसोफिकल-पब्लिशिंग-हाऊस-आड्यार-मद्रास-नगरी, 1933
19. 'अशरीरं वावसन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशत:'
20. ननु यदि संसारावस्थायामात्मसमवेत एवायमानन्दः तर्हि कथं नानुभूयते। अनुभवहेतोरभावादिति ब्रूमः। देहेन्द्रियादीनामात्यन्तिक परिध्वंसानुगृहीतं मनस्तदनुभवसाधनम्। किं तर्हि तादृशानन्दसद्भावे प्रमाणम्? आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्च मोक्षेऽभिव्यज्यत इति श्रुतिरेव। न च श्रुतिरानन्दानुभूतिबाधकेति वाच्यम्। तस्या वैषयिकप्रियाप्रियस्पर्शनिवृत्तिमात्रपरत्वात्। अन्यथा मुक्तेरपुरुषार्थत्वप्रसङ्गात्। मानमेयोदय पृ०-212
21. 'तस्मात्सिद्धं नित्यसुखाभिव्यक्तिर्मुक्तिरिति। तत्त्वतस्तु अस्माकं मोक्षो वेदान्तिमतादभिन्न एव।' मीमांसाकुतूहलम् पृ०-52
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय: वाराणसी, 1987
22. 'किं नाम मोक्षत्वं नित्यनिरतिशयसुखाभिव्यक्तित्वं मोक्षत्वम्। एवं ब्रह्मसुखावाप्तौ नित्यत्वान्निरतिशयत्वाच्च लक्षणसमन्वयः। तदतिरिक्तसुखावाप्तौ नातिव्याप्तिः। तत्र नित्यत्वनिरतिशयत्वाभावात्।' मीमांसार्थ-प्रदीप:, पृ०-11, सि०प्रा०शो०प्र० उज्जयिनी
23. श्लोकवार्तिकस्य सम्बन्धाक्षेपपरिहारे वार्तिकम् वा०सं० 111
24. 'अनाश्रितं कर्मफलं' भगवद्गीता 6, 01
25. 'सत्यम् तानि तु फलाभिसन्धिकृतानि स्वफलदानेन पुरुषं बध्नन्ति, न त्वनभिसन्धिकृतानीति।'' सं०क्षेप०प० वार्तिकस्य न्यायरत्नाकरव्याख्या
26. 'न स पुनरावर्तते' छान्दोग्योप० अ० 8
27. 'शमदमब्रह्मचर्यादिकाङ्गोपबृंहितेनाऽऽत्मज्ञानेन न स पुनरावर्ततइत्यपुनरावृत्तये चोदितेन निश्शेषकर्माशयं नाशयन् मुच्यते प्रकरण-पञ्चिका, पृ०-341
28. श्लोकवार्तिकम् सम्बन्धाक्षेपपरिहारवार्तिकसङ्ख्या 108
29. श्लोकवार्तिकम् सम्बन्धाक्षेपपरिहारवार्तिकसङ्ख्या 110
30. प्रकरणपञ्चिकायामात्मवादपरिशिष्टम् पृ०-352 प्रकरण-पञ्चिका, का०हि०वि०वि० वाराणसी, 1961
31. मीमांसाकुतूहलम्। पृ० 361

मीमांसादर्शन की स्वरूपमीमांसा

8. भाट्टमीमांसा की वेदार्थ समन्विति
9. मीमांसा में प्रेय तथा श्रेय की अवधारणा
10. मीमांसा का नैतिक तथा सामाजिक अवदान
11. मीमांसादर्शन का लोकोपयोगी स्वरूप
12. मीमांसा का एकवाक्यता सिद्धान्त
13. मीमांसा में समन्वय एवं एकत्वनिष्पादन की प्रवृत्ति
14. मीमांसा में अपूर्वविधि की अवधारणा
15. पूर्व मीमांसा में अपूर्वता के त्रिविध आयाम
16. न्याय, व्याकरण तथा मीमांसा का अर्थसिद्धान्त
17. भाट्ट–मीमांसाभिमत वाक्यार्थ एवं शाब्दबोधप्रक्रिया

8

भाट्टमीमांसा की वेदार्थ-समन्विति

भारतीय चिन्तन की आस्तिक शाखाओं ने अपने समग्र चिन्तन का प्रामाण्य वेद में खोज कर नितान्त गौरव का अनुभव किया है। इन आस्तिक विचार-धाराओं में भी मीमांसा तथा वेदान्त का समग्र चिन्तन साक्षात् रूप से वेद की अर्थनिष्पत्ति पर ही अवलम्बित है। मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद[1] के समग्र अर्थ का ज्ञान मात्र में समावेश जहाँ वेदान्त का लक्ष्य है, वहीं जैमिनि का स्पष्ट कथन है कि "समग्र वेद, क्रिया (कर्मकाण्ड) का उपेदश देता है अतएव वेद में ऐसे अंश, जिनका कर्म के साथ सम्बन्ध नहीं है, वे अर्थहीन हैं, अतः अनित्य कहे जाते हैं[2] फलतः वेद के समग्र वाक्यों का किसी न किसी कर्म मे समन्वय तथा उनकी अर्थ-निष्पत्ति में प्रतीत होने वाली असङ्गति का परिहार ही सम्पूर्ण मीमांसा का प्रयोजन है। समग्र वेदार्थ को कर्म के रूप में स्थापित करने के उद्देश्य से ही वेद को विधि, अर्थवाद, मन्त्र और नामधेय, इन चार प्रमुख भागों में विभक्त कर उनका विस्तृत विवेचन किया गया है।

महर्षि जैमिनि ने धर्म के रूप में प्रतिपादित कर्मात्मक वेदार्थ की पूर्ण निष्पत्ति के उद्देश्य से अपने सूत्रग्रन्थ को बारह अध्यायों में विभक्त कर उनमें से प्रथम में धर्म, द्वितीय में धर्म-भेद, तृतीय में अङ्गाङ्गि-भाव, चतुर्थ में यागकर्ता के गुण, पञ्चम में क्रम, षष्ठ में अधिकार, सप्तम तथा अष्टम में क्रमशः सामान्य तथा विशेष अतिदेश, नवम में ऊह, दशम में बाध, एकादश में तन्त्र तथा द्वादश अध्याय में प्रसङ्ग का निरूपण कर 'कर्म' के रूप में समग्र वेदार्थ को प्रतिपादित किया है।

वेदाऽपौरुषेयत्व तथा वेदार्थसमन्वय

महर्षि जैमिनि ने वेद को पुरुषनिष्ठ दोषों से रहित सर्वथा निर्दोष प्रतिपादित

करने के लिए युक्तिपूर्वक वेद के अपौरुषेयत्व का प्रतिपादन किया है। महर्षि ने प्रथम पूर्वपक्ष की दृष्टि से "वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्या[3]" तथा "अनित्यदर्शनाच्च"[4] इन दो सूत्रों के माध्यम से वेद के अपौरुषेयत्व तथा नित्यत्व पर प्रश्नचिह्न उपस्थित किया है। प्रथम सूत्र का आशय यह है कि "चूँकि वेद के कर्ता के रूप में काठक आदि पुरुषों के नामों का उल्लेख है अतः वेद पौरुषेय होने से आधुनिक (सन्निकर्ष) है।

द्वितीय सूत्र यह कहता है कि वेद में जन्म-मरण वाले बबर, कुसुरविन्द, औद्दालकि आदि अनित्य व्यक्तियों का उल्लेख है अतः वेद का इनके पूर्व में अभाव होने के कारण इन्हें नित्य नहीं माना जा सकता है।

महर्षि जैमिनि ने पूर्वपक्ष की दृष्टि से उत्थापित शङ्काओं का "आख्या प्रवचनात्"[5] तथा परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्"[6] इन दो सूत्रों द्वारा समाधान कर वेद की सार्वभौम सत्ता स्थापित की है।

समाधानार्थ प्रस्तुत प्रथम सूत्र में यह कहा गया है कि "औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः"[7] इस सूत्र से चूँकि शब्दरूप वेद, वेदार्थ (कर्म) तथा इनका (प्रत्यायकत्व) सम्बन्ध, इन तीनों की नित्यता प्रतिपादित की गई है अतः वेद में श्रुत कठ आदि पुरुष वेद के निर्माता नहीं हैं, अपितु प्रवचनकर्ता हैं।

वेद के अनित्यत्व की शङ्का के निवारक द्वितीय सूत्र का यह प्रतिपादन है कि वेद में जो "बबर" आदि का उल्लेख है, वहाँ इन नामों वाले किसी व्यक्ति की विवक्षा नहीं है अपितु यह केवल शब्द-सामान्य है।

श्रीमाधवाचार्य ने भी यही प्रतिपादित किया है कि कठ आदि वेद के प्रवचनकर्ता के रूप में उल्लिखित हैं, कर्ता के रूप में नहीं। इसके अतिरिक्त वेद के किसी कर्ता की भी उपलिब्ध नहीं होती अतः वेद (पौरुषेय) वाक्य नहीं है अपितु अपौरुषेय है।[8]

महर्षि जैमिनि के पश्चात् बौद्धादि नास्तिक तथा अद्वैतादि आस्तिक दार्शनिकों से कर्मात्मक धर्मरूपी वेदार्थ के तार्किक धरातल पर संरक्षण हेतु मीमांसा ने दार्शनिकता का भी परिवेश ग्रहण कर लिया। यद्यपि दार्शनिक दृष्टि से ज्ञान-मीमांसा तथा तत्त्व-मीमांसा की परिधि में समाविष्ट सभी विषयों पर मीमांसकों ने गम्भीरतापूर्वक चिन्तन किया है, तथापि समग्र चिन्तन के मूल में वेद द्वारा प्रतिपादित कर्मात्मक धर्म की सङ्गति ही निहित है। दर्शन के तत्त्वमीमांसा के भाग

में समाविष्ट अपूर्व तथा आत्मा इन दो प्रमुख तत्त्वों के साथ "ज्ञानमीमांसा" के भाग में विद्यमान ज्ञानग्राहकत्व, प्रमाण लक्षण, प्रामाण्य का स्वतस्त्व तथा दीर्घसत्र एवं देवता-सिद्धान्त के प्रतिपादन में भी किसी न किसी रूप से विद्यमान वेदार्थ के समन्विति की भावना दृष्टिपथ को आलोकित कर देती है।

अपूर्व एवं आत्मतत्त्व की स्वीकृति तथा वेदार्थ समन्वय

कर्मकाण्ड-प्रधान मीमांसाशास्त्र में विधि वाक्यों द्वारा प्रतिपादित यज्ञात्मक कर्म की सङ्गति के लिए ही अपूर्व तथा आत्मतत्त्व का अस्तित्व माना गया है। "**अग्निहोत्रं जुहोति**" इत्यादि वैदिक वाक्यों द्वारा प्रतिपादित यज्ञरूपी कर्म से किसी फल की प्राप्ति न हो तो ऐसी स्थिति में कर्म के अनुष्ठान में किसी की प्रवृत्ति नहीं होगी। याग, क्रिया होने से विनष्ट हो जाता है, अतः याग-क्रिया से जन्य, यजमान को फल-प्राप्ति पर्यन्त विद्यमान रहने वाले एक अवान्तर व्यापार के रूप में अपूर्व या अदृष्ट तत्त्व की परिकल्पना की गई है। इस अपूर्व की परिकल्पना में निहित कर्म-रूप वेदार्थ की सङ्गति की भावना को "तन्त्रवार्तिक" में कुमारिल भट्ट ने स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त कर दिया है-

"चिरकाल में पश्चात् मिलने वाले फल के लिए विहित कर्म क्षणिक हैं अतः बिना अपूर्व-कल्पना के कर्मसङ्गति नहीं हो पाती इसीलिए अपूर्व को माना गया है।[9]

भारतीय दर्शन की आस्तिक-परम्परा, आत्मतत्त्व को केन्द्र में रखकर ही अपनी तत्त्वमीमांसा में प्रवृत्त हुई है। आत्मवादी न्यायवैशेषिक, साङ्ख्ययोग, वेदान्त तथा मीमांसा इन सभी ने आत्मतत्त्व का अस्तित्व स्वीकार किया है परन्तु मीमांसा तथा शेष आस्तिक दर्शनों का आत्मास्तित्ववाद के प्रयोजन में स्पष्ट रूप से भेद परिलक्षित होता है। मीमांसा से भिन्न आस्तिक सम्प्रदायों में जहाँ कैवल्य या मोक्ष की निष्पत्ति, आत्मा के अस्तित्व के प्रयोजन के रूप में अभिव्यक्त हुई है, वहाँ मीमांसा में कर्मसङ्गति ही आत्मास्तित्व का प्रमुख प्रयोजन है।

श्लोकवार्तिक में आचार्य कुमारिलभट्ट ने स्पष्ट रूप से कहा है कि "आत्म -ज्ञान का जो उपदेश दिया गया है वह मोक्ष प्राप्ति के उद्देश्य से नहीं है, अपितु कर्म में प्रवृत्त की सङ्गति हो सके यही आत्म-ज्ञान का प्रयोजन है।[10]

पार्थसारथि मिश्र ने भी कर्मसङ्गति के लिए ही आत्मतत्त्व का अस्तित्व प्रतिपादित किया है। उनका कहना है कि "यह यज्ञरूपी आयुध वाला यजमान

शीघ्रता से स्वर्गलोक जा रहा है" ("स एष यज्ञायुधी यजमानोऽञ्जसा स्वर्गं लोकं याति") इस वाक्य में "स" यह पद शरीर के स्वर्ग-गमन का प्रतिपादन नहीं करता है अपितु इसके द्वारा शरीरवान् आत्मा के स्वर्ग-गमन का प्रतिपादन किया गया है।[11]

पार्थसारथि मिश्र ने भी "यज्ञ" रूपी कर्म का स्वर्गरूपी फल के साथ समन्वय हो सके, इसी उद्देश्य से आत्म तत्त्व का प्रतिपादन किया है। इनके द्वारा प्रतिपादित "आत्मतत्त्व" के विवेचन के मूल में वैदिक वाक्य के सङ्गति की भावना ही प्रमुख रूप से परिलक्षित होती है।

ज्ञान-मीमांसा तथा वेदार्थसङ्गति

महर्षि जैमिनि ने चूँकि कर्म को ही वेदार्थ माना है अतः इनके द्वारा प्रवर्तित मीमांसा-दर्शन में मोक्ष को ज्ञान का प्रयोजन न मानकर कर्म को ही ज्ञान का प्रधान प्रयोजन माना गया है। ज्ञान-मीमांसा के विषयभूत ज्ञान की ग्राहकता तथा ज्ञान-प्रामाण्य के सन्दर्भ में भाट्टमीमांसा का दृष्टिकोण पूर्णरूप से वेदार्थ कर्म की सङ्गति पर ही अवलम्बित है।

भाट्टमत में प्रथम व्यवसायात्मक घटज्ञान के पश्चात् उत्पन्न ज्ञाततान्यथानुपपत्तिप्रसूता अर्थापत्ति या अनुमान से ज्ञान का ग्रहण माना गया है। इस सन्दर्भ में आचार्य कुमारिलभट्ट का कथन है कि "ज्ञान में बाह्यवस्तु के प्रकाशन का सामर्थ्य है, स्वप्रकाशन का नहीं।[12]

विषय को ज्ञानाकार मानने वाले बौद्ध तथा समग्र प्रपञ्च को ज्ञान का विवर्त मानने वाले वेदान्त से विपरीत जगत् को पारमार्थिक रूप से सत्य स्वीकार करने वाले भाट्टमतावलम्बियों के लिए यह आवश्यक है कि वे ज्ञानग्राहकता के सन्दर्भ में ऐसे सिद्धान्त को मानें जिससे विषय, ज्ञान से पृथक् सिद्ध हो सके। यदि विषय को ज्ञान से पृथक् नहीं मानेंगे तो ऐसी स्थिति में वह ज्ञान का विवर्त बन जाएगा, फलतः याग ज्ञान का विषय "याग" भी अलीक हो जाएगा। परिणामस्वरूप वेद जिस कर्म (याग) का प्रतिपादन करता है, उसकी पूर्णरूप से असङ्गति हो जाएगी। इस असङ्गति से बचने के उद्देश्य से "विषय" याग के अस्तित्व की रक्षा के लिए ही ज्ञान का ग्रहण विषयनिष्ठ ज्ञातता के आधार पर माना गया है।

प्रमाण तथा प्रामाण्य के सिद्धान्त में वेदार्थ-समन्वय

भारतीय दर्शन की समस्त शाखाओं ने अपने सिद्धान्त के अनुरूप प्रमाण

का लक्षण प्रतिपादित किया है। नैयायिकों ने यथार्थ अनुभवात्मक प्रमा के कारण को प्रमाण माना है परन्तु कर्मात्मक वेदार्थ की सङ्गति के दृष्टिकोण से मीमांसकों में कुमारिलभट्ट ने महर्षि जैमिनि के औत्पत्तिकसूत्र के आधार पर अनुपलब्ध अर्थात् अज्ञात (अनग्रहीत) अर्थ के प्रतिपादक को प्रमाण निरूपित किया है।

महर्षि जैमिनि ने विधिमात्र को धर्म में साक्षात् प्रमाण माना है। विधिवाक्यों के बिना अन्य प्रमाणों से "याग" रूपी अर्थ अज्ञात रहने से इस यागात्मक कर्म के प्रतिपादक विधिवाक्य में प्रमाणत्व की सङ्गति स्थापित करना ही भाट्ट सम्प्रदाय-सम्मत प्रमाणलक्षण का प्रयोजन है।

प्रामाण्य के स्वतस्त्व का सिद्धान्त

मीमांसा दर्शन में कर्म-सङ्गति को ध्यान में रखकर ही प्रमाणों से जन्य ज्ञान के प्रामाण्य में स्वतः प्रामाण्यवाद के सिद्धान्त को मान्यता दी गई है। स्वतः प्रामाण्यवाद के सन्दर्भ में आचार्य कुमारिलभट्ट का कहना है कि-

"सभी प्रमाणों से उत्पन्न (ज्ञान) में प्रामाण्य को स्वतः मानना चाहिए। (यदि ज्ञान में प्रामाण्य का स्वतस्त्व न माना जाए तो ऐसी स्थिति में) जिसमें स्वयं पदार्थ को यथार्थ रूप से प्रकाशित करने का सामर्थ्य नहीं है, उन (ज्ञानों) में किसी अन्य के द्वारा भी प्रामाण्य उत्पन्न नहीं किया जा सकता।[14] आचार्य कुमारिलभट्ट के अनुरूप उनके सम्प्रदाय के विद्वान् पार्थसारथि मिश्र ने भी " विज्ञान का प्रामाण्य स्वतः निश्चित हुआ करता है"[15] यह कहते हुए प्रामाण्य के स्वतस्त्व को स्थापित किया है।

मीमांसा का यह स्वतःप्रामाण्यवाद कर्म की सङ्गति के उद्देश्य से ही प्रतिपादित किया गया है। किसी भी कार्य में मानव की प्रवृत्ति उस कार्य के ज्ञान के पश्चात् उसकी यथार्थता के विषय में संशय होने पर भी हो जाती है। प्रवृत्ति के पश्चात् प्रवृत्ति सफल होने पर प्रवृत्ति साफल्य-रूपी हेतु के आधार पर निष्पादित अनुमान द्वारा पूर्व में प्राप्त कार्य के ज्ञान का प्रामाण्य निश्चित हो जाता है। यह न्यायशास्त्र का सिद्धान्त है।"[16]

मीमासंक अधिगत ज्ञान में कोई संशय की स्थिति न मानकर ज्ञात कर्मानुष्ठान में पूरी निष्ठा तथा विश्वास से प्रवृत्ति के प्रतिपादक हैं अतः उत्पत्ति तथा ज्ञप्ति, दोनों स्थितियों में, 'ज्ञान' के स्वतः प्रामाण्यगद का इन्होंने प्रतिपादन किया है।

दीर्घ सत्र एवं देवता के शब्दत्व के सिद्धान्त में कर्म-समन्विति

तत्त्वमीमांसा में अपूर्व एवं आत्मतत्त्व तथा प्रामाण्य के स्वतस्त्ववाद के अनुरूप सहस्रसंवत्सर तक चलने वाले याग के सन्दर्भ में लाक्षणिक अर्थ का प्रतिपादन तथा देवता के शब्दत्व का सिद्धान्त भी मीमांसा ने वेद-बोधित कर्म की सङ्गति के लिए ही प्रतिपादित किया है।

व्याकरणमहाभाष्य के पस्पशाह्निक में **"अप्रयुक्ते दीर्घसत्रवत्"**[17] इस वार्तिक की व्याख्या करते हुए महाभाष्यकार ने लिखा है कि दीर्घसत्र सौ वर्ष तथा सहस्त्र वर्ष के होते हैं। उन्हें कोई कर नहीं सकता तथापि केवल ऋषि-सम्प्रदाय मानकर ब्राह्मण लोग पढ़ते हैं तथा कल्पसूत्र द्वारा याज्ञिक लोग इन यागों का वर्णन भी करते हैं।[18]

प्रकृत स्थल में चूँकि महाभाष्यकार का प्रयोजन कर्म की सङ्गति का प्रतिपादन नहीं है इसलिए इन्होंने इस प्रसङ्ग को गम्भीरता से न लेकर ऊपर से छूकर छोड़ दिया है परन्तु ऐसे सत्रों में भी मानव की प्रवृति अबाध रूप से हो सके इसलिए महर्षि जैमिनि ने पूर्व पक्षी कार्ष्णाजिनि की दृष्टि से "सहस्त्र संवत्सर याग" को किसी व्यक्ति विशेष का न मानकर सन्तान-परम्परा से पूरे वंश का मानते हुए[20] इस याग म पुरुष-प्रवृत्ति की सङ्गति का प्रतिपादन किया है।

पूर्व पक्षी कार्ष्णाजिनि के मत में पूरे यजमान के वंश की कल्पना में गौरव दोष देखकर महर्षि जैमिनि ने 'संवत्सर' शब्द के मूख्यार्थ वर्ष के स्थान पर लाक्षणिक 'दिवस' रूप अर्थ का प्रतिप्रादन करते हुए इस सहस्त्र संवत्सर याग के अनुष्ठान में भी पुरुषवृत्ति की उपपत्ति प्रदर्शित कर दी है।

इसी प्रकार वेदार्थ याग की सङ्गति के लिए "याग" के अङ्गद्वय द्रव्य तथा देवता में से देवता को भी विग्रहरहित शब्दात्मक रूप में प्रतिपादित किया गया है। इन्द्र, सूर्य, सोम, अग्नि आदि शब्दों से प्रतिपाद्य देवता तत्त्व को हवि के ग्राहक रूप में विग्रहवान् न मानकर उनके स्वरूप में प्रतिपादक "इन्द्राय स्वाहा" आदि चतुर्थ्यन्त पद (शब्द) के रूप में माना गया है। देवता का शब्दात्मकत्व इसलिए भी प्रमाणित होता है कि विधि वाक्य में देवता के वाचक के रूप में श्रुत शब्द ही आवाहन, त्याग एवं सूक्तवाक् आदि में प्रयुक्त होता है। देवता यदि शब्दमयी न होकर विग्रहवान् होती तो "आग्नेयमष्टाकपालम्" इत्यादि स्थलों में अग्नि के स्थान पर "जातवेदम्" आदि पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग भी स्वीकृत होता, परन्तु ऐसा नहीं होने से भी देवता के शब्दमयत्व की ही सिद्धि होती है।[21]

प्रकृत स्थल में सङ्गति यह है कि यदि देवता को विग्रह से युक्त माना जाता तो ऐसी स्थिति में किसी एक यजमान द्वारा याग विशेष में उसका आवाहन होने पर उसी समय अन्य स्थान पर दूसरे यजमान द्वारा प्रयुक्त याग में उसकी उपस्थिति असम्भव हो जाती है क्योंकि कोई भी विग्रहवान् एक साथ अनेक स्थानों पर उपस्थित नहीं हो सकेगा फलतः जहाँ उसकी उपस्थिति नहीं होगी वह यागात्मक कर्म सम्पन्न नहीं हो पाएगा। एवञ्च ऐसी स्थिति में "यज्ञ" की असङ्गति का भय उपस्थित हो जाता है। शब्दात्मक देवता की एक साथ अनेक स्थानों पर उपस्थिति में कोई बाधा नहीं होती अतः देवता के शब्दात्मकत्व का सिद्धान्त भी वेदार्थ कर्म की सङ्गति के लिए ही प्रतिपादित किया गया है।

उपसंहार

यद्यपि महर्षि जैमिनि द्वारा प्रवर्तित मीमांसाशास्त्र, मुख्य रूप से वेद द्वारा प्रतिपादित यागात्मक कर्म का ही विश्लेषण करता है तथापि याग की सङ्गति के निमित्त आत्मतत्त्व के प्रतिपादन के साथ प्रमाण, प्रामाण्य तथा शरीर-इन्द्रियादि बाह्य पदार्थों के प्रतिपादन में तार्किकता का अवलम्बन, इसे दार्शनिक सम्प्रदायों की श्रेणी में स्थापित कर देता है। मीमांसा को छोड़कर अन्य दर्शन जहाँ निरपेक्ष रूप से अपनी तत्त्वमीमांसा का प्रतिपादन करते हैं तथा उसकी प्रामाणिकता की सङ्गति के लिए वेद का अवलम्बन करते हुए आस्तिक दर्शन कहलाते हैं वहाँ मीमांसा की स्थिति अन्य दर्शनों से इस अंश में विपरीत है। इस दर्शन ने मुख्य रूप से ज्ञान-मीमांसा तथा तत्त्वमीमांसा का प्रतिपादन नहीं किया है। इसका मुख्य कार्य वेदार्थ (कर्मकाण्ड) को विशद रूप से प्रकाशित करना है। इस वेदार्थ की सङ्गति में विचारार्थ प्रवृत्त होने पर आनुषङ्गिक रूप से इसकी ज्ञानमीमांसा तथा तत्त्वमीमांसा विकसित हुई है। अन्य आस्तिक दर्शन, जहाँ अपने सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए वेद की अपेक्षा रखते हैं, वहाँ इसने वेदार्थ के प्रकाशन की प्रक्रिया में अपने सिद्धान्त विकसित किये हैं। इस दर्शन के सम्पूर्ण स्वरूप का परिशीलन यह प्रमाणित करता है कि वेदार्थ- विश्लेषण में सर्वथा समर्पित यह मीमांसाशास्त्र मात्र एक वैदिक दर्शन नहीं है, अपितु वेद का एक अविभाज्य उपकारक अङ्ग भी है।

सन्दर्भ

1. मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् आप० परि० 1, 33।

2. आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम् तस्मादनित्यमुच्यते'' जैमिनिसूत्र 1, 2, 1।
3. जैमिनिसूत्र 1, 1, 27।
4. जैमिनिसूत्र 1, 1, 28।
5. जैमिनिसूत्र 1, 1, 30।
6. जैमिनिसूत्र 1, 1, 31।
7. जैमिनिसूत्र 1, 1, 05।
8. समाख्यानं प्रवचनाद् वाक्यत्वं तु पराहतम्।
तत्कर्त्रनुपलम्भेन स्यात्ततोऽपौरुषेयता।। जै० न्या० मा० 1, 1, 8।
9. फलाय विहितं कर्म क्षणिकं चिरभाविने।
तत्सिद्धिर्नान्यिथेत्येवमपूर्वं प्रति गम्यते।। तन्त्रवार्तिक अजिता, पृ० 36।
गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, प्रयाग, 1990 ई०।
10. आत्मा ज्ञातव्य इत्येतन्मोक्षार्थं न च चोदितम्।
कर्मप्रवृत्तिहेतुत्वम् आत्मज्ञानस्य लक्ष्यते। श्लोकवार्त्तिकम्, पृ० 474
तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, 1978।
11. ''नह्यनेन शरीरस्य स्वर्गगमनमुच्यते किंतर्ह्यात्मनो यस्यैतच्छरीरम्।''
शास्त्रदीपिका, पृ० 119 कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 1988।
12. प्रकाशकत्वं नैवं पर्यनुयुज्यते'' श्लो० वा० 186, पृ० 320 चौ० संस्करण।
13. द्रष्टव्य शोधपत्र क्र० 02।
14. स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्ययताम्।
न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तृमन्येन शक्यते।। श्लोकवार्त्तिकम्, पृ० 45।
15. ''विज्ञानस्य प्रमाणत्वं स्वतो निर्णीयते यथा।'' न्यायरत्नमाला, पृ० 36, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी ई० 1900।
16. ''तथाहि इदं ज्ञानं प्रमा, संवादिप्रवृत्तजनकत्वात् यन्नैवं तन्नैवं, यथाऽप्रमा'' न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, पृ० 438, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, तृतीय संस्करण, 1983।
17. वार्तिक, उद्धृत पस्पशाह्निक, पृ० 51, व्याकरणमहाभाष्यम् चौखम्भा विद्या भवन वाराणसी, तृतीय संस्करण 1988।
18. यद्यप्यप्रयुक्ताः अवश्यं दीर्घसत्रवल्लक्षणेनानुविधेया। तद्यतथा दीर्घसत्राइमवार्षशतिकानि वार्षसहस्त्रिकाणि च। न चाद्यत्वे कश्चिदप्याहरति। केवलमृषिसम्प्रदायो धर्म, इति कृत्वा याज्ञिकः शास्त्रेणानुविदधते। व्या०मा०भा० पृ० 53, चौ० वि० भवन, वाराणसी, 1988।
19. संवत्सरो वा विचलितवात् जैमिनिसूत्र 6. 7. 38।
20. संकुल्यस्यादिति कार्ष्णाजिनिरेकस्मिन्नसम्भवात्'' जैमिनिसूत्र 6.7.35।
21. द्रष्टव्य, मीमांसा दर्शन का विवेचनात्मक इतिहास, पृ० 35, डॉ० गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, 1992।

9

मीमांसा में प्रेय तथा श्रेय की अवधारणा

भारतीय दर्शन की सम्पूर्ण चिन्तन-प्रक्रिया, प्रेय तथा श्रेय, इन दो शब्दों से अभिव्यक्त होने वाले इनके विशिष्ट अर्थों के द्वारा चतुर्दिक् परिव्याप्त है।

दार्शनिक चिन्तन की समस्त शाखाओं में प्रतिपादित तत्त्वमीमांसा तथा ज्ञानमीमांसा का प्रधान लक्ष्य इनके प्रकाशन में ही निहित है। लोकमानस में प्रेय तथा श्रेय इन दोनों तत्त्वों तथा इनकी निष्पत्ति के साधनभूत प्रेयोमार्ग तथा श्रेयोमार्ग के प्रति विद्यमान भावना, भारतीय चिन्तन की लगभग सभी शाखाओं में अभिव्यक्त हुई है। दार्शनिक चिन्तन के केन्द्र में अवस्थित इन दोनों तत्त्वों के माध्यम से प्रेयोरूपी सांसारिक सुखों से लेकर निःश्रेयस् की अवाप्ति तक की बौद्धिक विकास की यात्रा भी प्रकाशित हो गई है।

मीमांसा में प्रेय एवं प्रेयः-समन्वित श्रेय तथा उसका मार्ग

भारतीय चिन्तन के नास्तिक वर्ग में समाविष्ट चार्वाकदर्शन व्यक्ति के लिए सांसारिक सुखों की प्राप्ति को ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य प्रतिपादित कर प्रेयोमार्ग का प्रकाशन करता है। नास्तिकवर्ग में परिगणित बौद्ध तथा जैन एवं आस्तिक चिन्तन की श्रेणी में प्रतिष्ठित साङ्ख्य-योग, न्याय-वैशेषिक तथा वेदान्त, ये सभी दर्शन एक स्वर से समस्त सांसारिक सुखों के साथ पारलौकिक सुखों में भी दुःखों की बहुलता तथा दुःखमिश्रणता का अवलोकन करते हैं। उभयविध सुख, दुःख-मिश्रित होने के कारण, इनके साधन लौकिक कर्म तथा वैदिक यज्ञमार्ग भी, इनकी दृष्टि में हेय हैं। इन दोनों सुखों से विपरीत दुःखाभाव के रूप में या सम्पूर्ण आनन्द की अवस्था के रूप में मान्य अपवर्ग या निःश्रेयस् को श्रेय मान कर उसके साधन को ही इन्होंने श्रेयोमार्ग के रूप में प्रकाशित किया है।

महर्षि जैमिनि द्वारा प्रवर्तित मीमांसादर्शन, सांसारिक दुःखों से निवृत्ति हेतु एक ऐसे सुख-विशेष की परिकल्पना करता है जो दुःखों से सर्वथा रहित हो। जैमिनि ने सबको समान रूप से अभिलाषित इस सुख-विशेष को स्वर्ग के नाम से प्रकाशित कर यागात्मक धर्म को ही इसके साधन के रूप में अभिव्यक्त किया है।

महर्षि जैमिनि यद्यपि स्वर्ग को श्रेय तथा उसके साधन यागानुष्ठान को श्रेयः-साधन के रूप में प्रकाशित करते हैं तथापि इनसे प्रवर्तित मीमांसा में मात्र श्रेय ही अभिमत है प्रेय नहीं, ऐसा नहीं कहा जा सकता; क्योंकि वैदिक विधिवाक्यों के विवेचन से कर्त्तव्य का निर्धारण करना ही मीमांसा का कार्य है। वैदिक वाक्य जहाँ श्रेयोरूप स्वर्ग की निष्पत्ति के लिए विशेष कर्मों का प्रतिपादन करते हैं वहीं लौकिक अर्थ तथा लोक एवं परलोकमिश्रित अर्थों की निष्पत्ति के लिए भी कर्मानुष्ठानों का निर्देश प्रदान करते हैं। इतना अवश्य है कि मीमांसा अविहित सांसारिक सुख को नहीं मानती, परन्तु विहित समृद्धि, प्रतिष्ठा आदि को स्वीकार कर इनके साधक अनुष्ठानों की प्रतिपादक होने से प्रेय, श्रेयः समन्वित प्रेय तथा विशुद्ध श्रेय, इन तीनों स्थितियों को स्वीकार करती है।[1]

मीमांसा दर्शन की कर्मप्रदर्शन की प्रक्रिया में सर्वप्रथम कर्मों को अर्थ-कर्म तथा गुणकर्म के भेद से दो भागों में विभक्त किया गया है। स्वर्गादि के साधक अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, आदि अर्थ-कर्म हैं। इन अर्थ-कर्मों के अङ्गभूत कर्मों को गुणकर्म कहा जाता है। आत्मा में फल की अवाप्ति पर्यन्त रहने वाले अपूर्व के जनक अर्थ-कर्म को नित्य, नैमित्तिक तथा काम्य, इन तीन भेदों में विभक्त किया गया है। इनमें तृतीय काम्य कर्म के भी-

1. ऐहिक फलक कर्म, 2. ऐहिकामुष्मिक फलक कर्म तथा 3. विशुद्ध आमुष्मिक फलक कर्म, ये तीन भेद किए गए हैं।

1. ऐहिक फलक कर्म

जो कर्म इस लोक में प्राप्त होने वाले फल के सम्पादक होते हैं, अर्थात् जिन कर्मों का फल, केवल इसी लोक में भोग हेतु प्राप्त होता है उन्हें, ऐहिक फलक कर्म कहा जाता है। ऐहिक फल प्रेयः स्वरूप होने के कारण इनके साधक कर्मों को प्रेयोमार्ग की श्रेणी में स्थापित किया जा सकता है। सूखती हुई फसलों की रक्षा के लिए वृष्टि के इच्छुक व्यक्ति द्वारा जिस कारीरी इष्टि का अनुष्ठान

किया जाता है वह वृष्टिरूप फल इसी लोक में प्राप्त होने के कारण ऐहिक फल है तथा प्रेय है। इस प्रेय का साधन कारीरी याग, प्रेयो मार्ग है।

2. ऐहिकामुष्मिक फलक कर्म

जो कर्म इस लोक तथा परलोक में प्राप्त होने वाले फलों के सम्पादक होते हैं उन्हें ऐहिकामुष्मिक फल वाले कर्म कहा जाता है। भूति (ऐश्वर्य) की इच्छा वाले मनुष्य द्वारा **'वायव्यं' श्वेतमालभेत भूतिकामः**[2] (ऐश्वर्य की कामना वाला पुरुष वायुदेवता के लिए श्वेत पशु का आलभन करे) इस वाक्य द्वारा विहित याग का अनुष्ठान होने पर इस लोक में ऐश्वर्य की प्राप्ति के साथ परलोक में स्वर्गरूपी सुख की भी निष्पत्ति हो जाने से इस वायुयाग से प्रेय तथा श्रेय दोनों निष्पन्न हो जाते हैं। यह श्रेय में समन्वित प्रेय की साधनता का उदाहरण है।

3. विशुद्ध आमुष्मिक फलक कर्म

जो कर्म केवल परलोक में ही फल देने वाले होते हैं वे आमुष्मिक फलक कर्म कहे जाते हैं। 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत'[3] (स्वर्गकामनावान् दर्श पूर्णमास-याग करे) इस वाक्य द्वारा विहित दर्शपूर्णमास-याग का फल स्वर्ग परलोक में ही प्राप्त होता है। स्वर्ग जैमिनि-प्रणीत मीमांसा में सर्व साधारणरूप से श्रेय के रूप में स्वीकृत है। अतः समस्त स्वर्गसाधक कर्म मीमांसा में श्रेयः साधन के रूप में अभिमत हैं।[4]

श्रेय तथा श्रेयः साधनता की वेदमात्रगम्यता

महर्षि जैमिनि ने श्रेयःस्वरूप स्वर्ग तथा उसके साधनभूत यागात्मक धर्म का ज्ञान मात्र वैदिक विधिवाक्यों द्वारा प्रतिपादित किया है। इसी तथ्य के प्रकाशनार्थ जैमिनि ने धर्म को 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः'[5] इस सूत्र द्वारा मात्र वैदिक विधि वाक्यों द्वारा बोध्य (चोदनालक्षण) तथा अर्थरूप प्रतिपादित किया है। मात्र विधिवाक्य से ज्ञेय यागरूप धर्म की अन्य प्रमाणों द्वारा अगम्यता के प्रतिपादनार्थ ही महर्षि जैमिनि ने प्रत्यक्ष-सूत्र का प्रणयन किया है। प्रत्यक्ष-सूत्र के अनुसार पुरुष की इन्द्रियों का अर्थ के साथ सम्बन्ध होने पर जो ज्ञान उत्पन्न होता है वही प्रत्यक्ष प्रमाण है। यह प्रत्यक्ष, इन्द्रिय से सम्बद्ध वस्तु का ही प्रकाशक होता है। धर्म के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध सम्भव नहीं है अतः प्रत्यक्ष प्रमाण धर्म का प्रकाशक नहीं हो सकता।[6]

आचार्य कुमारिल भट्ट का कहना है कि व्रीहि आदि द्रव्य, यागादि क्रिया, आरुण्य आदि गुण, धर्म हैं तथा इनका प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञान भी हो जाता है। यद्यपि इनका ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा हो जाता है तथापि इनमें जो धर्मता है वह इष्टसाधनत्व रूप से है तथा इस रूप से इनका ज्ञान प्रत्यक्ष से न होकर[7] एकमात्र विधायक विधिवाक्य द्वारा ही होता है अतः धर्म जो कि श्रेयः-साधन है, प्रत्यक्ष-वेद्य नहीं है।[8] धर्म का कोई व्याप्य भी नहीं है जिसके बल पर अग्निहोत्रादि धर्म हैं ऐसी अनुमिति हो सके।[9] इसी प्रकार धर्म, विधि की प्रवृत्ति के पूर्व अज्ञात रहने से किसी भी सादृश्य के ज्ञान के आधार पर उसका उपमान द्वारा, जिस प्रकार उपमिति रूप ज्ञान नहीं हो सकता, उसी प्रकार अज्ञात धर्म के विषय में कोई अनुपपत्ति भी सम्भव नहीं है जिसके आधार पर किसी उपपादक अर्थ की कल्पनारूप अर्थापत्ति द्वारा उसका परिज्ञान किया जा सके। धर्म भावात्मक पदार्थ होने के कारण अभावग्राहक अनुपलब्धि-प्रमाण द्वारा उसके परिज्ञान का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार प्रत्यक्षादि सभी प्रमाण कर्मरूपी धर्म के अवबोध में समर्थ नहीं हैं। इस धर्म का परिज्ञान एकमात्र विधिवाक्य द्वारा ही सम्भव है। इस विधिवाक्य से समन्वित रूप से अर्थवाद, मन्त्र तथा नामधेय, इन अन्य वेदभागों की भी धर्मप्रकाशकता मानी गई है।

श्रेयःस्वरूप धर्म के अनुष्ठान की सङ्गति में लौकिक प्रमाणों की चरितार्थता

मीमांसा दर्शन कर्मप्रधान दर्शन है। यागात्मक धर्मरूपी कर्म को श्रेयः-साधन के रूप में स्थापित करना उसका लक्ष्य है। इस मुख्य लक्ष्य को सामने रखकर मीमांसकों ने अपनी तत्त्वमीमांसा तथा प्रमाण-मीमांसा का स्वरूप निर्धारित किया है। यद्यपि विधिवाक्य को ही धर्म का मीमांसकों ने अवबोधक स्वीकार किया है तथापि धर्मरूपी कर्म का विधि द्वारा प्रतिपादन हो जाने के बाद उसके अनुष्ठान में आने वाली विसङ्गतियों के निवारणार्थ ही मीमांसा में प्रमाणमीमांसा भी विकसित की गई है।

यद्यपि व्रीहि आदि द्रव्य, यागादि क्रिया तथा आरुण्यादि गुणों की धर्मरूपता का प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञान नहीं होता तथापि विधि द्वारा धर्म के रूप में इनका ज्ञान हो जाने पर अनुष्ठान में इनका विनियोग बिना प्रत्यक्ष के सम्भव नहीं है। यागाधिकार में सामर्थ्य भी अनिवार्य होने से[10] अन्धे व्यक्ति को यागाधिकार प्राप्त नहीं है। इसी प्रकार विकृति-याग में अनुष्ठान की सङ्गति के लिए उपमान प्रमाण का

प्रतिपादन किया गया है[11] तथा फलज्ञान के बिना किसी कार्य में प्रवृत्ति की अनुपपत्ति से प्रसूत अर्थापत्ति प्रमाण से अश्रुत फलवाले 'विश्वजिता यजेत'[12] इस विधि द्वारा प्राप्त विश्वजित् याग के फल-रूप में स्वर्ग की कल्पना द्वारा याग में पुरुष की प्रवृत्ति कराना ही अर्थापत्ति-प्रमाण का प्रयोजन है।[13] यद्यपि अनुपलब्धि या अभाव-प्रमाण, अभाव के ज्ञान के लिए प्रतिपादित किया गया है तथापि **'यजतीषु येयजामहं करोति नानुयाजेषु'**[14] यहाँ पर नञर्थ 'अभाव' का अनुपलब्धि-प्रमाण द्वारा पहले ग्रहण होता है, फिर नञर्थ अभाव को पर्युदास के रूप में माना जाता है। नञर्थ अभाव को पर्युदास मान लेने पर ही अनुयाजभिन्न यागों में येयजामह के अनुष्ठान की कर्तव्यता का परिज्ञान हो जाता है। इस प्रकार कर्मानुष्ठान में उपयोगिता के आधार पर मीमांसा प्रत्यक्षादि लौकिक प्रमाणों की सार्थकता भी व्यक्त करती है।

परम श्रेयस् के रूप में महर्षि जैमिनि के परवर्ती मीमांसकों द्वारा मोक्ष की परिकल्पना

भारतीय दर्शन की लगभग सभी विधाओं में मोक्ष को एक मत से परम श्रेयस् के रूप में स्वीकार किया गया है। मीमांसाशास्त्र का प्रवर्तन महर्षि जैमिनि ने कर्म में प्रवृत्ति को सुदृढ़ करने के लिए किया है अतः कर्मत्याग के रूप में प्रसिद्धि को प्राप्त मोक्ष को श्रेय के रूप में प्रतिपादित करना जैमिनि को अभीष्ट नहीं था, यह प्रतीत होता है। जैमिनि के ही अनुरूप शबरस्वामी भी कर्म के महत्त्व को स्थापित करना चाहते हैं अतः श्रेय के रूप में मोक्ष की स्थाना इन्हें भी अभीष्ट प्रतीत नहीं होती। यही कारण है कि इन दोनों आचार्यों ने अपनी कृतियों में मोक्ष का निरूपण नहीं किया है।

प्रभाकर-मत में मोक्ष की अवधारणा

महर्षि जैमिनि तथा शबरस्वामी के अनुरूप गुरुमत के प्रवर्तक प्रभाकर का भी यद्यपि इस सन्दर्भ में कोई साक्षात् मत प्राप्त नहीं है तथापि इनके अनुयायी शालिकनाथ ने प्रकरण-पञ्चिका में मोक्ष का स्वरूप प्रकाशित कर श्रेय के रूप में इसे मान्यता प्रदान की है। इनका कहना है कि धर्म तथा अधर्म का पूर्ण विनाश हो जाने पर प्राप्त शरीर का हमेशा के लिए छूट जाना ही मोक्ष है।[15] वाद-विनोद में शङ्कर मिश्र का कहना है कि मोक्ष आत्मा की वह अवस्था है जिसमें न तो कोई दुःख है और न ही दुःखों के उत्पन्न होने की सम्भावना ही अवशिष्ट रहती है।[16]

भाट्ट-मीमांसकों में मोक्ष का स्वरूप-विषयक द्वैविध्य

मीमांसा की भाट्ट-शाखा में मोक्ष के स्वरूप के विषय में दो मत हैं। एक मत तो मोक्ष को सुखदःखाभावस्वरूप मानता है तो दूसरा पक्ष मोक्ष की आनन्दरूपता का प्रतिपादन करता है।

मोक्ष का दुःखभावात्मकत्व

आचार्य कुमारिलभट्ट का कहना है कि मोक्ष को सुखरूप मानने पर वह स्वर्गस्वरूप होगा तथा कर्मजन्य होने से इसे नाशवान् मानना होगा।[17] अतः भट्टमतावलम्बी विद्वान् पार्थसारथी आत्मा का उसके सुखदुःखादि समस्त वैशेषिक गुणों के उच्छेद या विनाश को मोक्ष का स्वरूप निरूपित करते हैं।[18] इनके मत में श्रेय के रूप में स्वीकृत मोक्ष कुमारिलभट्ट के मतानुसार सुखात्मक न होकर दुःखाभावरूप है।[19] सत्रहवीं शताब्दी के भाट्टमतावलम्बी मीमांसक गागाभट्ट ने भी बन्ध के आत्यन्तिक विलय को मोक्ष निरूपित करते हुए इस श्रेयस्वरूप मोक्ष को दुःखाभाव के रूप में ही प्रतिपादित किया है।[20]

आनन्दरूपतावाद : चिदानन्दपण्डित का दृष्टिकोण

मोक्ष को दुःखाभावरूप मानने के पक्ष के विपरीत इस मोक्ष या निःश्रेयस् को आनन्दस्वरूप मानने का भी एक पक्ष भाट्टमतावलम्बी मीमांसकों में दृष्टिगोचर होता है। चिदानन्दपण्डित ने नीतितत्त्वाविर्भाव में 'हम तो मोक्ष को समस्त दुःखों के विलय के साथ नित्य तथा निरतिशय आनन्दस्वरूप मानते हैं।[21] इस पङ्क्ति द्वारा मोक्ष की आनन्दरूपता अभिव्यक्त की है।

नारायणभट्ट का दृष्टिकोण

मानमेयोदयकार नारायणभट्ट ने भी श्रेयःस्वरूप मोक्ष की आनन्दरूपता का प्रतिपादन किया है। इनका कहना है कि 'दुःखों का अत्यन्त समुच्छेद होते हुए आत्मा में (स्वरूपतः विद्यमान) सुख की मन के द्वारा होने वाली भुक्ति ही कुमारिलभट्ट द्वारा प्रतिपादित मुक्ति या परम श्रेयस् है।[22]

स्वविरचित कारिका के माध्यम से मुक्ति या श्रेयस् के स्वरूप को अभिव्यक्त करने के पश्चात् इस पर नारायण्भट्ट पूर्वपक्ष की ओर से यह आशङ्का उत्थापित करते हैं कि यदि यह मोक्षरूपी आनन्द आत्मा में समवेत रूप से विद्यमान है तो

संसारावस्था में इसकी अनुभूति क्यों नहीं होती? इस प्रश्न के समाधान में इनका कहना है कि उस समय इस मोक्षरूपी (श्रेयस्वरूप) आनन्द की अनुभूति के लिए जो कारण अपेक्षित है, वह नहीं रहता। शरीर तथा इन्द्रियादिकों के आत्यन्तिक विनाश से अनुगृहीत जो मन है वही मोक्षानन्द की अनुभूति का एकमात्र साधन है। संसारावस्था में यह नहीं रहता इसलिए मोक्षरूपी आनन्द स्वरूपतः विद्यमान रहने पर भी इसकी प्रतीति नहीं हो पाती। यदि ऐसे मोक्षरूपी आनन्द के अस्तित्व में कोई प्रमाण नहीं है, ऐसा कहा जाय तो यह भी ठीक नहीं है। मोक्षावस्था में आनन्द की अभिव्यक्ति में 'आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्' (आनन्द ब्रह्म का रूप है) यह श्रुतिरूप प्रमाण विद्यमान है। यदि पूर्वपक्षी यह कहते हैं कि 'अशरीरं वावसन्तं प्रिया-प्रिये न स्पृशतः'[23] (मोक्षावस्था में शरीर न रहने से प्रिय तथा अप्रिय दोनों का स्पर्श (अनुभव)नहीं होता यह श्रुति मोक्षावस्था को सुखदुःखादि के अभाव की अवस्था निरूपित कर। रही है तो यह कथन भी ठीक नहीं है। मोक्षावस्था में केवल वैषयिक (इन्द्रियजन्य) सुखदु:खादि की निवृत्ति ही इस श्रुति का प्रयोजन है। स्वरूपभूत आनन्द भी नहीं रहता, यह तथ्य यह श्रुति नहीं बतलाती। अन्यथा यदि मुक्ति को सुखाभाव के रूप में माना जाएगा तो यह पुरुषार्थ ही नहीं बनेगा, जबकि मोक्ष यह परम पुरुषार्थ के रूप में माना गया है। इस (परम श्रेयःस्वरूप) मोक्ष की पुरुषार्थता की सङ्गति के लिए इस वास्तविक श्रेयस् को आनन्दरूप मानना नितान्त आवश्यक है।[24]

कमालाकरभट्ट का दुष्टिकोण

नारायणभट्ट के अनुरूप मीमांसा-कुतूहलकार कमलाकरभट्ट ने भी मोक्ष के मात्र दुःखाभावस्वरूप होने के पक्ष का निराकरण करते हुए नित्य सुख की अभिव्यक्ति के रूप में इसे प्रतिपादित किया है तथा अपने इस पक्ष को तात्त्विक दृष्टि से वेदान्त से अभिन्न निरूपित किया है।[25]

मोक्ष की उभयरूपता का समन्वय

आचार्य कुमारिलभट्ट ने भावात्मक स्वर्ग को कर्मजन्य मानकर अनित्य होने के कारण यद्यपि उसकी मोक्षरूपता का खण्डन किया है तथापि अग्निहोत्रादि कर्मों के अनुष्ठान से स्वर्गादि फलों की निष्पत्ति अवश्य होने से तथा कर्मों के परित्याग से जैमिनि के द्वारा प्रतिपादित मार्ग का उल्लङ्घन होने की आपत्ति

उपस्थित हो जाने पर कुमारिलभट्ट यह समाधान प्रस्तुत करते हैं कि फलकामना से अनुष्ठान किये जाने पर ही कर्म बन्धनकारी हुआ करते हैं। भगवद्वाक्यानुरूप[26] जो अनाश्रित अर्थात् कामनारहित होकर कर्तव्यबुद्धि से कर्म करते हैं, वे बन्धन में नहीं पड़ते।[27]

कुमारिलभट्ट के इस समाधान से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि स्वर्गकामना से किये गये कर्मफल के रूप में प्राप्त होने वाला स्वर्ग ही अनित्य है। निरतिशय प्रीति या आनन्द के रूप में अभिमत मोक्ष या परम श्रेय, विषयजन्य आनन्द नहीं है, अपितु दुःखों के सर्वथा अभावरूप आत्मा का अपना स्वरूप है। इस स्वरूपात्मक सुखविशेषरूपी जो स्वर्ग या श्रेय है, वह मेरी समझ में दुःखाभाव की एक सकारात्मक अभिव्यक्ति है। मोक्ष के स्वरूप के विषय में मीमांसकों का मतभेद केवल एक आपाततः प्रतीति मात्र है। वास्तविकता में वैषयिक सुखदुःखाभाव की मोक्षरूपता सभी को अभिमत है।

मोक्ष या निःश्रेयस् की कारणता के रूप में ज्ञान तथा कर्म का समुच्चय

मीमांसा दर्शन के भाट्ट-सम्प्रदाय तथा प्रभाकर-सम्प्रदाय में अनेक विषयों में मतभेद होने पर भी ज्ञान तथा कर्म के समुच्चय को मोक्ष का साधन मानने में दोनों सहमत हैं।

गुरुमतानुयायी शायलिकनाथ का कहना है कि शम, दम, ब्रह्मचर्य, आदि कर्मों से युक्त आत्मज्ञान होने पर वह फिर नहीं लौटता इस अपुनरावृत्तिप्रतिपादक श्रुति के अनुरूप समस्त कर्माशय का नाश करता हुआ व्यक्ति मुक्त हो जाता है।[28] यहाँ ज्ञान तथा कर्म, इन दोनों में परस्पर अङ्गाङ्गिभाव सिद्ध न होने के कारण दोनों के सम्मिलित या समुच्चय से मोक्ष का साधन मानने का मार्ग ही अवशिष्ट रह जाता है।

गुरुमत के अनुरूप कुमारिलभट्ट भी ज्ञान तथा कर्म दोनों के समुच्चय को ही मोक्ष का साधन मानते हैं। कुमारिलभट्ट यद्यपि उपासनात्मक ज्ञान की मोक्षसाधनता स्वीकार करते हैं तथापि इस प्रकार के ज्ञान के साथ काम्य तथा निषिद्ध कर्मों का परित्याग करते हुए नित्य कर्मों का (जिनके करने से प्रत्यवाय (पाप) उत्पन्न होता है) अनुष्ठान भी मोक्ष के लिए आवश्यक प्रतिपादित करते हैं।[29]

निष्कर्ष

कर्म में प्रवृत्ति निष्पादित करने के उद्देश्य से वैदिक वाक्यों के विश्लेषण से दार्शनिक चिन्तन के रूप में विकसित इस दर्शन में सर्वसाधारण व्यक्ति की दृष्टि से भी विषयजन्य लौकिक आनन्द को प्रेय न मानकर वैदिक वाक्यों द्वारा अभिहित प्रतिष्ठा, वैभव, आदि को प्रेय माना गया है तथा इसके साधन के रूप में वेद के विधि-भाग को प्रतिष्ठित किया गया है।

सर्वविध दु:खराहित्य से युक्त सुखविशेष के रूप में वैदिक वाक्यों से अभिहित स्वर्ग को मीमांसकों ने मध्यम श्रेणी के व्यक्ति के लिए श्रेयस् के रूप में अभिहित किया है तथा इस श्रेयस् के साधन के रूप में काम्य कर्मों का प्रतिपादन किया है। निरन्तर कर्मानुष्ठान से जब अन्तःकरण पवित्र होने पर फल की प्राप्ति के स्थान पर केवल कर्तव्य की भावना ही कर्मप्रवृत्ति में प्रेरक बनती है तब ऐसा उच्च श्रेणी का व्यक्ति नित्य कर्मों का अनुष्ठान करते हुए कर्मफल के बन्धन से रहित हो जाता है। **आत्मानमुपासीत**[30] आदि विधिविहित उपासनात्मक ज्ञान को प्राप्त व्यक्ति जब लोकशिक्षा के आदर्श के लिए भगवदर्पण बुद्धि से काम्य कर्मों का भी अनुष्ठान करता है, तब ये बन्धन में डालने वाले कर्म भी उसे कर्मबन्धन से मुक्त कर मोक्ष या परम श्रेयस् की प्राप्ति करा देते हैं।

सम्पूर्ण विवेचन का सारांश यही है कि साधारण स्तर से लेकर उच्चतम श्रेणी के व्यक्ति तक प्रेय हो या श्रेय हो, दोनों के साधन के रूप में मीमांसा ने कर्मानुष्ठान को ही महत्त्व दिया है। मात्र कर्मानुष्ठान से नि:श्रेयस् रूपी मोक्ष सम्भव न होने के कारण ही इस मोक्ष के निमित्त उन्हें ज्ञान की भी कारणता माननी पड़ी है।

जिस प्रकार मीमांसकों ने श्रेयःसमन्वित प्रेय को ही प्रेय माना है उसी प्रकार श्रेयस् मोक्ष के लिए भी अन्य दार्शनिकों के अनुरूप मात्र ज्ञान की कारणता न मानकर कर्म-समन्वित ज्ञान की साधनता का प्रकाशन करते हुए अपने दर्शन की कर्मप्रधानता के सिद्धान्त की रक्षा की है।

सन्दर्भ

1. स स्वर्गः स्यात् सर्वान्प्रत्यविशिष्टत्वात्, जैमिनिसूत्र 4. 3. 15
2. वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः, तै० सं० 2.2.1

3. दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत श० प० ब्रा० 1.6.4
4. द्रव्टव्य मीमांसापरिभाषा, पृ० 81 से 106 तक कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, प्रथम संस्करण 1987
5. चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः, जैमिनिसूत्र 1, 1, 4
6. सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात्। जैमिनिसूत्र 1, 1, 4
7. द्रव्यक्रियागुणादीनां धर्मत्वं स्थापयिष्यते।
   तेषामैन्द्रियकत्वेऽपि न तद्रूप्येण धर्मता।।

श्लोकवार्तिक, पृ० 37, तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, 1978

8. श्रेयः साधनता ह्येषां नित्यं वेदात् प्रतीयते।
   ताद्रूप्येण च धर्मत्वं तस्मान्नेन्द्रियगोचर।। श्लो० वा०, पृ० 37
9. न सामान्यविशेषाभ्यां धर्मसम्बन्धदर्शनम्।
   लिङ्गस्य कस्यचित्सिद्धं येन स्यादनुमानता।। श्लो० वा०, पृ० 38
10. 'एवं सामर्थ्यस्यापि अधिकारिविशेषणत्वम्। असमर्थं प्रतिविध्यप्रवृत्तेः।' मीमांसान्यायप्रकाश, पृ० 190, श्रीलालबहादुशास्त्रिकेन्द्रीय-संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली 1983
11. एवञ्च प्रत्यक्षसौर्यविधिसादृश्यस्याग्नेयविधानमुपमित्योपस्थिताग्नेयविधिविहितेति-कर्तव्यताया अपेक्षितायाः सौर्याङ्गत्वबोधकफलमिति जीर्णाः। भाट्टचिन्तामणि, पृ० 45, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 1993
12. 'विश्वजिता यजेत', उद्धृत मी० न्या० प्र० 103
13. तथा विश्वजिद्यागकरणकभावनाविषयकप्रवर्तना विधिप्रमितेष्टोद्देश्यकत्वं विनाऽनुपपद्यमाना स्वर्गाद्युद्देश्यकत्वं कल्पयति। भाट्टचिन्तामणि, पृ० 46
14. यजतीषु येयजामहं करोति नानुयाजेषु आप० श्रौ० सू० 24, 13, 06
15. 'आत्यन्तिकस्तु देहोच्छेदो निश्शेषधर्माधर्मपरिक्षयनिबन्धनो मोक्ष इति युक्तम्। प्रकरण-पञ्चिका, का० हि० वि० वि० वाराणसी, 1961
16. 'Shankara Mishra in his Vadivinoda' (p. 40) has the following note according to prabhakar, Liberation is the pragbhao absence before appearance of pain along-with the total absence of pain; that is state in which there is no pain no likelihood of (appearance) of pain' 'Purva-mimansa in its sources' B.H.U. Varanasi 1964, p. 32
17. सुखोपभोगरूपश्च यदि मोक्षः प्रकल्प्यते।
    स्वर्ग एवं भवेदेष पर्यायेण क्षयी च सः।।
    श्लोकवार्तिक, सम्बन्धाक्षेप-परिहार- वार्तिक 105

18. तस्मात्सुखदुःखादि-समस्तवैशैषिकात्मगुणोच्छेदो मोक्षः। शास्त्रदीपिका, पृ० 130, कृष्णदास-अकादमी, वाराणसी, 1988
19. तदस्य त्रिविधिस्यापि बन्धस्यात्यन्तिको विलयो मुक्तिः। वही, पृ० 125
20. तस्मात्प्रपञ्चस्य सर्वथा विलयो मुक्तिः भाट्टचिन्तामणि, पृ० 43
21. वयन्तु सकलदुःखविलये सति नित्यनिरतिशयानन्दाभिव्यक्तिलक्षणं मोक्षमाचक्ष्महे -उद्धृत-प्रकरण पञ्चिका, टीका, पृ० 349
22. दुःखात्यन्तसमुच्छेदे सति प्रागात्मवर्तिनः।
    सुखस्य मनसा भुक्तिर्मुक्तिसत्ता कुमारिलैः।।
    मानमेयोदय, पृ० 212, थियोसोफिकल पब्लिशिङ्ग हाऊस, आड्यार, मद्रास, 1933
23. अशरीरं वाव सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः।
24. ननु यदि संसारावस्थायामात्मसमवेत एवायमानन्दः तर्हि कथं नानुभूयते। अनुभवहेतोरभावादिति ब्रूमः। देहेन्द्रियादीनामात्यन्तिकपरिध्वंसानुगृहीतं मनस्तदनुभवसाधनम्। किं तर्हि तादृशानन्दसद्भावे प्रमाणम्? आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्च मोक्षेऽभिव्यज्यत इति श्रुतिरेव। न च श्रुतिरानन्दानुभूतिबाधकेति वाच्यम्। तस्या वैषयिकप्रियाप्रियस्पर्शनिवृत्तिमात्रपरत्वात्। अन्यथा मुक्तेरपुरुषार्थत्वप्रसङ्गात् मानमेयोदय, पृ० 212
25. तस्मात्सिद्धं नित्यसुखाभिव्यक्तिर्मुक्तिरिति। तत्त्वतस्तु अस्माकं मोक्षो वेदान्तिमतादभिन्न एव। मीमासाकुतूहलम्, पृ० 52 सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः वाराणसी, 1987
26. अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।' भगवद्गीता, 6.1
27. सत्यम् तानि तु फलाभिसन्धिकृतानि स्वफलदानेन पुरुषं बध्नन्ति, न त्वनभिसन्धिकृतानीति। श्लोकवार्तिक-सम्बन्धाक्षेपपरिहारवार्तिक 111 के अर्द्धभाग की न्यायरत्नाकर व्याख्या।
28. शमदमब्रह्मचर्यादिकाङ्गोपबृंहितेनाऽऽत्मज्ञानेन न स पुनरावर्तते (छा० उ० अ० 8) इत्यपुनरावृत्तये चोदितेन निश्शेषकर्माशयं नाशयन् मुच्यते। प्रकरणपञ्चिका, पृ० 431
29. मोक्षार्थी न प्रवर्तेत तत्र काम्यनिषिद्धयोः।
    नित्यनैमित्तिके कुर्यात् प्रत्यवायजिहासया।। सम्बन्धाक्षेपपरिहारवार्तिक, पृ० 476
30. 'आत्मानमुपासीत'

10
मीमांसा का नैतिक तथा सामाजिक अवदान

मानव-जीवन के सर्वाङ्गीण विकास-हेतु प्रतिपादित वे नियम जिनसे सम्पूर्ण समाज सुव्यवस्था, शान्ति तथा विकास को प्राप्त कर सके, उन नियमों तथा सिद्धान्तों को ही सामाजिक दर्शन के सिद्धान्त कहा जा सकता है। उन व्यक्तिपरक सिद्धान्तों को जिनसे सारा समाज तथा राष्ट्र प्रभावित हो, उन्हें नैतिक सिद्धान्तों की अभिधा से भी मण्डित किया जा सकता है। इन समाज, राष्ट्र तथा समष्टि को प्रभावित करने वाले नियमों के अनुरूप आचरण का नाम ही नीति है। मानव के आदर्शभूत व्यवहार का अनुसन्धान ही नीतिशास्त्र का प्रयोजन है।[1] मानव-जीवन में सदाचार, करुणा, परोपकार, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, पवित्रता आदि के व्यवहार को जीवन का आदर्श माना गया है। मानव तथा सम्पूर्ण मानव-समाज की स्थिति का अवलम्बन होने से इन्हें धर्म शब्द से भी अभिहित किया गया है।[2]

भारतीय दर्शन की आस्तिक तथा नास्तिक उभयविध विचारधाराओं में नास्तिकों में चार्वाक, जैन तथा बौद्ध दर्शन के अनेक सिद्धान्त नैतिक आदर्शों पर आधारित आचरण की ओर व्यक्ति तथा समाज को प्रेरित करते रहे हैं। इसी प्रकार साङ्ख्य एवं योग की अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि के आचरण की शिक्षा विशुद्ध नैतिक आदर्शवाद पर टिकी हुई है।[3] ब्रह्मसूत्रों पर अपने शाङ्करभाष्य में भगवत्पाद जगद्गुरु शङ्कराचार्य ने 'वेद आचारहीन को पवित्र नहीं करते'[4] इस उक्ति को उद्धृत कर नैतिक आदर्शों के अवलम्बन को धर्म की नींव के रूप में स्थापित कर दिया है।

मीमांसा का नैतिक अवदान

महर्षि जैमिनि द्वारा प्रवर्तित मीमांसाशास्त्र वैदिक वाक्यों के विश्लेषण से न केवल कर्मकाण्ड की गुत्थियों को सुलझाकर उनकी सङ्गति प्रदान करता है,

अपितु अपने द्वारा प्रवर्तित न्यायों तथा तर्कों के आधार पर व्यक्ति तथा समाज से सम्बद्ध नैतिक प्रश्नों के समाधान की दिशा भी प्रदर्शित करता है।

भाष्यकार शबरस्वामी ने यद्यपि यज्ञीय कर्मकाण्ड के आचरण को ही धर्म माना है, तथापि तडागादि के निर्माणादि कार्य, जिनसे व्यक्ति तथा समाज का हित होता हो, उसकी भी समीचीनता स्वीकार की है।[5]

यज्ञ का नैतिक पक्ष

यद्यपि मीमांसा का प्रधान लक्ष्य यागरूप धर्म का प्रतिपादन है[6] तथापि इस यज्ञानुष्ठान में लक्ष्य को व्यक्तिगत नैतिकता से पृथक् नहीं रखा गया है, अपितु नैतिक शुद्धता इस धर्मानुष्ठान का अनिवार्य अङ्ग है। मीमांसा के इस प्रधान प्रतिपाद्य 'याग' का अर्थ है त्याग। 'देवता के उद्देश्य से हवि के त्याग को ही याग कहा गया है।[7] जीवन में कर्तव्य-भावना के बिना किसी फलाकाङ्क्षा के त्याग को प्रतिष्ठित करना ही भर्तृमित्रादि प्राचीन मीमांसकों ने याग का उद्देश्य प्रतिपादित किया है।[8] भगवद्गीता में इसे ही सात्त्विक याग की मान्यता प्रदान की गई है।[9] कहीं कहीं '**अग्निषोमीयं पशुमालभेत**'[10] जैसे वाक्यों द्वारा विहित हिंसा से सामान्य अहिंसा के नैतिक सिद्धान्त की उपेक्षा प्रतीत होती है, परन्तु ऐसे नियमों को केवल अपवाद के रूप में स्वीकार किया गया है। जैमिनिसूत्र के अनुसार मांस का पाक निषिद्ध है।[11] महाभारत में यहाँ तक कहा गया है कि –'सुरा, मद्य, मछली, पशुओं का मांस तथा यज्ञ में द्विजाति आदि मनुष्यों का बलिदान धूर्तों द्वारा प्रवर्तित हुआ है। वेदों में मांस का विधान नहीं है।[12] वास्तविकता कुछ भी हो, इसमें कोई सन्देह नहीं कि सर्व सामान्य अवस्था में मीमांसा '**मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि**'[13] इस वाक्य के आधार पर अहिंसा के नैतिक नियम का ही समर्थन करती है।

अहिंसा के प्रतिपादनार्थ धर्मलक्षण में अर्थ शब्द का संयोजन

मीमांसा की दृष्टि में हिंसा अनर्थ का ही साधन है। इसी दृष्टिकोण को आचार्य जैमिनि ने अपने धर्मलक्षण के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। जैमिनि के अनुसार विधि द्वारा विहित जो (कर्म) अर्थरूप हों, उन्हें धर्म माना गया है।[14] इसलिए शत्रुमारणरूपी हिंसा के माध्यम से अनर्थभूत 'श्येन याग'[15] विधिविहित होने पर भी धर्म की परिधि में समाविष्ट नहीं हो पाया है।

द्रव्यार्जन के नियम द्वारा नैतिक जीवन का प्रतिपादन

धर्मशास्त्र द्वारा ब्राह्मणादि वर्णों के लिए द्रव्यार्जन के नियम सुनिश्चित किये गये हैं। ब्राह्मण के लिए अध्यापन, याजन तथा प्रतिग्रह, ये तीन अर्थार्जन के साधन बतलाये गये हैं।[16]

यहाँ पर प्रश्न उठता है कि द्रव्यार्जन हेतु प्रतिपादित इन नियमों का समन्वय यज्ञ में माना जाय या व्यक्ति में? द्रव्यार्जन के इन नियमों को क्रत्वर्थ मानने पर अर्थात् इनका समन्वय यज्ञ के साथ करने पर धर्म तथा नीति-पूर्वक अर्जित धन से धर्माचरण करने तथा उत्कोच, तस्करी आदि अनैतिक साधनों से अर्जित धन से सुख-सुविधामय जीवनयापन करने लगने पर भी ऐसे व्यक्ति में धर्म की स्थिति अबाधित माननी होगी, परन्तु मीमांसा इसे अनैतिक आचरण मानती है, अतः इसके निराकरणार्थ द्रव्यार्जन के नियमों को क्रत्वर्थ के स्थान पर पुरुषार्थ मानती है तथा धर्माभिलाषी के लिए सम्पूर्ण जीवन में नैतिक आचरण की अनिवार्यता का प्रतिपादन करती है।

इस सन्दर्भ में मीमांसा-सम्मत निर्णय यह है कि द्रव्यार्जन का समन्वय याग से करने पर समस्त द्रव्य याग के लिए ही होगा, फलतः व्यक्ति के साथ उसका समन्वय नहीं हो सकेगा तथा ऐसी स्थिति में द्रव्याभाव में यजमान का जब जीवन ही नहीं रहेगा, तब यज्ञ भी कैसे हो सकेंगे? इन्हें पुरुषार्थ मानने पर जैसे द्रव्य से सांसारिक सुख सिद्ध होते हैं, वैसे ही यज्ञ के माध्यम से पारलौकिक सुखों की सिद्धि मानने में भी कोई अनौचित्य नहीं होगा। इसके अतिरिक्त क्रतु भी पुरुष के लिए होने से एक पुरुषार्थ है, अतः द्रव्यार्जन के नियमों को पुरुषार्थ मानने पर भी इनका क्रतु के साथ एक परम्परा-सम्बन्ध बन ही जाएगा,[17] अतः इन नियमों को पुरुष के साथ समन्वित मानकर मीमांसा ने जीवन में कदाचरण रहित नैतिक आचरण का प्रतिपादन किया है।

जीवन में नैतिकता की स्थापना हेतु सदाचार का प्रामाण्य

जीवन में नैतिक आदर्शों की स्थापना हेतु महर्षि जैमिनि ने '**अपि वा कारणाग्रहणे प्रयुक्तानि प्रतीरयेत्**'[18] इस सूत्र द्वारा धर्मज्ञान में आचार या सदाचार का प्रामाण्य प्रतिपादित किया है। स्मृतिकार मनु ने भी वेद, स्मृति, शील, आचार तथा शिष्टजनों की आत्मतुष्टि को धर्म-ज्ञान का एक महत्त्वपूर्ण साधन

निरूपित किया है।[19] मनुस्मृति के टीकाकार कुल्लूकभट्ट ने नैतिकता को ही मनु द्वारा प्रतिपादित 'शील' शब्द के अर्थ के रूप में **'शीलं ब्रह्मण्यतादिकम्'** कहकर प्रकाशित किया है।[20]

सूत्र तथा भाष्यार्थ को अनेक युक्तियों द्वारा स्पष्ट रूप से प्रतिपादित करने वाले मीमांसादर्शन के आधारस्तम्भ आचार्य कुमारिलभट्ट ने जीवन में नैतिक आदर्शों के महत्त्व को प्रकाशित करने के उद्देश्य से अपने 'तन्त्रवार्त्तिक के प्रथम अध्याय के तृतीय पाद में 'स्मृत्याचार प्रामाण्याधिकरण' की रचना की है।

शिष्ट, सज्जनों के आचरण का ही नाम सदाचार होने के कारण शिष्ट के रूप में प्रसिद्ध विशिष्ट व्यक्ति प्रजापति, इन्द्रादि के आचारण पर परस्त्रीगमनादि के आरोप लगाकर शिष्ट व्यवहार की नैतिकता पर जब पूर्व पक्ष ने प्रश्नचिह्न लगा दिया तब **'यद्यदाचरति श्रेष्ठः तत्तदेवेतरो जनः'** इस न्याय से जन-सामान्य में अनैतिक आचरण की प्रवृत्ति को रोकने तथा नैतिक सदाचार का दृढ़तापूर्वक समर्थन करने के उद्देश्य से ही भट्टपाद ने उक्त सन्दर्भों की प्रकारान्तर से व्याख्या प्रस्तुत की है। यथा–

'प्रजापति अपनी पुत्री पर ही आसक्त हो गये थे'। इस प्रसङ्ग का व्याख्यान करते हुए आचार्य कहते हैं कि 'प्रजा का पालन करने के कारण प्रजापति है सूर्य, यह सूर्य प्रातः उषा को लाता है, अतः उषा को इसकी पुत्री कहा गया है। उषा के पश्चात् आने वाले सूर्य की किरणें उषा पर पड़ती हैं इसी तथ्य को स्त्री-पुरुष के प्रेम के प्रतीक से समझाया गया है।[21]

इन्द्र को जो अहल्या का जार कहा जाता है उसका अर्थ भी यही है कि 'परम ऐश्वर्यबोधक' 'इदि' धातु से (इदि परमेश्वर्ये) निष्पन्न 'इन्द्र' शब्द का अर्थ भी सूर्य है। 'अहनि लीयते इति' इस व्युत्पत्ति से अहल्या शब्द का अर्थ है-'रात्रि'। 'जरति इति जारः' इस व्युत्पत्ति से जार शब्द का अर्थ है 'विनाशक', अतः सूर्य रात्रि का विनाशक है, यही अहल्या जार शब्द का अर्थ है।[22]

इस प्रकार शिष्टाचरणों पर प्राप्त अनुपपत्तियों के निवारणार्थ की गई अनेक युक्ति-कल्पनाएँ जीवन में सदाचार तथा नैतिकता के महत्त्व के सम्बन्ध में कुमारिलभट्ट की भावना को पूर्ण रूप से अभिव्यक्त कर देती हैं।

मीमांसा का सामाजिक अवदान

व्यक्ति के पारलौकिक सुख के साधनभूत 'यज्ञ' के कर्मकाण्ड की विवेचना

के साथ ही मीमांसा ने अपने न्यायों के माध्यम से समाज के साथ सम्बद्ध अनेक नैतिक प्रश्नों के समाधान की दिशा प्रदर्शित कर सामाजिक धरातल पर भी अपनी विशिष्ट उपयोगिता सिद्ध कर दी है। सामाजिक दृष्टिकोण से विचार करने पर विशेषतः समाज के कमजोर वर्ग के प्रति मीमांसा का दृष्टिकोण अत्यन्त उदारता से परिपूर्ण परिलक्षित होता है। महिलाओं तथा चतुर्थ वर्ण में समाविष्ट शूद्रों से सम्बद्ध प्रकरणों में मीमांसा के न्याय-धर्मशास्त्र की तुलना में अत्यन्त उदारता तथा सहृदयता का परिचय देते हैं।

महिलाओं के लिए यागाधिकार

मीमांसा ने नारी को यागाधिकार देकर भी अपने सर्वमङ्गलकारी-स्वरूप को अभिव्यक्त किया है। धर्मशास्त्रों में स्त्री तथा शूद्रों के लिए वेदाध्ययन का निषेध होने[23] से यागाधिकार भी निषिद्ध है। मीमांसा ने इस सम्बन्ध में उदार दृष्टिकोण अपनाते हुए पति के साथ पत्नी के यागाधिकार को स्वीकार कर लिया है।[24] यज्ञ के सम्पादनार्थ वेदज्ञान, आधानसिद्ध अग्नि तथा सामर्थ्य ये तीनों अनिवार्य हैं। यद्यपि पत्नी को वेदज्ञान नहीं है, तथापि पति के ज्ञान से क्रतु का अनुष्ठान सिद्ध हो जाने से पत्नी का भी ज्ञान मान लिया गया है।[25]

सम्पत्ति का अधिकार

याज्ञवल्क्य आदि महिला को स्वतन्त्र नहीं मानते[26] अतः इस पर पति के पूर्ण स्वत्व का प्रतिपादन करते हैं, परन्तु सूत्रकार जैमिनि पत्नी को पति की सम्पत्ति नहीं मानते। उनका स्पष्ट प्रतिपादन है कि विश्वजित् याग में यजमान अपने सर्वस्व का दान करता है, परन्तु पत्नी तथा पुत्रादि का दान नहीं कर सकता। पत्नी पर पति का स्वत्व जैमिनि को मान्य नहीं है।[27] इसी प्रकार धर्मशास्त्रकार मनु ने स्त्रियों के लिए निजी सम्पत्ति का विरोध किया है[28] परन्तु जैमिनि ने स्त्रियों के लिए भी उनकी अपनी सम्पत्ति के अधिकार को मान्यता प्रदान की है।[29] तात्कालिक समाज में प्रचलित महिलाओं के क्रय-विक्रय पर भी जैमिनि ने विरोध प्रकट किया है।[30-31]

शूद्रों के लिए भी यागाधिकार का प्रतिपादन

यद्यपि शूद्रों के लिए वेदाध्ययन तथा आधानसिद्ध अग्नि विहित नहीं है, तथापि 'वर्षासु रथकारोऽग्नीनादधीते'[31] तथा 'निषादस्थपतिं याजयेत्'[32] जैसे

वाक्यों के आधार पर प्राचीन मीमांसक बादरि ने शूद्रों का यज्ञकर्म में अधिकार स्वीकार किया है।[33] जैमिनि ने निषादकुल-प्रसूत राजा (निषादस्थपति) को रौद्रयाग में अधिकार प्रदान किया है।[34] सूत्रकार के अनुरूप बोधायन ने भी रथकार जाति के शूद्र का अग्न्याधान तक यागाधिकार स्वीकार किया है।[35] अग्न्याधान का अर्थ है अग्नि का संस्कार। आधार से संस्कृत अग्नि आगे की याग-क्रियाकलाप में उपयोगी होती है, परन्तु उक्त रथकार तथा निषादस्थपति का वेदाध्ययन में अधिकार न होने से अग्न्याधान के बाद में होने वाली याज्ञिक क्रियाओं में उसे अधिकार नहीं दिया गया है।

यद्यपि अग्न्याधान के पश्चाद्वर्ती क्रियाओं में इनका अधिकार नहीं है, तथापि इनके लिए विहित अग्न्याधान को भी निरर्थक नहीं माना गया है। मीमांसा का इस सन्दर्भ में यह प्रतिपादन है कि यह अग्न्याधान स्वयं एक प्रधान कर्म है, फलतः केवल इसके करने मात्र से भी रथकारादि को स्वर्गरूप फल की निष्पत्ति हो जाती है।[36]

भूमि पर कृषक के अधिकार का प्रतिपादन

महिलाओं तथा अन्त्यजों के साथ ही मीमांसा का कृषक वर्ग के प्रति भी उदारवादी दृष्टिकोण परिलक्षित होता है। तात्कालिक सामन्तवादी परिस्थितियों में भी मीमांसा, भूमि पर राजा के निरङ्कुश आधिपत्य को स्वीकार नहीं करती। जिस प्रकार कोई व्यक्ति अपनी सम्पत्ति विक्रय कर सकता है, दान या पुरस्कार में किसी को भी दे सकता है, उसी प्रकार भूमि का विक्रय करने, उसे दान या पुरस्कार में किसी को देने के राजा के अधिकार को जैमिनि मान्य नहीं करते।[37] व्यवहार-मयूखकार का भी कहना है कि राजा को केवल प्रजा से कर लेने का अधिकार है।[38] मीमांसा के सूत्र 6.7.239 के आधार पर इन्होंने भी भूमि पर किसान के ही अधिकार का प्रतिपादन किया है।[40]

लौकिक व्यवहार में म्लेच्छाचार का भी प्रामाण्य

समाज के सभी वर्गों के प्रति उदारवादी दृष्टिकोण होने के कारण मीमांसा दर्शन के प्रवर्त्तक आचार्य कुमारिलभट्ट ने लौकिक सदाचार के विषय में म्लेच्छव्यवहार के भी प्रामाण्य का प्रतिपादन किया है। उनका कहना है कि यद्यपि अदृष्यार्थक क्रियाओं में म्लेच्छाचार दुर्बल कहा जाता है, तथापि लौकिक व्यवहार

में शिष्ट तथा म्लेच्छ, आर्यों से अधिक निपुण है, अतः इन विषयों में म्लेच्छाचार का प्रामाण्य अधिक मानना सर्वथा उपयुक्त है।[41]

उक्त विवेचित समस्त प्रसङ्गों की विवेचना के आधार पर यह पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाता है कि मीमांसा केवल वैदिक वाक्यों का विशलेषण ही नहीं करती, अपितु तर्कों तथा सिद्धान्तों के आधार पर समाज में नैतिकता, सहाचार तथा समानता के सिद्धान्तों को भी स्थापित करती है। शताब्दियों पूर्व विद्यमान मीमांसा का दृष्टिकोण पक्षपात रहित, उदार, बहुजनहिताय, समाजवादी होने के साथ वर्तमान परिवेश में भी पूर्णरूप से प्रासङ्गिक है।

सन्दर्भ

1. पाश्चात्यं नीतिशास्त्रम्, पृ० 2 पङ्क्ति 24, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय 1963
2. "धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।। मनुस्मृति 2.92
3. "अहिंसासत्यमास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः" पातञ्जलयोगसूत्र 2.30
4. "आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः" ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य 3. 1. 10.
5. "प्रपातस्तडागादीनि च परोपकाराय, न धर्माय।" शाबरभाष्य 1. 3.2
6. "धर्माख्यं विषयं वक्तुं मीमांसायाः प्रयोजनम्।" श्लोकवार्त्तिक, प्र० सू० वा० 1
7. "देवतोद्देश्येन द्रव्यत्यागस्य यागशब्दार्थत्वात्" मीमांसापरिभाषा, पृ० 88, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 1987
8. भर्तृमित्र शबर के पश्चात् तथा कुमारिल के पूर्ववर्ती विद्वान् हैं। इन्होंने नित्य निषिद्ध कर्मों का कोई फल नहीं है, यह विचार स्थापित किया है द्रष्टव्य श्लो० वा० प्रास्ताविकम् 13, तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी 1978
9. अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः।। भगवद्गीता, अ० 17 श्लो० 11
10. तै० सं० 6. 1. 11
11. मांसपाकप्रतिषेधः, जैमिनिसूत्र 12, 2, 2
12. "सुरा मत्स्याः पशोर्मांसं द्विजातीनां बलिस्तथा।
धूर्तैः प्रवर्तितं यज्ञे नैतद् वेदेषु कथ्यते। महाभारत शान्तिपर्व, उद्धृत, पातञ्जलयोगप्रदीप, पृ० 9, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० 20 51
13. साङ्ख्यतत्त्वकौमुदी, पृ० 25, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, 1984
14. चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः जैमिनिसूत्र 1.1.2
15. "श्येनेनाभिचरन् यजेत" आप० श्रौ० 22.4.13.

16. अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहश्चैव षट्कर्माण्यग्रजन्मनः।। मनुस्मृति 10, 65
षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका।
याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः।। मनुस्मृति, 10. 76
17. "किञ्च क्रत्वर्थत्वे जीवनाभावात्क्रतुरेव न सिद्ध्येत् पुरुषार्थत्वे तु ऐहिकप्रीतिकारिभोजनादिवत् क्रतोरामुष्मिकप्रीतिकारितया पुरुषार्थेष्वन्तर्भावात्क्रत्वर्थत्वमप्यार्थिकं सिध्यति।
उपायनियमस्तु उपायान्तरेषु प्रत्यवायविवक्षयोपपद्यत
इति द्रव्यार्जनं पुरुषार्थम्" भाट्टचिन्तामणि, तर्कपाद, पृ० 03 पं० सूर्यानारायण शुक्ल कृत टिप्पणी, पृ० 03 पङ्क्ति 25, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, 1933
18. "अपि वा कारणाग्रहणे प्रयुक्तानि प्रतीरयेत्" जैमिनि 1.3.7
19. वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च।। मनुस्मृति, 2.6
20. मन्वर्थमुक्तावली, मनुस्मृति 2.06
21. प्रजापतिस्तावत्....... दुपचारः। तन्त्रवार्त्तिक, पृ० 200 पङ्क्ति 10-12, अजितासहित, गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृतविद्यापीठम्, प्रयाग, 1988
22. एवं समस्त तेजाः......... न तु परस्त्रीव्यभिचारात्।" वही, पृ० 200-201
23. "न स्त्रीशूद्रौ वेदमधीयेताम्"
उद्धृत मीमांसान्यायप्रकाश की हिन्दी व्याख्या, पृ० 187, श्रीलालबहादुरशास्त्रि-केन्द्रीय-संस्कृत विद्यापीठम्, नई दिल्ली 1983
24. "जातिं तु बादरायणोऽविशेषात् तस्मात् स्त्र्यपि प्रतीयेत जात्यर्थस्याविशिष्टत्वात्" जैमिनि सूत्र 6.1.8
25. सहाधिकारत्वे च यजमानविद्ययैव पत्न्या अपि कार्यसिद्धेर्न ज्ञानं विना तस्या अधिकारानुपपत्तिः।" मी० न्या० प्रकाश, पृ० 188
26. "न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति" मनुस्मृति 9.03
27. "विश्वजिता यजेत" उद्धृत मी० न्या० प्र०, पृ० 103
28. "स्त्रीपुत्रभृत्यानां स्वस्वामिकं न किमपि धनं भवति।" मनुस्मृति अ० 8, श्लो० सं० 416
29. "स्वदाने सर्वमविशेषात्" जैमिनिसूत्र 6. 7. 1
30. "स्ववत्तामपि दर्शयति" जैमिनिसूत्र 6. 1.16
31. द्रव्यसंयुक्तं क्रयविक्रयाभ्याम् अद्रव्यत्वं स्त्रीणां द्रव्यैः समानयोगित्वात्" जैमिनिसूत्र 6. 1. 10
32. वर्षासुरथकारोऽग्नीनादधीते" आप० श्रौ० 5. 3. 19

Rashtriya Sanskrit Sansthan (Deemed University)
Acc. No 44751
Date 23-12-09
G. N. Jha Campus, Allahabad-2

33. पू० मी० 6. 1. 13 "निषादस्थपत्यधिकरणे" वास्तुमयं रौद्रं चरुं निर्वपेत् इति प्रकृत्य श्रूयते" एतया निषादस्थपतिं याजयेत्" इति।
34. निमित्तार्थेन बादरिः, तस्मात् सर्वाधिकारः स्यात्" जैमिनिसूत्र 6. 1. 27
35. स्थपतिर्निषादः स्यात् शब्दसामर्थ्यात्" जैमिनिसूत्र 6.1.51
36. बोधायनधर्मसूत्र 1.9.06
37. किन्तु तदाधानं लौकिकाग्निगुणकं विश्वजिन्न्यायेन स्वर्गफलकञ्च स्वतन्त्रमेव प्रधानकर्म विधीयते"। मी० न्या० प्र० पृ० 186
38. न भूमिः स्यात् सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात्" जैमिनिसूत्र 6. 7. 3
39. सम्पूर्णपृथ्वीमण्डलस्य तत्तद्ग्रामक्षेत्रादौ स्वत्वं तु तत्तद्भौमिकादीनामेव राज्ञो तु करग्रहणमात्रम्" व्यवहारमयूख पृ० 56-57, गुजरात, प्रिन्टिंग प्रेस 1923
40. यस्य वा प्रभुः स्यादितरस्याऽशक्यत्वात्" जैमिनिसूत्र 6.7.02
41. सन्दर्भ 39, द्रष्टव्य
42. "आश्रयाणां च दौर्बल्यं धर्मं प्रति निरूपितम्।
    दृष्यर्थाव्यवहारेषु कृष्यादाविव तुल्यताम्।।
    तस्माद्यथैव सेवादौ गृहादिषु च कौशलम्।
    म्लेच्छानामधिकं तद्वदभिधेयार्थनिर्णये।।
    तन्त्रवार्तिक 234 अजिता, प्रथम भाग, गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठम्, प्रयाग 1988

11

मीमांसा दर्शन का लोकोपयोगी स्वरूप

दर्शनार्थक लोकृ (लोक्) धातु से 'लोक्यते इति', जो दिखाई देता है, इस अर्थ में घञ् प्रत्यय लगाने पर निष्पन्न लोक शब्द, व्यष्टि के अर्थ में जहाँ व्यक्ति का वाचक है, वहीं समष्टि के अर्थ में यह समाज, राष्ट्र, भुवन,[1] आदि उत्तरोत्तर व्यापक एवं विस्तृत अर्थों की अभिव्यक्ति कराते हुए अन्त में सम्पूर्ण 'विश्व' का वाचक बनकर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना का अभिव्यञ्जक बनता है।

भारतीय दार्शनिक चिन्तन का प्रारम्भ जहाँ लौकिक धरातल को अपना आधार बनाकर हुआ है, वहीं इस चिन्तन के सभी प्रस्थानों ने अपनी तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा तथा प्रमाणमीमांसा के विवेचन में वेदार्थ-निर्णय की प्रक्रिया द्वारा दार्शनिक स्वरूपता को प्राप्त करने वाले मीमांसा-दर्शन की तात्त्विक विवेचना की प्रक्रिया में अपने न्यायों तथा सिद्धान्तों के माध्यम से अपने लोकोपयोगी स्वरूप को भी स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त किया है।

मीमांसा के कर्मसिद्धान्त का लोकोपयोगी स्वरूप

मीमांसादर्शन धर्मात्मक कर्म का ही प्रतिपादन करता है। वेदविहित प्रयोजनवान् अर्थरूप कर्मात्मक यज्ञ[2] ही मीमांसा का प्रधान प्रतिपाद्य विषय है। यह याग या यज्ञरूपी कर्मात्मक धर्म, लोक शब्द के व्यक्ति तथा समष्टि दोनों अर्थों में अपनी उपयोगिता को पूर्ण रूप से चरितार्थ करता है। वृष्टि, पशु, आदि लौकिक फल, ऐश्वर्यरूपी ऐहिकामुष्मिक फल तथा स्वर्गरूप विशुद्ध आमुष्मिक फलों का प्रापक होने से यज्ञात्मक धर्म जहाँ व्यक्ति का उपकारक है, वहीं इस यज्ञरूपी धर्म को समग्र लोक का भी परम उपकारक माना गया है। भगवद्गीता में समस्त प्रजाओं के साथ यज्ञ की उत्पत्ति निरूपित कर उसे कामनाओं की पूर्ति का साधन निरूपित किया गया है-

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।। भ० गी० 3. 10

यज्ञों में द्रव्ययज्ञ द्वारा सुवृष्टि का प्रतिपादन किया गया है। सुवृष्टि से अन्नोत्पत्ति तथा अन्न से ही समग्र जीवों की सृष्टि तथा पुष्टि निरूपित कर सम्पूर्ण सृष्टिचक्र के आधार के रूप में यज्ञ को भगवद्गीता में प्रतिष्ठित किया गया है-

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः।। भ० गी० 3.14

भागवद्गीता के मार्ग का अनुसरण करते हुए मीमांसादर्शन ने अपनी सम्पत्ति में से एक अंश के 'दान' के रूप में स्वीकृत 'यज्ञ' को समग्र विश्वात्मक लोक के कल्याण के लिए ही अपना प्रधान प्रतिपाद्य विषय निरूपित किया है। भर्तृमित्रादि प्राचीन आचार्यों ने बिना किसी फलाकाङ्क्षा के, विश्वात्मक लोक के कल्याण के लिए जीवन में 'त्याग' के महत्त्व की प्रतिष्ठा को याग या यज्ञ का उद्देश्य निरूपित किया है। भगवद्गीता में मीमांसाशास्त्र की इस लोकोपकार-भावना को सात्त्विक याग के रूप में अभिव्यक्त किया गया है-

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनःसमाधाय स सात्त्विकः।। भ० गी० 17.11

क्रत्वर्थ तथा पुरुषार्थ-चिन्तन में नैतिक नियमों का लोकोपयोगी स्वरूप

जीवनयापन के लिए आवश्यक द्रव्यार्जन के साधनों को भी धर्मशास्त्रों में नियमित कर दिया गया है। उदाहरणार्थ ब्राह्मण के लिए जीवनयापनार्थ आवश्यक द्रव्य की प्राप्ति के लिए अध्यापन, याजन तथा प्रतिग्रह, ये तीन साधन निरूपित किए गए हैं-

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहश्चैव षट्कर्माण्यग्रजन्मनः।। मनुस्मृति 10. 75
षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका।
याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः।। मनुस्मृति10.76

यहाँ पर यह प्रश्न उठाया गया है कि द्रव्यार्जन हेतु प्रतिपादित इन नियमों का सम्बन्ध यज्ञ में माना जाए या व्यक्ति में? यदि द्रव्यार्जन के इन नियमों का

समन्वय यज्ञ के साथ करते हैं तो ऐसी स्थिति में इन्हें क्रत्वर्थ कहा जाएगा। इन नियमों को क्रत्वर्थ मानने पर यह अर्थ निकलेगा कि नीतिपूर्वक नियमों द्वारा अर्जित धन (द्रव्य) यज्ञ का साधन है, ऐसी स्थिति में यज्ञ को छोड़कर अन्य आवश्यकताओं कि पूर्ति हेतु अनैतिक साधनों से भी द्रव्यार्जन प्रतिबन्धित नहीं होगा। मीमांसाशास्त्र लौकिक जीवन के किसी भी स्तर पर अनैतिकता को स्वीकार नहीं करता इसलिए द्रव्यार्जान के नियामों को इसमें क्रत्वर्थ न मानकर पुरुषार्थ माना गया है। इस सन्दर्भ में यह कहा गया है कि इन्हें पुरुषार्थ मानने पर जैसे द्रव्य से सांसारिक सुख सिद्ध होते हैं वैसे ही यज्ञ के माध्यम से पारलौकिक सुखों की निष्पत्ति में भी अनौचित्य नहीं होगा। इसके अतिरिक्त क्रतु भी एक पुरुषार्थ है अतः द्रव्यार्जन के नियम पुरुषार्थ हाने से इनका क्रतु (यज्ञ) के साथ भी एक परम्परा-सम्बन्ध निष्पन्न हो जाता है।[3]

द्रव्यार्जन के इन नियमों द्वारा नैतिकता के साथ सामाजिक व्यवस्था का लोकोपयोगी स्वरूप भी उद्घाटित होता है। सभी वर्णों के द्रव्यार्जन के नियम अलग-अलग निर्धारित हैं। इन्हें पुरुषार्थ स्वीकार किए जाने से द्रव्यार्जन के क्षेत्र में ये एक सामाजिक व्यवस्था के भी प्रकाशक होने से, इनके माध्यम से भी मीमांसा-शास्त्र के लोकोपयोगी स्वरूप की अभिव्यक्ति हो जाती है।

मीमांसा-न्यायों का लोकोपयोगी स्वरूप

मुख्य रूप से मीमांसाशास्त्र, कर्म को वेदार्थ निरूपित करने के लिए प्रवृत्त हुआ है। वेदार्थ के रूप में कर्म की सिद्धि के लिए ही मीमांसाशास्त्र में अनेक न्यायों का अवलम्बन किया गया है। यद्यपि मीमांसा के न्याय, वेदार्थ के रूप में 'कर्म' की स्थापना के लिए प्रवृत्त हुए हैं, तथापि अपने मुख्य प्रयोजन की सिद्धि के साथ ही अन न्यायों की जहाँ लोकव्यवहारमूलकता अभिव्यक्त हुई है, वहीं इनका लोकोपयोगी स्वरूप भी प्रकाशित हुआ है। स्थालीपुलाकन्याय से मीमांसा के न्यायों की लोकोपयोगिता को निम्न रूप में समझा जा सकता है-

1. नष्टाश्वदग्धरथन्याय की लोकोपयोगिता

दर्शपूर्णमास रूप प्रधान याग तथा इसके ही प्रकरण में 'समिधो यजति,[4] बर्हिर्यजति[5], तनूनपातं यजति[6], इडो यजति[7] तथा स्वाहाकारं यजति'[8] ये पाँच याग निरूपित किए गए हैं। दर्शपूर्णमास याग में याग के अङ्ग कौन होंगे? इसका स्पष्टीकरण नहीं किया गया है अतः दर्शपूर्ण याग को अपनी निष्पत्ति के लिए

अङ्गाकाङ्क्षा है। इसी प्रकार इन पाँचों यागों को, जिन्हें प्रयाज कहा जाता है, फलाकाङ्क्षा है। इनमें फल श्रुत नहीं है। यह फल, स्वर्गरूप में, प्रधान दर्शपूर्णमास के साथ श्रुत है। इस प्रकार दर्शपूर्णमास को अङ्गाकाङ्क्षा तथा प्रयाजों को फलाकाङ्क्षा होने से दोनों की उभयाकाङ्क्षा रूपी प्रकरण प्रमाण[9] से प्रयाजों की अङ्ग रूप से दर्शपूर्णमास याग के साथ एकवाक्यता हो जाने से दोनों की अङ्ग तथा फलाकाङ्क्षा पूर्ण हो जाती है। इस तथ्य को 'नष्टाश्वदग्धरथन्याय[10] कहा जाता है। दो रथों में से एक का अश्व नष्ट हो जाने पर तथा दूसरे रथ का रथभाग जल जाने पर, जिस रथ का अश्व नष्ट हो चुका है उसमें दग्धरथ का अश्व जोड़कर दोनों रथियों का गमनरूपी प्रयोजन सिद्ध करना नष्टाश्वभग्नरथन्याय कहलाता है। इस न्याय के प्रयोग से जहाँ शास्त्रीय समस्या का समाधान किया गया है वहीं इस न्याय के माध्यम से परस्पर सामञ्जस्य के द्वारा सभी के उत्कर्ष-सिद्धि की लोकोपयोगी भावना की अभिव्यक्ति भी की गई है।

2. बलाबलाधिकरण का लोकोपयोगी स्वरूप

मीमांसादर्शन में प्रधान याग की निष्पत्ति में अनेक अङ्गों का उसके साथ समन्वय करने के लिए श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान तथा समाख्या ये छह प्रमाण प्रतिपादित किए गए हैं। इनमें एक ही स्थल पर एक प्रधान के साथ अलग-अलग प्रमाणों से अलग-अलग प्रकार के विनियोग प्राप्त होने पर, जिन प्रमाणों का पहले उल्लेख हुआ है, उन्हें बाद में उल्लिखित प्रमाणों से प्रबल मानकर उनके द्वारा प्रतिपादित विनियोग ही स्वीकार किया जाता है। उदाहरणार्थ 'श्रुति' प्रमाण का उल्लेख सबसे पहले होने से इसे सबसे प्रबल प्रमाण तथा 'समाख्या' सबसे बाद में उल्लिखित होने से इसे सबसे दुर्बल स्वीकार किया गया है। उदाहरणार्थ '**कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे**'[11] हे इन्द्र! हविर्भाग देने वाले को तुम कभी मारने के लिए नहीं, अपितु उसकी रक्षा करने के लिए हो जाते हो। इस ऋचा में इन्द्र शब्द का उल्लेख होने से इसे ऐन्द्री ऋचा कहा जाता है। यहाँ पर ऋचा में '**इन्द्र**' शब्द का प्रयोग होने से लिङ्ग-प्रमाण से यह ऋचा इन्द्र के उपस्थान (स्तुति) में अङ्ग रूप से समन्वित हो ऐसा लिङ्ग प्रमाण का प्रतिपादन है परन्तु श्रुति, लिङ्ग से प्रबल होने के कारण **ऐन्द्र्या गार्हत्यमुपतिष्ठते**[12] (ऐन्द्री ऋचा से गार्हपत्य (अग्नि) की स्तुति करनी चाहिए) इस श्रुति-प्रमाण से उक्त ऐन्द्री ऋचा गार्हपत्योपस्थान में विनियुक्त हो जाती है।

लौकिक धरातल पर प्रमाणों का यह बलाबल, नीचे के अधिकारियों की अपेक्षा ऊपर-ऊपर के अधिकारियों के स्वाभाविक अधिकारबल की प्रबलता को अभिव्यक्त करता है। विवेचित बलाबलाकधिकरणन्याय से लौकिक धरातल पर यदि ऊपर-ऊपर के अधिकारियों की प्रबलता का लोकोपयोगी पक्ष प्रकाशित हुआ है तो, शिष्यकोपाधिकरण, छोटे अधिकारी का अपने से प्रबल अनेक अधिकारियों की अपेक्षा अधिक प्रबलता का पक्ष भी उद्घाटित करता है।

3. शिष्टाकोपाधिकरण का लोकोपयोगी स्वरूप

मीमांसाशास्त्र के प्रथम अध्याय के तृतीय पाद का यह तृतीयाधिकरण है। इसमें **वेदं कृत्वावेदिं करोति**[13] (वेद (कुशाओं से ब्रश) बनाकर वेदी का निर्माण करे) इस वाक्य से वेद-निर्माण के तत्काल बाद वेदिनिर्माण का विधान किया गया है। संयोग से यदि निर्माणकर्ता अध्वर्यु को छींक आ जाती है तो **क्षुते आचमेत्**[14] (छीकनें पर आचमन करे) यह स्मृतिवाक्य आचमन का विधान करता है। शङ्का यहाँ पर उठाई गई है कि श्रुति तो वेदनिर्माण के तत्काल बाद वेदिनिर्माण का प्रतिपादन करती है। अतः यदि बीच में स्मार्त आचमन करते हैं तो श्रुति के साथ विरोध होगा। **श्रुतिस्मृतिविरोधे श्रुतिरेव बलीयसी** (श्रुति-स्मृति में विरोध होने पर श्रुति ही प्रबल है) अतः उसका पक्ष मानकर स्मृतिबोधित आचमन नहीं करना चाहिए यह पूर्व-पक्ष है। सिद्धान्त यह निर्णय देता है कि यद्यपि आचमन दुर्बल प्रमाण स्मृति से प्राप्त है तथापि वह प्रबल प्रमाण श्रुति के द्वारा प्रतिपादित प्रमेय क्रम से प्रबल है। आचमन यह एक क्रिया रूप पदार्थ है तथा क्रम यह पदार्थों में रहने वाला धर्म है अतः यह, पदार्थ=धर्मी, आचमन से दुर्बल है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में दुर्बल क्रम का आलम्बन करने से श्रुति के स्मृति से प्रबल होने पर भी, प्रबल आचमन का अवलम्बन करने वाली, दुर्बल स्मृति से प्रबल श्रुति बाधित हो जाती है।[15]

लोकव्यवाहर में भी यह देखा जाता है कि किसी मातहत अधिकरी का सर्वोच्च अधिकारी के साथ समन्वय स्थापित होने पर दुर्बल होने पर भी प्रबलाश्रित होने के कारण उसके द्वारा लिए गए निर्णय, उससे ऊपर के अधिकारियों के निर्णय के विरुद्ध होने पर भी स्वीकार कर लिए जाते हैं। कुमारिलभट्ट ने प्रस्तुत प्रसङ्ग की सङ्गति, लोकप्रसिद्धि के माध्यम से ही प्रदर्शित की है। इनका कहना है कि -

अत्यन्तबलवन्तोऽपि पौरजानपदा जनाः।
दुर्बलैरपि बाध्यन्ते पुरुषैः पार्थिवाश्रितैः॥ तन्त्रवार्तिक 3.3.7

(धन से, बल से, नगर-निवासी जन, कितने ही प्रबल क्यों न हों किन्तु (अत्यन्त प्रबल राजा के आश्रित होने से) दुर्बल राजपुरुषों द्वारा विरोध होने पर बाधित कर दिए जाते हैं।) बलाबल के ये दोनों सिद्धान्त जहाँ लोकव्यवहार को देखकर निर्मित हैं वही लौकिक धरातल पर समीचीन व्यवहार के भी सहज प्रदर्शक हैं।

4. विकल्पन्याय की लोकोपयोगिता

कर्मानुष्ठान के लिए अभिमत मुख्य द्रव्य न प्राप्त होने पर यदि उसकी जगह विकल्प में किसी अमुख्य द्रव्य का उपादान किया गया हो, अनुष्ठान की प्रक्रिया में ही मुख्य द्रव्य प्राप्त हो जाए तो भी उसका ग्रहण न कर जिस अमुख्य द्रव्य से कर्मानुष्ठान प्रारम्भ हो चुका हो उसका ही अन्त तक अवलम्बन किया जाता है।[16] यह न्याय लोकव्यवहार में आज भी मान्य है। यदि किसी प्रतिष्ठान में किसी नियुक्ति में प्रथम क्रमाङ्क पर अनुमोदित व्यक्ति निर्धारित समय-सीमा में पदभार ग्रहण नहीं करता तो, ऐसी स्थिति में द्वितीय क्रम-प्राप्त को नियुक्ति प्रदान की जाती है। एक बार उसकी नियुक्ति हो जाने पर प्रथम स्थान पर अनुमोदित व्यक्ति बाद में उपस्थित हो भी जाए तो भी नियुक्त को हटाकर उसे नियुक्ति नहीं दी जाती है। इसे Law of prescription कहते हैं। इसी प्रकार मीमांसा के अर्थैकत्वन्याय[17] के माध्यम से यह प्रतिपादित किया गया है कि राजकीय अनुशासन में प्रचलित शब्दों या वाक्यों का वही अर्थ रखा जाए जो लोकव्यवहार में प्रसिद्ध हो।

इस तरह अन्य अनेक न्यायों द्वारा भी मीमांसादर्शन में लोकसङ्गति के साथ ही अपने न्यायों की लोकोपयोगिता भी प्रदर्शित की गई है।

5. यागाधिकार न्याय में पारिवारिक तथा सामाजिक समरसता

यागाधिकार-निर्णय में मीमांसा में स्त्रियों को पति के साथ यागाधिकार प्रदान कर[18] जहाँ पारिवारिक समरसता का प्रकाशन किया गया है वहीं रौद्रयाग में रथकार जाति के शूद्र का अग्न्याधान तक यागाधिकार स्वीकार कर सामाजिक समरसता की भी अभिव्यक्ति की गई है। मीमांसा के काम्य कर्मों में पति एवं

पत्नी दोनों में अलग-अलग किसी को भी यागाधिकार न देते हुए दोनों को संयुक्त रूप से 'दम्पती' के रूप में यागाधिकार देकर पारिवारिक समरसता के लौकिक पक्ष को अभिव्यक्त किया है।[19] वेदों में शूद्र के यागाधिकार के प्रमाणरूपी वाक्य न होने से यद्यपि जैमिनी ने यागकर्म में इनका निषेध किया है तथापि प्राचीन मीमांसक बादरी ने उस समय भी, उनके अधिकार का समर्थन करते हुए अपनी[20] सामाजिक समरसता की उदात्त भावना को भी अभिव्यक्ति प्रदान की है

मीमांसा के स्वतःप्रामाण्यवाद के सिद्धान्त की लोकोपयोगिता

मीमांसादर्शन के भाट्ट, प्राभाकर तथा मुरारिमिश्र इन तीनों प्रस्थानों में कर्मरूपी अर्थ के प्रतिपादक वैदिक शब्दों या वाक्यों से उत्पन्न कर्मकर्तव्यता या कर्मसङ्गति रूप 'ज्ञान' में किसी प्रकार के संशय के लिए अवसर न रहे, इसलिए वेदार्थज्ञान के साथ सभी ज्ञानों में उत्पत्तिगत तथा ज्ञप्तिगत, दोनों प्रकार का याथार्थ्य रूपी स्वतः प्रामाण्य स्वीकार किया गया है।

प्रमाणों द्वारा ज्ञान की उत्पत्ति के साथ उसके प्रामाण्य की उत्पत्ति तथा ज्ञानग्राहक सामग्री द्वारा ही ज्ञान-प्रामाण्य के ग्रहणरूपी ज्ञाप्तिविषयक स्वतःप्रामाण्य को मीमांसकों ने स्वीकार किया है। स्वतःप्रामाण्यवाद के सिद्धान्त में मूलभावना यह है कि प्रामाण्य, ज्ञान-मात्र का स्वाभाविक धर्म है। कुमारिलभट्ट का कहना है कि जिस ज्ञान में यह प्रामाण्य-शक्ति स्वतः विद्यमान नहीं है वह दूसरे के द्वारा भी कैसे की जा सकती है-

स्वतः सर्वप्रमाणां प्रामाण्यमिति गम्यताम्।
न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुम्न्येन शक्यते।।[21]

ज्ञान के इस उत्पत्तिगत तथा ज्ञप्तिगत प्रामाण्यवाद के दोनों स्थलों पर 'स्वतः-प्रामाण्य' स्वीकार करने का मीमांसा का अभिप्राय यह है कि यथार्थरूप में स्वीकृत ज्ञान का अप्रामाण्य, जब तक अकाट्य, तथा प्रबल प्रमाणों द्वारा सुनिश्चित नहीं हो जाता तब तक ज्ञान का याथार्थ्यरूपी दोषाभावरूप प्रामाण्य स्वतः सिद्ध रहता है। मीमांसा के इस स्वतःप्रामाण्यवाद के सिद्धान्त की लोकोपयोगिता का पक्ष हमारे राष्ट्र के विधिशास्त्र में पूर्ण रूप से प्रकाशित होता है। भारतीय विधिशास्त्र में दोषरूपी अप्रामाण्य जब तक सिद्ध नहीं हो जाता तब तक दोषाभाव रूपी प्रामाण्य स्वतः सिद्ध माना जाता है। मीमांसा के प्रामाण्यों के स्वतस्त्व तथा अप्रामाण्य के परतस्त्ववाद के सिद्धान्त में यह लोकोपयोगी पक्ष भी पूर्णरूप से प्रकाशित हुआ है।

भाषा-सिद्धान्त का लोकोपयोगी पक्ष

वैदिक वाक्यों का विश्लेषण कर उसका कर्मपरक अर्थ सुनिश्चित करने की प्रक्रिया में मीमांसा ने भाषा के क्षेत्र में दो सिद्धान्त प्रदान किए हैं। इन्हें अभिहितान्वयवाद तथा अन्विताभिधानवाद कहा जाता है।

अभिहितान्वयवाद का सिद्धान्त मीमांसासूत्रों के शाबरभाष्य पर वार्तिकों की रचना करने वाले आचार्य कुमारिलभट्ट तथा उनके अनुयायियों का है। इनके अनुसार वाक्य में स्थित पदों (शब्दों) के अभिहित पदों का पहले अवबोध होता है। बाद में पदजन्य पदार्थविज्ञान का अवबोध हो जाने पर इन वाक्यस्थित पदों के परस्पर सम्बन्धरूपी अन्वयात्मक वाक्यार्थ का लक्षणावृत्ति से अवबोध हुआ करता है।[22] इस सिद्धान्त में शब्दों या पदों का अर्थ पहले अभिहित होने के पश्चात् उनका परस्पर सम्बन्धरूपी वाक्यार्थ प्रतिपादित किया गया है। इसीलिए इसे अभिहितान्वयवाद कहा जाता है। कुमारिलभट्ट के अभिहितान्वयवाद के सिद्धान्त पर प्रभाकर-मतावलम्बी मीमांसक अन्विताभिधानवाद का प्रतिपादन करते हैं। इनके अनुसार पदों के अभिहित अर्थ का ज्ञान, वाक्यार्थ-ज्ञान के साथ ही माना जाता है। यथा घटमानय आदि स्थलों में घटादि पद (शब्द) अपने में विद्यमान स्मारिका शक्ति से घटत्वादि जातियों का स्मरण कराते हुए अपनी अनुभाविका शक्ति द्वारा घटादि के आनयन क्रिया में अन्वय रूप वाक्यार्थ का बोध कराते हैं।[23]

मीमांसा के दोनों सम्प्रदायों द्वारा अभिमत अन्विताभिधानवाद तथा अभिहितान्वयवाद-सिद्धान्तों की उपयोगिता भाषा के शिक्षण में स्पष्ट रूप से समन्वित हो जाती है। अन्विताभिधानवाद यह भाषा-शिक्षण के साक्षात् प्रशिक्षण की विधा की अभिव्यक्ति है। एक छोटा बालक जब भाषा सीखता है तब क्रिया में अन्वित शब्दार्थों का ही ग्रहण करता है। पूरे वाक्य को सुनकर उसे एक समन्वित बोध ही हुआ करता है। यदि किसी विशेष भाषा को सीखने के इच्छुक व्यक्ति को उस भाषा का व्यवहार करने वाले लोगों के बीच रख दिया जाए तथा उसे स्वयं अपने आप वह भाषा सीखनी हो तो वह व्यक्ति उन लोगों के भाषिक व्यवहार का अवलकोन करते हुए इसी साक्षात् भाषा-शिक्षण की प्रणाली से भाषा का ज्ञान प्राप्त करेगा।

भाषा-शिक्षण के क्षेत्र में, दूसरी भाषा के वाक्य में विद्यमान शब्दों का

प्रथम, शब्दकोशों की सहायता से ज्ञान प्राप्त कर, फिर उन तमाम शब्दों के समन्वित अर्थ को, जब कोई प्रौढ़ व्यक्ति, समझने का प्रयास करता है, तो भाषा-शिक्षणविधि अभिहितान्वयवाद की परिधि में आ जाती है। इस प्रकार मीमांसादर्शन के प्राभाकर तथा भाट्टसम्प्रदाय द्वारा अभिमत वाक्यार्थावबोधन के सिद्धान्त जहाँ वैदिक वाक्यों के अर्थावबोध में अपनी चरितार्थता प्रकट करते हैं वहीं बालक तथा प्रौढ़ व्यक्ति के लिए भाषा के साक्षात् तथा परम्परया प्रशिक्षणविधि के प्रकाशन होने से अपनी लोकप्रियता के भी अभिव्यञ्जक हैं।

मीमांसा के होलाकाधिकरण में राष्ट्रीय एकता की अभिव्यञ्जना

मीमांसाशास्त्र के होलाकाधिकरण में राष्ट्र के विविध प्रान्तों में प्रचलित उत्सव, केवल उन्हीं प्रान्त्रों तक रहने चाहिए या सम्पूर्ण राष्ट्र को उन्हें मानना चाहिए? इस शङ्का के उत्पन्न होने पर पूर्वपक्ष, उन्हें क्षेत्र-विशेष तक सीमित करता है परन्तु मीमांसा का सिद्धान्त पक्ष, उन्हें सम्पूर्ण राष्ट्र में मनाये जाने का सिद्धान्त प्रतिपादित करता है। इस सन्दर्भ में सिद्धान्तपक्ष का कहना है कि यदि इन प्रादेशिक उत्सवों को, (जैसे होली, यह उत्तरप्रदेश का उत्सव कहलाता है), पूर्व, पश्चिम, उत्तर तथा दक्षिण, के उत्सव मानकर उन उन प्रदेशों तक परिसीमित करने के लिए इनके मानने की परम्परा का मूल भी वेद तथा स्मृतियों में खोजना आवश्यक होगा अतः इनकी कल्पनीय श्रुति तथा स्मृति में भी प्राच्य, दक्षिण इत्यादि पदों का निवेश करना पड़ेगा परन्तु ऐसा करने के लिए प्राच्य का क्या अर्थ है? दक्षिण का क्या अर्थ है? यह भी बतलाना होगा जो सम्भव नहीं है। यदि प्राच्य शब्द का प्राच्या भवः प्राचीनः पूर्व दिशा में होना अर्थ स्वीकार करते हैं, तो प्राचीन गतः प्राच्यः (प्राची=पूर्व दिशा में जो गया वह प्राच्य है) या प्राच्या आगतः प्राची से जो आया है वह प्राच्य है इत्यादि अनेक प्रकार की व्युत्पत्तियों की प्रक्रिया विद्यमान रहने के कारण प्राची आदि दिशाओं का निर्वचन करना असम्भव होने से इन प्रादेशिक उत्सवों की व्याप्ति सम्पूर्ण राष्ट्र पर्यन्त मानी गई है। मीमांसा का यह होलाकाधिकरण सिद्धान्त[24] अपने प्रासङ्गिक अर्थ के साथ सम्पूर्ण भारतवर्ष की एकरूपता तथा अखण्डता के अवबोध में भी नितान्त उपयोगी है।

आरुण्याधिकरण का लोकोपयोगी पक्ष

मीमांसादर्शन के ग्रन्थ मीमांसान्यायप्रकाश में **अरुणया पिङ्गाक्ष्यैकहायन्या सोमं क्रीणाति**[25] इस वाक्य द्वारा यद्यपि 'अरुणया' पद में विद्यमान तृतीया

विभक्ति अरुणगत साधनत्व का बोधक होने से उसका क्रीणाति पदवाच्य क्रय के अङ्गत्वरूप में विधान करती है परन्तु गुण में क्रयरूपी क्रियाव्यवहार में अङ्गत्व की साक्षात् योग्यता न होने से 'एकहायनी' गौरूप द्रव्य के माध्यम से उसका क्रय में पार्ष्ठिक समन्वय यहाँ माना गया है। मीमांसा-न्यायप्रकाश के हिन्दी व्याख्याकार, मीमांसा-सागर स्व० पण्डित पट्टाभिरामशास्त्री लिखते हैं कि "प्रजा-तन्त्र का, यह न्याय, परिचायक है। समिति द्वारा की हुई कोई योजना, सम्बद्ध मन्त्री के पास साक्षात् प्रथम जाने पर भी तब तक कार्यान्वित नहीं हो सकती जब तक नीचे के लोगों द्वारा (उचित माध्यम से) नहीं आती हो।[26]

प्रस्तुत पार्ष्ठिक न्याय, दैनन्दिन कार्यालयीन व्यवहार में प्रचलित है। यदि विश्वविद्यालय में किसी आचार्य, उपाचार्य या प्राध्यापक को कुलपति के पास अपना आवेदन देना है तो अपेक्षा की जाती है कि इसे सीधे उनके पास न भेजें अपितु अपने से सम्बद्ध विभाग के अध्यक्ष द्वारा अग्रेषित कराने के शिष्टाचार का पालन करें। उचित माध्यम से अग्रेषण का लोकाचार मीमांसा के इस पार्ष्ठिक समन्वय के सिद्धान्त द्वारा प्रवर्तित होने के कारण इस सिद्धान्त की भी लोकोपयोगिता स्वतः स्पष्ट है।

परिसङ्ख्याविधि का लोकोपयोगी स्वरूप

मीमांसादर्शन जिन वैदिक विधिवाक्यों के विश्लेषण से मुख्य रूप से अर्थ-निर्णय के लिए प्रवृत्त हुआ है, उन विधिवाक्यों में एक प्रधान में अनेक अङ्ग या एक अङ्ग में एकाधिक प्रधानों की प्राप्ति होने पर, एक के समन्वय को छोड़कर, अन्यों के समन्वय की वर्जना-बुद्धि के विधायक वाक्य, परिसङ्ख्याविधि कहलाते हैं।[27] इस विधि का लोकोपयोगी स्वरूप व्यवहार में भी दृष्टिगोचर होता है। रेल तथा बस यानों में 'महिलाओं के लिए' यह वाक्य लिखा रहता है। वहाँ उन स्थानों पर महिलाओं ने बैठना ही चाहिए ऐसा नियम नहीं माना जाता। उन्हें अन्य स्थानों पर बैठने का विधिसम्मत अधिकार अभी तक प्राप्त है परन्तु जब कोई पुरुष उन स्थानों पर बैठने के लिए प्रवृत्त होता है, तभी ये वाक्य उसमें वर्जना बुद्धि उत्पन्न कराकर अपनी चरितार्थता प्रकट करते हैं। इसी प्रकार अन्य आरक्षण आदि वाक्य भी परिसङ्ख्याविधि के लोकोपयोगी स्वरूप के परिचायक हैं।

लोक तथा लौकिक शब्दों का लोकोपयोगी स्वरूप

कर्म-निष्पत्ति तथा सङ्गति के लिए प्रतिपादित सिद्धान्तों तथा न्यायों से

जहाँ मीमांसादर्शन का लोकोपयोगी स्वरूप अभिव्यक्त हुआ है, वहाँ लोक तथा लौकिक शब्दों के साक्षात् प्रयोग द्वारा भी इस दर्शन की लोकोपयोगिता प्रकाशित हुई है। भाष्यकार शबरस्वामी 'लोक' शब्द से शाबरभाष्य का प्रारम्भ करते हुए लिखते हैं- "**लोके येष्वर्थेषु प्रसिद्धानि यानि पदानि तानि सति सम्भवे तदर्थान्येव सूत्रेष्वित्यवगन्तव्यम्।**[28] लोक (व्यवहार) में जिन अर्थों में शब्द (पद) प्रसिद्ध हैं, उन अर्थों में ही यथासम्भव उनका अर्थ जैमिनीसूत्रों में खोजा जाना चाहिए।" प्रचलित राजकीय अर्थों के प्रकाशक विधानशास्त्रमर्मज्ञ मैक्सवेल ने भी 'रूल्स ऑफ कन्सट्रक्शन एण्ड इन्टरप्रिटेशन' में इसी नियम का प्रतिपादन किया है। वे लिखते हैं, ''राजकीय अनुशासन के शब्दों और वाक्यों का अर्थ वैसा ही करना होगा जैसा कि लोकव्यवहार में जनसाधारण के द्वारा किया जा रहा हो।[29]

भाष्यकार शबरस्वामी के अनुरूप भाष्य पर वार्तिकों का निर्माण करने वाले, मीमांसादर्शन के आधारस्तम्भ के रूप में विख्यात कुमारिलभट्ट ने भी अपने श्लोकवार्तिक में योगियों को होने वाले सकलार्थप्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष मानने से मना कर दिया है। उनका कहना है कि चूँकि इन्द्रियार्थ-संयोगजन्य ही प्रत्यक्ष लोक में प्रसिद्ध है अतः इससे भिन्न अर्थ में योगिप्रत्यक्ष को भी नहीं माना जा सकता-न **लोकव्यतिरिक्तं हि प्रत्यक्षं योगिनामपि।**[30]

परामर्श-इन अनेक बिन्दुओं पर प्रतिपादित मीमांसा के लोकोपयोगी स्वरूप का पर्यालोचन, इस बात को प्रमाणित कर देता है कि मीमांसा, मुख्य रूप से वेद के जिन यज्ञपरक वाक्यों के अर्थनिर्णय के लिए प्रवृत्त हुई है, उनके आधारभूत यज्ञों के सम्पादन की परम्परा लुप्त हो जाने पर भी, मीमांसा के न्याय, आज के प्रासङ्गिक संन्दर्भों में अपनी उपयोगिता को बनाए हुए हैं। जिस प्रकार भाषा-प्रशिक्षण में मीमांसा-न्यायों की प्रासङ्गिकता विद्यमान है, उसी प्रकार अन्य अनेक सिद्धान्तों तथा न्यायों के माध्यम से भी इस दर्शन का लोकोपयोगी स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

सन्दर्भ

1. शब्दकल्पद्रुम, नाग-पब्लिशर्स, दिल्ली, 1987, पृ० 231
2. वेदेन प्रयोजनमुद्दिष्य विधीयमानोऽर्थो धर्मः। यथा यागादिः। मीमांसा न्यायप्रकाश, श्री लालबहादुरशास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली, 1983, पृ० 9
3. पुरुषार्थत्वे तु ऐहिकप्रीतिकारिभोजनादिवत् क्रतोरामुष्मिकप्रीतिकारितया

पुरुषार्थेष्वन्तर्भावात्क्रत्वर्थत्वमप्यार्थिकं सिद्ध्यति। भाट्टचिन्तामणि, तर्कपाद, पृ० 3 पं० सूर्यनारायण शुक्ल कृत टिप्पणी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, 1933, पृ० 3, पङ्क्ति 25

4. तै० सं० 2.6.1, पृ० 3
5. उद्धृत मीमांसापरिभाषा, कृष्णदास अकादमी वाराणसी, 1987, पृ० 184
6. तै० सं० 2.6.1
7. तै० सं० 2.6.1
8. मीमांसापरिभाषा, पृ० 185
9. मीमांसान्यायप्रकाश, पृ० 102
10. मीमांसान्यायप्रकाश, हिन्दी व्याख्या, पृ० 103, पङ्क्ति 13.
11. मीमांसान्यायप्रकाश, पृ० 85
12. मै० सं० 1.5.11
13. मीमांसान्यायप्रकाश, पृ० 90
14. मीमांसान्यायप्रकाश, पृ० 91
15. द्रष्टव्य, मीमांसान्यायप्रकाश, पृ० 90-91
16. द्रष्टव्य, मीमांसा-दर्शन का विवेचनात्मक इतिहास, पृ० 289
17. द्रष्टव्य, वही पृ० 290
18. जातिं तु बादरायणोऽविशेषात् तस्मात् स्त्र्यपि प्रतीयेत जात्यर्थस्याविशिष्टत्वात्। जैमिनिसूत्र 6.1.8
19. दम्पत्त्योः सहाधिकरणम्-उद्धृत-मीमांसादर्शन का विवेचनात्मक इतिहास, पृ० 293
20. निमित्तार्थे च बादरि...... जैमिनिसूत्र 6.1.27
21. मीमांसा-श्लोकवार्तिक, कामेश्वरसिंह दरभङ्गा संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभङ्गा, 1979, पृ० 89
22. तस्मात्पदाभिहितैः पदार्थैर्लक्षणया वाक्यार्थः प्रतिपाद्यते। शास्त्रदीपिका, कृष्णदास अकादमी वाराणसी, 1988 पृ० 154

    अतस्सिद्धंपदैरभिहिताः पदार्थाः लक्षणया वाक्यार्थमवबोधयन्तीति। तन्त्र-सिद्धान्त-रत्नावली, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1944, पृ० 64
23. प्राभाकरास्तु कार्यान्विते पदानां शक्तिः। तथाहि पदेषु स्मारिका अनुभाविका चेति शक्तिद्वयं तत्र स्मारिका जातौ। अनुभाविका कार्यान्विते। एवञ्च घटादि-पदानि घटत्वादि-जातिस्मरणद्वारा घटादेः कार्यान्वयानुभवजनकानि। भाट्टचिन्तामणि, चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी, 1933, पृ० 62
24. होलाकाधिकरणम् मीमांसानयमञ्जरी, सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1984, पृ० 16

25. मीमांसान्यायप्रकाश, हिन्दी व्याख्या, पृ० 68
26. मीमांसान्यायप्रकाश, टिप्पणी, पृ० 68
27. तत्र चान्यत्र च प्राप्ते परिसङ्ख्येति गीयते। मीमांसान्यायप्रकाश, पृ० 194
उभयस्य युगपत् प्राप्तौ इतरव्यावृत्तिपरो विधिः परिसङ्ख्याविधिः।
मीमांसान्यायप्रकाश, पृ० 196
28. शाबरभाष्य, उद्धृत, मीमांसा-श्लोकवार्तिकम्, पृ० 08, कामेश्वरसिंह दरभङ्गा-संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभङ्गा, 1979
29. उद्धृत, म० म० गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर-विरचित मीमांसादर्शन का विवेचनात्मक इतिहास, पृ० 290
30. मीमांसा-श्लोकवार्तिक, पृ० 240

12
मीमांसा का एकवाक्यता-सिद्धान्त

मीमांसाशास्त्र-सम्मत अर्थावबोध की प्रक्रिया में वाक्य में श्रवण के अनन्तर अर्थनिष्पत्ति के लिए आकाङ्क्षा, योग्यता, सन्निधि आदि तत्त्व, जहाँ सभी शास्त्रीय प्रस्थानों में समान रूप से स्वीकार किए गए हैं, वहीं तात्पर्यवृत्ति तथा शब्दस्वरूप, अर्थस्वरूप, शब्दार्थ-सम्बन्ध तथा वाक्यार्थ-निष्पत्ति की प्रक्रिया में मीमांसकों का वैशिष्ट्य भी प्रकट हुआ है। इन तत्त्वों की विवेचना में प्रकाशित मीमांसकों के वैशिष्ट्य के अतिरिक्ति मीमांसा-सम्मत अर्थावबोध की प्रणाली में जो सिद्धान्त प्रमुख रूप से उभर कर सामने आता है, वह इनका 'एकवाक्यता' का सिद्धान्त है। कर्म को वेदार्थ के रूप में स्थापित करने के लिए मीमांसाशास्त्र ने जिन न्यायों, प्रमाणों तथा उपपत्तियों का अवलम्बन किया है, उनके द्वारा एकवाक्यतावाद' ही इस शास्त्र के केन्द्रीभूत सिद्धान्त के रूप में अभिव्यक्त हुआ है। समस्त प्रमाणों तथा तर्कों की इस एकवाक्यतावाद के माध्यम से ही वेदार्थ (कर्म) की सङ्गति में चरितार्थता अभिव्यक्ति हुई है। मीमांसा-शास्त्र के इस केन्द्रीभूत एकवाक्यता-सिद्धान्त का भाट्टसम्प्रदाय की दृष्टि से निम्नलिखित विचारबिन्दुओं का परामर्श करते हुए अवलोकन किया जा सकता है।

1. अर्थवाद, मन्त्र एवं नामधेय की विधि के साथ एकवाक्यता

वैदिक वाक्यों की कर्मपरक व्याख्या की प्रक्रिया में मीमांसकों ने वैदिक वाक्यों को विधि, अर्थवाद, मन्त्र, नामधेय तथा निषेध, इन पाँच भागों में विभक्त किया है। इनमें 'विधि' सर्वथा अज्ञात कर्म की प्रतिपादिका होने से मुख्य रूप से वेदार्थ (कर्म) की अवबोधिका मानी गई है।[1] अर्थवाद, मन्त्र तथा नामधेय, विधि के साथ एकवाक्यता प्राप्त करके ही कर्मावबोध तथा कर्मानुष्ठान में अपनी चरितार्थता प्रमाणित कर पाते हैं।[2] विधि भी 'एकवाक्यता' के आधार पर ही अपने कर्मप्रतिपादकत्व को अभिव्यक्त कर पाती है-

'यजेत् स्वर्गकामः' इस वाक्य में 'यजेत् इस अंश में 'यज्' धातु तथा 'त' प्रत्यय, इन दोनों के समन्वय से ही यागविषयक कर्तव्यता निष्पन्न होती है। सर्वप्रथम प्रत्यय 'त' में विद्यमान लिङ्त्व अंश से अभिहित भावना या प्रवर्तना में प्रत्यय के आख्यात अंश से अभिहित प्रवृत्ति या आर्थी भावना की समानाभिधानश्रुति से एकवाक्यता निष्पन्न होती है।[3] तथा फिर धात्वर्थ का भावना में एकपदश्रुति (समान पदों द्वारा प्राप्त होने के कारणत्व रूप) से अन्वय स्थापित किया जाता है।[4] इस प्रकार धात्वर्थ 'याग' का प्रवृत्ति में करणत्व से तथा धात्वर्थ-समन्वित प्रवृत्ति की शाब्दी भावना के साथ एकवाक्यता होने पर ही 'यजेत' इस वाक्य से **यागेन स्वर्गं भावयेत्** यह शाब्दबोध निष्पन्न होता है।

जिस प्रकार विधि के स्वरूप में शाब्दबोध के लिए एकवाक्यता अपेक्षित है, उसी प्रकार यागविशेष ही प्रवृत्ति का विषय होने से नामधेय वाक्यों की[5] तथा विधेय कर्म में प्रवृत्ति की प्रबलता, विधेय के प्रशंसात्मक अर्थवाद वाक्यों के अधीन होने से[6] इन दोनों (नामधेय तथा अर्थवाद वाक्यों) की, विधेयानुष्ठानजनक प्रवृत्ति के उत्पादक शाब्दी भावनारूप अर्थ के अवबोधक विधि-वाक्य के साथ एकवाक्यता होने के कारण ही चरितार्थता मानी जाती है।

2. बलाबलविचार-स्थल में एकवाक्यता

मीमांसा के बलाबलविचारस्थल में एकवाक्यता को ही विनियोजक प्रमाणों में बलाबल का प्रयोजक माना गया है। श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान तथा समाख्या, इन छह विनियोजक प्रमाणों में श्रुति-प्रमाण, निरपेक्ष-प्रमाण होने से इसके द्वारा अङ्ग तथा प्रधान की एकवाक्यता शीघ्र होने के कारण इसे सर्वाधिक प्रबल प्रमाण माना गया है। इसीलिए **'कदाचन-स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे'**[7] मन्त्र में इन्द्र पदनिष्ठ सामर्थ्यरूपी लिङ्ग से इस मन्त्र के इन्द्रोपस्थान में अङ्गत्व की एकवाक्यात्मिका समन्विति का बाध करके **'ऐन्द्रयाय गार्हपत्यामुपष्ठिते'**[8] यहाँ ऐन्द्रया इस तृतीया श्रुति से मन्त्र की गार्हपत्योपस्थान में एकवाक्यता मानी जाती है। इस प्रकार अङ्ग तथा अङ्गी के एकवाक्यता की शीघ्रता की दृष्टि से उक्त प्रमाणों में पूर्ववर्ती प्रबल तथा पश्चाद्वर्ती प्रमाण दुर्बल माने गये हैं।[9]

3. विपरीत बलाबल में एकवाक्यता

इस एकवाक्यता की प्रक्रिया में स्थल-विशेष में विपरीत बलाबल भी

दृष्टिगोचर होता है। एकवाक्यता अगर पूर्ववर्ती प्रबल प्रमाण द्वारा विनियोग करने पर बाधित होती है तो ऐसी स्थिति में प्रबलाश्रित दुर्बल प्रमाण के आधार पर एकवाक्यता का निष्पादन किया जाता है। **'पूष्णोऽहं देवयज्यया पुष्टिमान् पशुमान् भूयासम्'**[10] इस मन्त्र में 'यज्यया' इस समाख्या द्वारा यागसामान्य के साथ इस मन्त्र की एकवाक्यता का अवबोध हो जाने पर **''पौष्णं चरूं निर्वपेत्**[11]**''** इस वाक्य के सामर्थ्यरूपी लिङ्ग प्रमाण से इस मन्त्र की 'पूषा याग' में एकवाक्यता निर्धारित की जाती है।

प्रकृत स्थल में पूर्वपक्ष की यह आपत्ति है कि यह वाक्य दर्शपूर्णमास-प्रकरण में पठित होने के कारण इसे दर्शपूर्णमास याग का अङ्ग माना जाना चाहिए था। इसे सर्वाधिक दुर्बल प्रमाण 'समाख्या' द्वारा पहले यागसामान्य से सम्बद्ध कर फिर ''लिङ्ग'' द्वारा 'पूषा याग' से इसकी एकवाक्यता का प्रतिपादन समीचीन नहीं है।

पूर्वपक्ष के इस पक्ष के निराकरणार्थ आपदेवविरचित 'मीमांसान्याय-प्रकाश' ग्रन्थ में दो तर्क प्रस्तुत किए गए हैं-

प्रथम तर्क यह है कि 'समाख्या' दुर्बल प्रमाण होने पर भी जब प्रबल प्रमाण से समन्वित हो जाता है तब वह अपने से प्रबल प्रमाण का बाध कर देता है। प्रकरण प्रमाण से 'समाख्या' दुर्बल होने पर भी जब उसकी प्रकरण प्रमाण से भी प्रबल लिङ्ग-प्रमाण के साथ एकवाक्यता हो जाती है तब वह दुर्बल होते हुए भी अपने से प्रबल प्रकरण-प्रमाण से सबल हो जाता है। इस सन्दर्भ में आपदेव ने 'तन्त्रवार्तिक' के उद्धारण द्वारा प्रबल के आश्रय से दुर्बल के भी प्रबल होने का लौकिक दृष्यन्त प्रदर्शित किया है-

अत्यन्तबलवन्तोऽपि पौरजानपदा जनाः।
दुर्बलैरपि बाध्यन्ते पुरुषैः पार्थिवाश्रितैः।।[12]

वार्तिकार्थ यह है कि जिस प्रकार लोक में राजपुरुषों से धन, बल तथा प्रभाव की दृष्टि से पौर (नागरिक) अत्यन्त प्रबल होने पर भी राजपुरुषों की उनसे भी प्रबल राजा के साथ एकवाक्यता होने से इन दुर्बल राजपुरुषों द्वारा ये निगृहीत कर लिए जाते हैं, उसी प्रकार प्रबल, लिङ्ग प्रमाण के साथ एकवाक्याता होने से समाख्या द्वारा अपने से प्रबल प्रकरण प्रमाण का बाध हो जाता है।

प्रकृत सन्दर्भ में द्वितीय तर्क यह है कि पूषा-याग के प्रकरण में '**पूषा प्रपिष्ठभागः**'[13] यह विधिवाक्य पठित है। इस विधिवाक्य की '**अदन्तको हि सः**'[14] इस वाक्य शेष (अर्थवाद) वाक्य के साथ एकवाक्यता है। '**पूष्णाति इति पूषा**' जो पुष्टि प्रदान करे वह 'पूषा' ऐसी पूषा शब्द की व्युत्पत्ति कर इसे दर्शपूर्णमास याग के आग्नेय आदि याग के रूप में माना जाता है तो पूषा देवता अदन्तक (दाँत-रहित) है, इस अर्थवाद वाक्य के साथ इस पूषा याग में विद्यमान '**प्रपिष्ठ-भागो हि सः** (उसकी हवि पिष्ठ रूप में होनी चाहिए) इस विधिवाक्य में जो एकवाक्यता है, वह समाप्त हो जाती है क्योंकि दर्शपूर्णमास याग में कोई भी अदन्तक देवता प्रतिपादित नहीं है। इस प्रकार विधि तथा अर्थवाद वाक्य की स्वाभाविक एकवाक्यता के रक्षाणार्थ भी 'पूष्णोऽहं देवयाज्यया' इस वाक्य से सर्वप्रथम समाख्या से यागसामान्य रूप अर्थ स्वीकार कर पूषा पद के सामर्थ्य के अनुरोध से यागविशेष रूप अर्थ में सामान्य याग की एकवाक्यता मानने पर ही अर्थसङ्गति सम्भव हो पाती है।[15]

4. पारम्परिक एकवाक्यता

वैदिक वाक्यों के विश्लेषण से कार्यरूप अर्थावबोध के लिए मीमांसा के साक्षात् एकवाक्यता के समान पारम्परिक एकवाक्यता भी प्रतिपादित की गई है। दो उदाहरणों के माध्यम से इसे स्पष्ट किया जा सकता है। '**यजेत**' यहाँ पर आख्यात '**त**' प्रत्यय द्वारा अभिहित सङ्ख्या का समानाभिधानश्रुति-प्रमाण से भावना में अङ्गत्वेन एकवाक्यता की प्राप्ति होने पर सङ्ख्या अमूर्त होने के कारण क्रिया में चूँकि साक्षाद् रूप से उपकारक नहीं बन पाती है।[16] इसलिए इसका भावना में साक्षाद् अन्वय न मानकर पहले कर्ता के साथ इसका समन्वय किया जाता है फिर कर्ता के माध्यम से इसकी क्रिया (भावना) के साथ एकवाक्यता मानी जाती है। फलस्वरूप '**यजेत**' इस वाक्य का एकत्वावच्छिन्न कर्ता 'एक सङ्ख्यावाला कर्ता याग करे' यह अर्थ निष्पन्न होता है। इसी प्रकार ज्योतिष्टोम (सोम) याग में "**अरुणया पिङ्गाक्षैकहायन्या सोमं क्रीणाति**"[17] (अरुण गुण से युक्त पिङ्गल नेत्रोंवाली एक साल की (गौ) से सोम को खरीदे) इस वाक्य द्वारा सोम द्रव्य का गौ के विनियमय द्वारा खरीदने का विधान है। उक्त वाक्य में 'पिङ्गाक्ष्या' तथा एकहान्या ये दोनों पद गौ (द्रव्य) के विशेषण हैं। 'अरुणया' पद में विद्यमान तृतीया विभक्ति अरुण गुण के सोम द्रव्य के क्रियाङ्गत्व का

प्रतिपादन करती है परन्तु अरुण गुण द्वारा विनिमय असम्भव है। साक्षाद्रूप से आरुण्य की विनिमय-क्रिया के साथ एकवाक्यता न हो पाने से प्रथम उसकी एकवाक्यता, 'एकहायनी' पदवाच्य गोरूप द्रव्य के साथ की जाती है तथा फिर इस द्रव्य के माध्यम से इसकी एकवाक्यता, क्रयण-भावना के साथ सम्पन्न हो पाती है।[18] इस पारम्परिक एकवाक्यता को पार्ष्ठिक अन्वय शब्द द्वारा अभिव्यक्त किया गया है।

5. एकप्रसरताभङ्गन्याय द्वारा अभिव्यक्त एकवाक्यता

प्रधान तथा अङ्गों के विनियोग के क्रम की प्रतिपादक प्रयोगविधि के प्रथम-प्रमाण-'श्रुति' के उदाहरण के रूप में '**वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः**'[19] यह उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। प्रकृतस्थल में '**यजमानपञ्चमा इडां भयन्ति**'[20] इस वाक्य से भक्षण तथा '**याज्याया अधिवषट्करोति**'[21] इस वाक्य से ऋत्विजों में से वषट्कर्ता होता की प्राप्ति हो जाती है। '**अनन्यलभ्यः शब्दार्थः**' जो अन्य-लभ्य नहीं है, उसे ही शब्दार्थ माना जाए 'इस न्याय से '**वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः** इस वाक्य द्वारा प्राप्त वषट्कर्ता के भक्षण को उद्देश्य करके मात्र 'प्राथम्य का विधान माना जाना चाहिए था लेकिन इस न्याय से भी अधिक महत्त्व एकवाक्यता का होने से प्रथमभक्षः इस समस्त पद में 'प्रथम' तथा 'भक्षण' दोनों में समासात्मिका' एकवाक्यता की रक्षा के लिए 'एकप्रसरताभङ्ग-न्याय' का अवलम्बन करते हुए यहाँ पर प्राथम्य-विशिष्टि भक्षण का विधान माना गया है।[22]

इसी प्रकार '**निषादस्थपतिं याजयेत्**'[23] स्थल में निषादानां स्थपति' इस षष्ठी तत्पुरुष समास द्वारा 'निषाद' तथा स्थपति इन दोनों पदों की एकवाक्यता तो बन जाती है परन्तु इस व्यधिकरण समास में निषाद पद की षष्ठी अर्थ में लक्षणा करनी पड़ती है। इसकी अपेक्षा '**निषादं स्थपतिं च**' कर्मधारय समास मानने पर दोनों पदार्थों की अभेदान्वयजन्य एकवाक्यता, षष्ठी-समासजन्य एकवाक्यता से प्रबल होने के कारण इसे ही स्वीकार किया गया है।

6. अङ्गाङ्गिभाव तथा अपूर्व-निरूपित एकवाक्यता

प्रधान तथा अङ्गों की एकवाक्यता से ही कर्म की निष्पत्ति मानी गयी है। श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकारण, स्थान, तथा समाख्या, इनको प्रमाण माना जाता है।

इस सन्दर्भ में अङ्गी के साथ अङ्गों की एकवाक्यता के निष्पादक प्रकरण-प्रमाण का पर्यालोचन किया जा सकता है। अङ्ग एवं अङ्गी की परस्पर-'एकवाक्यता' की आकाङ्क्षा को भी उभयाकाङ्क्षा का प्रकाशक प्रकरण प्रमाण कहा जाता है।[24] दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में **'समिधो यजति'** **बर्हियजति, तनूनपातं यजति, इडो यजति** तथा **स्वाहाकारं** जयति, ये पाँच वाक्य पढ़े गए हैं।[25] इन वाक्यों मे फलश्रुत न होने से इन्हें फलाकाङ्क्षा तथा **'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत स्वर्गकामः'** इस वाक्य द्वारा विहित दर्शपूर्णमास याग का फल तो श्रुत है, लेकिन इतिकर्तव्यता के रूप मे इसे अङ्गों की आकाङ्क्षा है। इस उभयाकांङ्क्षा से प्रयाजों का दर्शपूर्णमास के साथ एकवाक्यता हो जाने से प्रयाजों को फल तथा प्रधान दर्शपूर्णमास याग को अङ्ग मिल जाने से दोनों के प्रयोजन निष्पन्न हो जाते हैं।

प्रधान कर्म द्वारा फल की निष्पत्ति अपूर्व के माध्यम से मानी गई है। यह अपूर्व मुख्यरूप से परमापूर्व तथा समुदायापूर्व, इन दो भेदों में विभक्त है। प्रधान याग एक होने पर इनके अपूर्व को परमापूर्व तथा प्रधान याग, घड़े के दो कपालों की तरह दो भागों में विभक्त होने पर इनके अपूर्वों के सम्मेलन से निष्पन्न (परमापूर्व) के घटक समुदायों के अपूर्वों को समुदायापूर्व कहा जाता है। उदाहरणार्थ अनेक प्रधान यागों के समूह से एक राजसूय-याग निष्पन्न होता है तथा दर्श एवं पूर्णमास इन दो समुदायों से दर्शपूर्णमास याग की निष्पत्ति होती है। प्रत्येक प्रधान याग में अनेक अङ्गों के अनुष्ठान से उत्पन्न अपूर्वों की एकवाक्यता, प्रधानयाग से उत्पन्न प्रधानापूर्व से होती है तथा प्रधानापूर्वों की एकवाक्यता, राजसूय रूप प्रधानयागजन्य परमापूर्व से होती है। इस एकवाक्यता से ही परमापूर्व, फलापूर्व का रूप ग्रहण कर पाता है। फलापूर्व से ही अभीष्ट फल, समधिगत होता है।[26]

दर्शपूर्णमास-याग में 'दर्श' अमावास्या में तथा 'पूर्णमास- पूर्णिमा में अनुष्ठित किए जाने वाले याग हैं। इनमें प्रथम 'दर्श' में आग्नेय, ऐन्द्र-दधि तथा ऐन्द्र-पयोयाग, ये तीन याग अनुष्ठित होते हैं। पूर्णमास में आग्नेय, अग्नीषोमीय तथा उपांशु याग, ये तीन याग अनुष्ठित होते हैं। इनमें से प्रत्येक याग में अनेक अङ्गों का अनुष्ठान किया जाता है। इन अङ्गों से उत्पन्न अङ्गापूर्वों की प्रत्येक प्रधानापूर्व के साथ एकवाक्यता होती है। दोनों त्रिकों के योगों से जन्य अपूर्वों की परस्पर एकवाक्यता से दो समुदायापूर्वों की निष्पत्ति होती है। इन दोनों समुदायापूर्वों की एकवाक्यता होने पर ही फलापूर्व (परमापूर्व) निष्पन्न होता है।[27]

7. प्रतिषेध एवं पर्युदासस्थल में एकवाक्यता सिद्धान्त

जिस प्रकार भावात्मक विधि के स्वरूप में प्रवृत्ति-प्रर्वतना की एकवाक्यता के आधार पर कर्म-कर्तव्यता का प्रतिपादन किया जाता है उसी प्रकार 'नञ्' की प्रत्ययार्थ प्रवर्तना (भावना) के साथ एकवाक्यता होने पर '**न ब्राह्मणं हन्यात् न कलञ्जं भक्षयेत्** आदि स्थलों पर प्रवृत्ति से विपरीत निवृत्ति की जनिका निवर्तना का अवबोध निष्पन्न होता है। प्रत्ययार्थ के साथ नञर्थ की एकवाक्यता में बाधा ही पर्युदास की स्वीकृति में निमित्त है। प्रत्ययार्थ से भिन्न के साथ नञर्थ की एकवाक्यता होने पर पर्युदास माना जाता है। उपक्रम तथा वाक्यभेदादि की स्थिति में 'पर्युदास' माना जाता है।

'**नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्**' इस स्थल में 'उपक्रम' रूप एकवाक्यता की रक्षा के लिए ही प्रतिषेध न मानकर पुर्यदास माना गया है। स्नातक के लिए 'तस्य व्रतम्' इस वाक्य द्वारा उसके कर्तव्यों का उपक्रम करने के अनन्तर नञर्थ, निषेध मानने पर उपक्रम के स्वरूप से निषेध का स्वरूप सर्वथा भिन्न होने पर पूर्ववाक्य 'तस्य व्रतम्' तथा उत्तरवाक्य '**नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्**' की एकवाक्यता नहीं बन पाती है। इस एकवाक्यता की निष्पत्ति के निए '**तस्य व्रतम्**' इस कर्तव्यता के उपक्रम के साथ एकवाक्यता बन सके इसीलिए '**नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्**' इस वाक्य में नञर्थ का धात्वर्थ के साथ अन्वय कर पर्युदास मानकर **अनीक्षणसङ्कल्परूप** अर्थ निष्पादित किया जाता है।[28] '**यजतिषु येयजामहङ्करोति नानुयाजेषु**' यहाँ पर नञर्थ का प्रत्ययार्थ प्रवर्तना (भावना) के साथ अन्वय मानने पर अनुषङ्ग, वाक्यभेद तथा विकल्प, ये तीन दोष माने गए हैं। इनमें तृतीय दोष को शास्त्रीय दोष कहा जा सकता है परन्तु प्रथम दोनों 'एकवाक्यता' के बाधक होने से दोष हैं। उक्त वाक्य में नञर्थ का भावना के साथ अन्वय करने के लिए '**यजतिषु येयजामहङ्कोति नानुयाजेषु**' के आगे एक 'करोति' पद का अध्याहार (अनुषङ्ग) करना पड़ेगा तथा इस कल्पना-गौरवदोष से दूसरा वाक्यभेद-दोष भी उत्पन्न हो जाएगा, दो वाक्य बन जाएंगे।"[29]

1. **यजतिषु येयजामहङ्करोति**, 2. **अनुयाजेषु न करोति**' दो वाक्य हो जाने से जो एकवाक्यता सहज रूप में प्राप्त थी वह नष्ट हो जाएगी इसलिए इस प्रतिषेध पक्ष को छोड़कर पर्युदास स्वीकार कर अर्थात् प्रत्ययार्थ के साथ नञर्थ का अन्वय न मानकर अनुयाज के साथ मानने पर '**अनुयाजभिन्न-यागविषयिका**

येयजामहकरणिका अन्याङ्गकलापेतिकर्तव्यताका भावना, ऐसा एकवाक्यता-गर्भित शाब्दबोध निष्पन्न हो जाता है।

मीमांसा-शास्त्र की वाक्यार्थ-निष्पादन की प्रक्रिया में उक्त विचारबिन्दुओं के परामर्श से अभिव्यक्त एकवाक्यतासिद्धान्त, मीमांसा की शास्त्रीय चिन्तन शैली को प्रासङ्गिकता के साथ भी समन्वित कर देता है। इस एकवाक्यता के सिद्धान्त के आधार पर नाना प्रकार की भौगोलिक छोटी-छोटी इकाइयों के समन्वय से (एकवाक्यता से) जिस प्रकार राष्ट्र के भौगोलिक एकता की अभिव्यक्ति होती है। उसी प्रकार इस एकवाक्यतासिद्धान्त से नाना प्रकार के विचारों, भावों, भाषाओं, धर्मों तथा जीवनपद्धतियों के पारस्परिक भेद में 'राष्ट्रीयता' रूपी एकात्मता का सम्प्रत्यय, वैचारिक धरातल पर भी अभिव्यक्त हो जाता है।

मीमांसा का यह एकवाक्यता-सिद्धान्त शाब्दबोध में जितना उपादेय है उतना ही सामाजिक तथा राष्ट्रीय सन्दर्भों में भी चिन्तनीय तथा अनुसरणीय है।

सन्दर्भ

1. तत्राज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधिः अर्थसङ्ग्रहः पृ० 28 चौखम्बा-संस्कृत सीरीज-आफिस-वाराणसी, 1982
2. एकमर्थवादानामपि तदुपपत्तत्वेनानर्थक्यानुपपत्तेः। स्वार्थप्रतिपादने च प्रयोजनाभावाल्लक्षणया प्रयोजनवदर्थपर्यवसानं वक्तव्यम्। -मीमांसा न्यायप्रकाश, पृ० 283, श्रीलालबहादुरशास्त्रिकेन्द्रीय संस्कृत-विद्यापीठम्, नई दिल्ली, 1983
3. तत्र साध्याकाङ्क्षायां वक्ष्यमाणंशत्रयोपेतार्थीभावना सम्बध्यते, एकप्रत्ययगम्यत्वेन समानाभिधानश्रुतेः मीमांसान्यायप्रकाश, पृ० 16
4. ततः केन इति करणाकाङ्क्षायां समानपदोपात्तो यागः करणत्वेनान्वेति, मीमांसापरिभाषा, पृ० 111, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी 1987
5. नामधेयानां विधेयार्थपरिच्छेदकतयार्थवत्त्वम्। मीमांसान्यायप्रकाश पृ० 201
6. एवमर्थवादानामपीष्टसाधनयागविशेष्यकलक्षितप्राशस्त्यप्रकारकप्रमितिजनकत्वेन... भाट्टचिन्तामणि-तर्कपाद-विमर्श, टिप्पणी, पृ० 134 प्रतिभा-प्रकाशन, दिल्ली 2001 ई०
7. कदाचन, मै० सं० 1-5-4
8. ऐन्द्रया, मै० सं० 1-5-11
9. श्रुत्यादीनामेकत्र समावेशे पूर्वपूर्वस्य प्राबल्यम्, उत्तरोत्तरस्य दौर्बल्यम्। मी० परि० पृ० 70
10. पुष्णोऽहं देव० मीमांसान्यायप्रकाश की बालतोषिणी व्याख्या में उद्धृत० पृ० 88

11. पौष्णं चरुं निर्वपेत् उद्धृत बालतोषिणी, मी० न्या० प्र० पृ० 88
12. अत्यन्तबलवन्तोऽपि तन्त्रवार्तिक, 3-3-7, पृ० 763
13. पूषा प्रपिष्ठभागः-उद्धृत, मी०न्या०प्र० बालतोषिणी, पृ० सं० 92
14. अदन्तो हि सः-उद्धृत, मी०न्या०प्र० बालतोषिणी, पृ० सं० 92
15. द्रष्टव्य मी० न्या० प्र० पृ० 88 से 93
16. सङ्ख्यादीनामेकप्रत्ययगम्यत्वेऽप्ययोग्यत्वान्न साध्यत्वेनान्वयः। अर्थसङ्ग्रह, पृ० 16
17. अरुणया० तैसं० 7-1-6-2
18. आरुण्यस्यापि क्रयाङ्गत्वं तृतीयाश्रुत्या। न चामूर्तस्य तस्य कथं क्रयाङ्गत्वमिति वाच्यम्। एकहायनीरूपद्रव्यपरिच्छेदद्वारा तदुपपत्तेः।। मी० न्या० प्र० पृ० 68
19. वषट्कर्तुः आप० श्रौ० 12-24-6
20. यजमानपञ्चमा०, उद्धृत मी० न्या० प्र० बालतोषिणी, पृ० 163
21. याज्याया०, वही
22. द्रष्टव्य बालतोषिणी, मी० न्या० प्र० पृ० 163-164
23. निषादस्थपतिशब्दे हि निषादं स्थपतिं चेति कर्मधारयो न तु निषादानां स्थपतिरिति षष्ठीतत्पुरुषः षष्ठ्यर्थे लक्षणापत्तेः। मीमांसान्याय प्रकाश, पृ० 189
24. उभयाकाङ्क्षा प्रकरणम्, अर्थसङ्ग्रह, पृ० 54
25. समिधो यजति तै० सं० 2-6-11, बर्हिर्यजति उद्धृत मीमांसापरि० पृ० 184 तनूनपातं यजति तै०सं० 2-6-11, इडोयजति, तैतिरीयसंहिता, 2-6-1 स्वाहाकारं यजति-उद्धृत मी० परि० पृ० 184
26. द्रष्टव्य-मीमांसादर्शन का विवेचनात्मक इतिहास, पृ० 34 चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1998
27. द्रष्टव्य-मीमांसा-परिभाषा, पृ० 50-52
28. द्रष्टव्य-अर्थसङ्ग्रह, पृ० 110-111
29. 'यजतिषु येयजामहङ्करोति नानुयाजेषु' इत्यादावत्र विकल्पप्रसक्तौ च पर्युदासाश्रयणात्।" अर्थसङ्ग्रह, पृ० 113

13
मीमांसा में समन्वय एवम् एकत्व-निष्पादन की प्रवृत्ति

भारतीय वाङ्मय में सर्वत्र समन्वय तथा एकरूपता के निष्पादन की प्रवृत्ति प्रमुख रूप से प्रकाशित हुई है। भारतीय चिन्तन के मूलाधार 'वेद' में जहाँ सं गच्छध्वं, सं वदध्वं, सं वो मनांसि जानताम्।[1] समानी व आकूति[2] इत्यादि मन्त्रों में परस्पर समन्वय की भावना प्रकाशित हुई है, वहीं 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'[3] जैसे वेदवाक्य ''एकत्व'' की भावना को पूर्णरूप से अभिव्यक्त करते हैं। वेदों के अनुरूप वेदार्थ-विवेचन के लक्ष्य से प्रवृत्त "मीमांसा" में भी समन्वय तथा एकत्व निष्पादन की प्रवृत्ति इसके समग्र सिद्धान्तों के मूल में निहित है। समग्र मीमांसा जहाँ एकमात्र "धर्म" रूपी तत्त्व के प्रकाशन के लिए प्रवृत्त हुई है, वहीं वेदार्थ के रूप में इस धर्मात्मक कर्मरूपी एकतत्त्व के निष्पादन की प्रक्रिया में उसे अनेक प्रकार की विविधताओं में समन्वय की विधा का अवलम्बन करना पड़ा है। यदि "याग" एक तत्त्व है तो इसके एकत्व की निष्पत्ति इस "याग" के पूर्व तथा पश्चात् किए जाने वाले अङ्गानुष्ठानों के साहित्यरूपी समन्विति पर ही अवलम्बित है। मीमांसा-शास्त्र के कर्म-निष्पादक सिद्धान्तों के आधार पर निम्नलिखित बिन्दुओं पर विचार करते हुए उसमें विद्यमान समन्वय तथा एकत्व-निष्पादन की प्रवृत्ति का अवलोकन किया जा सकता है-

1. मीमांसा के सम्पूर्ण अध्यायों में एकत्व की सङ्गति

महर्षि जैमिनि द्वारा द्वादश अध्यायों की सीमा में प्रवर्तित मीमांसाशास्त्र अपनी वाक्यार्थ-विश्लेषणात्मिका पद्धति से धर्मरूपी कर्म के स्वरूप की निष्पत्ति के लिए ही प्रवृत्त हुआ है। महर्षि जैमिनि ने कर्मात्मक धर्म को ही सम्पूर्ण वेद का अर्थ प्रतिपादित किया है।[4] जैमिनि के मत का अनुसरण करते हुए आचार्य

कुमारिलभट्ट ने भी धर्मसञ्ज्ञक विषय के प्रतिपादन को ही सम्पूर्ण मीमांसा का प्रयोजन निरूपित किया है।[5] इस धर्मतत्त्व के सम्पूर्ण स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिए मीमांसा को द्वादश अध्यायों में विभक्त किया गया है।

प्रथम अध्याय में धर्मजिज्ञासा के पश्चात् धर्म का स्वरूप प्रकट किया गया है। धर्मस्वरूप के प्रतिपादन के पश्चात् विधि, अर्थवाद, स्मृति तथा नामधेयरूपी धर्मावबोधक प्रमाणों में विधि की साक्षात् तथा अन्य की विधि के माध्यम से (परम्परया) धर्मावबोधकत्व-घटित प्रामाणिकता का प्रतिपादन किया गया है। द्वितीय अध्याय में सभी विधायक वाक्यों में समान रूप से विद्यमान भाववाचक आख्यात पदों से अपूर्व का प्रतिपादन स्वीकृत होने के कारण एक याग-विशेष के प्रकरण में विद्यमान "यजेत", "जुहोति", "ददाति" आदि पद एक ही कर्म के सम्पादक हैं या अनेक के? इस शङ्का को उत्थापित कर इसके उत्तर में शब्दान्तर, अभ्यास, सङ्ख्या, सञ्ज्ञा, गुण एवं प्रकरणान्तररूपी प्रमाणों के माध्यम से कर्मभेद का प्रतिपादन किया गया है। तृतीय अध्याय में अङ्ग एवं अङ्गी के ज्ञान के बिना धर्मानुष्ठान सम्भव न हो पाने से अङ्गाङ्गिभाव के परिज्ञान के लिए श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान एवं समाख्यारूप अङ्गाङ्गिभाव बोधक प्रमाणों का विवेचन किया गया है। चतुर्थ अध्याय में यागकर्ता के गुण तथा विहित कर्मों का निर्णय किया गया है। पञ्चम अध्याय में प्रयोग-विधि के रूप में क्रम, षष्ठ अध्याय में यागाधिकार, सप्तम अध्याय में सामान्यातिदेश, अष्टम अध्याय में विशेषातिदेश, नवम अध्याय में ऊह, दशम अध्याय में बाध, एकादश अध्याय में तन्त्र तथा द्वादश अध्याय में "प्रसङ्ग" का विचार किया गया है।

इन द्वादश अध्यायों में प्रथम अध्याय के प्रथम पाद के प्रथम सूत्र **अथातो धर्मजिज्ञासा**[6] से लेकर द्वादश अध्याय के अन्तिम सूत्र **"अन्वाहार्ये च दर्शनात्"**[7] तक विस्तृत इस शास्त्र मे एकमात्र धर्म-तत्त्व का ही प्रतिपादन किया गया है।

मीमांसा के प्रथम अध्याय से लेकर द्वादश अध्याय तक विवेचित विषय, परस्पर भिन्न होने पर भी धर्मरूपी एकतत्त्व-निष्पादन में समन्वित हैं। इस प्रकार मीमांसा की अध्याय-योजना में समन्वय-घटित एकतत्त्व-निष्पादन की प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त है।

2. अङ्गाङ्गिभाव के माध्यम से समन्वय एवं एकत्व की सङ्गति

मीमांसा-शास्त्र में प्रतिपादित अङ्गाङ्गिभाव के माध्यम से समन्विति पर

अवलम्बित एकत्व के निष्पादन की प्रक्रिया द्वारा ही वेद-प्रतिपादित यागात्मक धर्म की निष्पत्ति हो पाती है। मीमांसाशास्त्र के तृतीय अध्याय में श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान तथा समाख्यारूपी अङ्गाङ्गिभाव बोधक षड्विध प्रमाणों से इस धर्मरूपी एक अर्थ के निष्पादन की प्रक्रिया पूर्ण होती है।

उदाहरणार्थ स्थालीपुलाकन्याय से "दर्शपूर्णमास याग" के प्रकरण का परामर्श किया जा सकता है। "**प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति**"[8] इस न्याय द्वारा प्रधान "याग" के नाम से प्रकरण का व्यवहार होता है। "दर्शपूर्णमास" प्रधान याग है। यह स्वयं "दर्श" तथा "पूर्णमास" इन दो यागों के समन्वय से निष्पन्न है। इनमें "दर्श" याग का विधान अमावस्या को तथा पूर्णमास-शब्द द्वारा प्रतिपादित "याग" पूर्णिमा के दिन विहित है। इनमें "**यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावस्यायाञ्च पौर्णमास्याञ्चाच्युतो भवति**"[9] इस वाक्य से विहित आग्नेय याग, "**ऐन्द्रं दध्यमावास्यायाम्**"[10] तथा "**ऐन्द्रं पयोऽमावास्यायाम्**"[11] इन वाक्यों द्वारा विहित सान्नाय यागों का विधान किया गया है। इसी प्रकार पूर्वोक्त "**यदाग्नेयो**" वाक्य से विहित "आग्नेय" याग "**ताभ्यामेतमग्नीषोमीयमेकादशकपालं पूर्णमासं प्रायच्छत्**"[12] इस वाक्य से "अग्नीषोमीय" नामक याग तथा **उपांशुयाजमन्तरा यजति**"[13] इस वाक्य से "उपांशु याग" का विधान किया गया है। फलतः "दर्श" (1) आग्नेय, (2) ऐन्द्र दधियाग तथा (3) ऐन्द्रपयोयाग इन तीन यागों का एक समुदाय है। इसी प्रकार पूर्णमास भी (1) आग्नेय (2) अग्नीषोमीय तथा (3) उपांशु सञ्ज्ञक तीन यागों का दूसरा समुदाय है। दर्श तथा पूर्णमास ये दोनों तीन-तीन यागों के समुदायों से निष्पन्न दो त्रिक हैं। दोनों त्रिक अपने त्रिविध यागों के समुदाय के रूप में एकरूप होने से ही "**य एवं विद्वानमावास्यां यजते**"[14] तथा "**य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते**"[15]इन वाक्यों में श्रुत "**अमावस्या**" तथा "**पौर्णमासी**" में श्रुत एकवचन की सङ्गति हो पाती है। दोनों यागसमुदायों द्वारा "दर्श" तथा "पौर्णमास" सञ्ज्ञक दो यागों की निष्पत्ति होने पर ही **दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत**"[16] यहाँ इस वाक्य में विद्यमान द्विवचन की सङ्गति सम्पन्न हो पाती है अन्यथा "**दर्शपूर्णमासैः**" यह प्रयोग प्राप्त होता। दर्श-पूर्णमास दो यागसमुदाय होने पर भी दोनों के अनुष्ठानों से उत्पन्न दोनों त्रिकापूर्वों के समन्वय से फलापूर्व की निष्पत्ति होती है। इस फलापूर्व के निष्पादकत्व की दृष्टि से दर्शपूर्णमास याग यह एक "याग" माना गया है।

प्रस्तुत याग की प्रक्रिया में अमावस्या में अनुष्ठेय दर्श सञ्ज्ञक तीनों याग समन्वित होकर एक दर्शयागजन्य समुदायापूर्व को उत्पन्न करते हैं। इसी प्रकार "पौर्णमासी" पद से प्रतिपादित पूर्णमासी के दिन अनुष्ठेय तीनों याग मिलकर दूसरे समुदायापूर्व को उत्पन्न करते हैं। दोनों समुदायापूर्वों की उत्पत्ति हो जाने के पश्चात् जैसे दोनों कपालों के संयोजन से घट निष्पन्न हो जाता है वैसे ही दोनों समुदायापूर्वों की उत्पत्ति हो जाने के पश्चात् जैसे दोनों कपालों के संयोजन से घट निष्पन्न हो जाता है वैसे ही दोनों समुदायापूर्वों के समन्वय से एक महापूर्वरूपी फलापूर्व की निष्पत्ति हो जाती है। इस पूरी प्रक्रिया में प्रथमतः दोनों त्रिकों में प्रत्येक में तीनों यागों से जन्य अपूर्वों के समन्वय से समुदायापूर्व की निष्पत्ति में परस्पर समन्वय की प्रवृत्ति के साथ तीनों यागों की एकरूपता के निष्पादन की प्रवृत्ति भी पूर्णरूप से प्रकाशित हो रही है। इसी प्रकार दर्शपूर्णमासयागजन्य परमापूर्वरूप एक तत्त्व की निष्पत्ति भी दोनों याग-समुदायों के परस्पर समन्वय पर ही अवलम्बित है, अतः इस याग के स्वरूप-विवेचना की प्रणाली में मीमांसा की समन्वय तथा एकत्वनिष्पादन की प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हो रही है।

दर्शपूर्णमास एक प्रधान याग है। प्रधान काम्ययाग से परमापूर्व तभी निष्पन्न होता है जब उस प्रधान याग का अङ्गों सहित अनुष्ठान किया जाए। प्रधान याग में समन्वित होने वाले अङ्ग (1) सन्निपत्योपकारक तथा (2) आरादुपकारक के भेद से दो प्रकार के प्रतिपादित किए गये हैं। जो साक्षात् या परम्परया प्रधान याग का स्वरूप सम्पादित कर उस स्वरूप-निष्पादन के द्वारा प्रधानयागजन्य उत्पत्त्यपूर्व के सम्पादन में उपयोगी होते हैं वे सन्निपत्योपकारक अङ्ग कहे जाते हैं। व्रीही आदि द्रव्य, इनका प्रोक्षण, अवहनन आदि तथा अग्न्यादि देवता तथा उनसे संयुक्त "याज्या" एवं "अनुवाक्या" आदि मन्त्र इन सबको सन्निपत्योपकारक अङ्ग कहते हैं।

जो आत्मा में अपूर्वों को उत्पन्न करते हैं वे आरादुपकारक अङ्ग कहे जाते हैं। दर्शपूर्णमास याग में विद्यमान प्रयाज, आज्यभाग[17] तथा अनुयाज आदि अङ्गकर्म द्रव्यादि का संस्कार नहीं करते अपितु आत्मा में अङ्गापूर्वों को उत्पन्न करते हैं। इन सब अङ्गापूर्वों से प्रधान्यागजन्य उत्पत्त्यपूर्वों का समन्वय होने पर ही फलापूर्व की निष्पत्ति होती है। इस फलापूर्वरूपी एक तत्त्व के निष्पादन की प्रक्रिया

विभिन्न अङ्गों के साथ अङ्गी याग के समन्वय पर अवलम्बित होने से इस अङ्गाङ्गिभाव के निष्पादन में समन्वय तथा एकत्व-निष्पत्ति, इन दोनों की प्रवृत्ति पूर्ण रूप से स्पष्ट है।

अङ्गाङ्गिभाव की निष्पत्ति में श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान एवं समाख्या रूप अङ्गाङ्गिभावबोधक प्रमाणों की प्रक्रिया भी मीमांसा की समन्वयघटित एकत्व की अभिव्यञ्जक है। उदाहरणार्थ विवेचित "दर्शपूर्णमास याग" के साथ प्रयाजों के समन्वयक, प्रकरण प्रमाण का पर्यालोचन किया जा सकता है-

अङ्ग एवं अङ्गी (दोनों के परस्पर समन्वित होने) की आकाङ्क्षा को प्रकरण कहा जाता है।[18] इस प्रकरण-प्रमाण द्वारा अङ्ग तथा अङ्गी का समन्वय किया जाता है। दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में **"समिधो यजति"**[19] **"बर्हिर्यजति"**[20] **"तनूनपातं यजति"**[21] **"इडो यजति"**[22] तथा **"स्वाहाकारं यजति"**[23] ये पाँच वाक्य पढ़े गये हैं। इन वाक्यों के साथ फल श्रुत नहीं है, अतः इन्हें फल की आकाङ्क्षा है। दर्शपूर्णमासरूपी प्रधान याग में **''दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत"** इस वाक्य से फल प्राप्त होने पर भी किन अङ्गों के अनुष्ठान द्वारा यह याग सम्पन्न होगा, ऐसी इतिकर्तव्यता के रूप में अनुष्ठान के लिए अङ्गों की अपेक्षा है। दोनों में विद्यमान यह ''उभयाकाङ्क्षा'' इन्हें भग्नरथनष्टाश्वन्याय से परस्पर समन्वित कर देती है; फलतः प्रयाजों में विद्यमान फलाकाङ्क्षा दर्शपूर्णमास याग रूपी अङ्गी के माध्यम से पूर्ण हो जाती है। इसी प्रकार प्रयाजों के समन्वय से प्रधान दर्शपूर्णमास याग की अङ्गाकाङ्क्षा भी निवृत्त हो जाती है।

इस प्रकार अङ्गाङ्गिभावबोधक प्रकरणप्रमाण से प्रयाजों के दर्शपूर्णमासाङ्गत्व रूप से समन्वय के साथ दर्शपूर्णमासयागजन्य परमापूर्व-निष्पादकत्व रूप से भी एकार्थ-निष्पादकत्व, पूर्ण रूप से अभिव्यक्त है।

प्रकृतियाग तथा विकृति यागों में समरूपता तथा एकरूपता की समन्विति

वेद-विहित कर्मों को मुख्य रूप से प्रकृति तथा विकृति इन दो भागों में विभाजित किया गया है। इनमें जिन यागों में अतिदेशवाक्यों द्वारा अङ्गों की प्राप्ति नहीं होती उन्हें प्रकृति याग कहा जाता है।[24] दूसरे शब्दों में जिनमें समस्त अङ्गों का उपदेश प्राप्त होता है उन्हें प्रकृति कहा जाता है।[25] दर्शपूर्णमास याग समस्त इष्टियों का प्रकृतियाग है। इसी प्रकार "आग्नेय याग" भी प्रकृति याग है। जिन

यागों में समग्र अङ्गों का उपदेश नहीं होता उन्हें विकृति याग कहते हैं।[26] विकृति याग प्रकृति याग के समान होते हैं। उनमें प्रकृति-यागनिष्ठ सादृश्य-निरूपित सादृश्य के अवबोध के बल पर ही "**प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या**" प्रकृति के समान (अङ्गों से) विकृति का अनुष्ठान करना चाहिए। इस अतिदेश वाक्य के बल पर प्रकृति-याग के प्रकरण में प्रतिपादित अङ्गों का विकृति-याग में समन्वय स्थापित होता है। इस प्रकार प्रकृति-याग तथा विकृतियाग में परस्पर समरूपता की समन्विति परिलक्षित होती है। समरूपता तथा समन्वय के साथ ही प्रकृति तथा विकृति उभयत्र अपूर्वनिष्पादकत्व की दृष्टि से एकरूपता भी विद्यमान है। जिस प्रकार दर्शपूर्णमास, आग्नेय आदि यागों से आत्मा में अपूर्व उत्पन्न होता है, उसी प्रकार "सौर्य-याग"[27] "मासाग्नि-होत्र"[28] आदि विकृति यागों में भी अपूर्व-जनकत्व समान रूप से विद्यमान है। इस अपूर्वजनकत्व रूप से दोनों में एकरूपता भी पूर्णरूप से अभिव्यक्त हो जाती है।

प्रमाण-पर्यालोचन की प्रक्रिया में समन्वय तथा एकरूपता की समन्विति

मीमांसा-दर्शन में लौकिक अर्थ तथा धर्म के भेद से दो प्रकार के विषय होने के कारण इनके अवबोधन के लिए प्रमाण भी लौकिक तथा धार्मिक के भेद से दो प्रकार के माने गए हैं। इन दोनों प्रकार के प्रमाणों में स्वरूप तथा प्रक्रिया की दृष्टि से भेद होने पर भी ये सभी किसी न किसी विधा से कर्म-निष्पत्ति में समन्वित हैं। कर्मरूपी धर्म-निष्पादकत्व ही इनकी अनेकता में विद्यमान एकत्व-निष्पादकत्व की प्रवृत्ति का प्रकाशक है।

महर्षि जैमिनि ने धर्म को वेद द्वारा निरूपित करते हुए विधिवाक्यों को साक्षाद्रूप से धर्म का अवबोधक प्रतिपादित किया है।[29] अर्थवाद, मन्त्र, नामधेय, स्मृति तथा शिष्टाचार में विधि के माध्यम से धर्मरूप अर्थ के अवबोधन की प्रामाणिकता प्रतिपादित की गई हैं।[30] इन प्रमाणों में स्वरूपगत भेद होते हुए भी विधि-समन्वित-धर्मबोधकत्व के द्वारा इनमें परस्पर समन्वय की प्रवृत्ति के समान धर्मरूप एकार्थनिष्पादकत्व भी प्रकाशित हो रहा है।

लौकिक प्रमाणों में भी स्वरूपतः परस्पर भेद है। परस्पर भिन्न होने पर भी ये दो प्रकारों द्वारा समन्वय के माध्यम से अपने एक धर्मनिष्पत्ति रूप अर्थ के निष्पादकत्व के अभिव्यञ्जक हैं।

लौकिक प्रमाणों की परस्पर प्रथम समन्विति तो यह है कि ये सभी समान रूप से धर्म के अवबोधन में अपनी असमर्थता व्यक्त करते हैं। महर्षि जैमिनि ने प्रत्यक्ष सूत्र में पुरुष की इन्द्रियों का अर्थ के साथ सम्बन्ध होने पर उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है।[31] धर्म इन्द्रियों से सम्बद्ध नहीं है अतः प्रत्यक्ष की धर्म के अवबोध में इन्होंने असमर्थता प्रतिपादित की है। इसी प्रकार आचार्य कुमारिल भट्ट ने धर्म-सामान्य या धर्म-विशेष के साथ किसी भी लिङ्ग का सम्बन्ध न होने से धर्मावबोध में अनुमान की भी असमर्थता प्रकट की है।[32] धर्म, विधि-प्रवृत्ति के पूर्व अज्ञात रहने से इसका ज्ञान किसी सादृश्य के आधार पर उपमान द्वारा भी सम्भव नहीं है। अज्ञात धर्म के सन्दर्भ में किसी अनुपपत्ति का होना भी सम्भव नहीं है जिसके आधार पर किसी उपपादक अर्थ द्वारा उसकी कल्पना की जाए। धर्म भावात्मक पदार्थ होने से अनुपलब्धि द्वारा भी धर्म का ग्रहण सम्भव नहीं है; परिणामतः धर्म एकमात्र वैदिक विधिवाक्यों द्वारा साक्षात् तथा विधि-समन्वित रूप से अन्य धर्मबोधक उक्त प्रमाणों द्वारा ही ज्ञात होता है, यह एकार्थ, इन लौकिक प्रमाणों के धर्मावबोधजनकत्वाभावरूपी इनके समन्वय के आधार पर ही अभिव्यक्त होता है।

लौकिक प्रमाणों द्वारा जिस प्रकार धर्म की बोधकता में असामर्थ्यरूपी समन्वय से धर्मप्रमाणप्रवृत्तिप्रतिपादकत्व रूप से एकार्थनिष्पादकत्व है; उसी प्रकार ज्ञात धर्मानुष्ठान में कर्मानुष्ठान-सङ्गति-प्रतिपादकत्व रूप से भी एकार्थ निष्पादकत्व विद्यमान है।

प्रत्यक्ष प्रमाण यद्यपि धर्म का बोधक नहीं है तथापि धर्मरूपी कर्मानुष्ठान की विधि द्वारा प्राप्ति हो जाने पर बिना प्रत्यक्ष के द्रव्यादि हवि का ग्रहण तथा दर्शपूर्णमास में आज्यावेक्षण असम्भव है। यागाधिकार में अपेक्षित योग्यताओं में सामर्थ्य भी अपेक्षित होने से[33] अन्धे व्यक्ति को यागाधिकार प्राप्त नहीं है फलतः प्रत्यक्ष प्रमाण लौकिक अर्थों के ज्ञान के साथ कर्मानुष्ठान में सङ्गति का भी प्रतिपादक है।

प्रत्यक्ष के अनुरूप लौकिक कर्मों के उनके फलों के साथ नियत सम्बन्ध-ज्ञान के आधार पर स्वर्गरूपी फल के साथ नियत सम्बन्ध वाले यागरूपी कर्म के अनुष्ठान से फल अवश्य प्राप्त होगा यह अनुमिति, पुरुष के यागानुष्ठान में प्रवृत्ति को सुदृढ़ करते हुए अपनी कर्मानुष्ठानसङ्गतिप्रतिपादकत्व को चरितार्थ करती है।

इसी प्रकार विकृति याग को देखकर उसके सदृश प्रकृति याग की स्मृति रूप उपमिति, विकृति में प्रकृति के अङ्गों की अतिदेश द्वारा समन्विति में उपकारक है। इसी कारण सौर्य याग में आग्नेय याग के मन्त्र की समन्विति ऊह के बल पर हो पाती है।[34]

ऐसे ही क्रियात्मक याग तथा यागकर्ता दोनों के नष्ट हो जाने से फलप्राप्ति की अनुपपत्ति के निवारणार्थ अपूर्व तथा उसके अधिकरण के रूप में आत्मतत्त्व के अस्तित्व के प्रतिपादन द्वारा कर्म सङ्गति ही अर्थापत्ति प्रमाण का प्रयोजन है। अन्तिम अनुपलब्धि प्रमाण द्वारा "**यजतिषु येयजामहं करोति नानुयाजेषु**"[35] इस स्थल में प्रथम "नञ्" का अर्थ अभाव माना गया है।[36] इस नञर्थ अभाव को पर्युदास मानकर ही अनुयाज-भिन्न यागों में येयजामहे मन्त्र के उच्चारण की कर्तव्यता सुनिश्चित की गई है।

इस प्रकार प्रमाणों में धर्मबोधकता तथा अबोधकता का भेद होने पर भी सभी प्रमाण इन दोनों समूहों में जहाँ समन्वित है वहीं किसी न किसी रूप से अपने एकार्थ कर्म के निष्पादकत्व को भी प्रकट कर रहे हैं।

पदार्थ-विवेचन की प्रक्रिया में समन्वय एवं एकत्व की सङ्गति

मीमांसा के भाट्टसम्प्रदाय में द्रव्य, गुण, क्रिया (कर्म), सामान्य, शक्ति तथा अभाव, ये छह पदार्थ माने गये हैं।[37] ये सभी पदार्थ परस्पर भिन्न होने पर भी इनमें धर्मप्रयोजकत्व या धर्माङ्गत्वरूपी समन्वय स्पष्ट हैं।

आचार्य कुमारिलभट्ट ने द्रव्य, क्रिया तथा गुणादि के धर्मरूपता का उल्लेख किया है।[38] इन बाह्य पदार्थों में विद्यमान धर्माङ्गत्वरूपी धर्मरूपता के प्रतिपादनार्थ ही इन्होंने बाह्य पदार्थों की वास्तविकता न मानने वाले बौद्ध, वैयाकरण एवं वैदान्त के विवर्तवाद का विरोध किया है। इनका कहना है कि-

धर्म की अभिलाषा रखने वालों के लिए यह आवश्यक है कि वे लोकसम्मत प्रमाणों द्वारा बाह्य अर्थों की सत्ता का प्रतिपादन करें।[39]

इन पदार्थों में "**व्रीहीन्प्रोक्षति**",[40] "**व्रीहिभिर्यजेत**",[41] "**व्रीहीनवहन्ति**"[42] इन वाक्यों द्वारा व्रीहि रूप द्रव्य, प्रोक्षण तथा अवघात रूप क्रिया का धर्मनिष्पादकत्व प्रतिपादित है। इसी प्रकार **अरुणया पिङ्गाक्ष्या एकहायन्या गवा सोमं क्रीणाति**"[43] इस वाक्य द्वारा सोमयाग के अङ्ग सोमलता के "क्रयण" में आरुण्य

तथा पिङ्गत्व ये गुण, गौ तथा एकहायनपदसूचित काल ये द्रव्य हैं। यहाँ पर गुण तथा द्रव्य दोनों की धर्म-निष्पादकता स्पष्ट है। द्रव्य, गुण तथा क्रिया के समान सामान्य भी परम्परया धर्म में समन्वित हो जाता है। शब्द के श्रवण के पश्चात् याग में उपयुक्त होने वाले गौ, व्रीहि आदि द्रव्यों के वाच्य अर्थ के रूप में प्रथमतः व्रीहित्व, गौत्वादि सामान्यों का ही बोध होता है, तदनन्तर लक्षणा या आक्षेप द्वारा व्यक्ति रूप द्रव्य की उपस्थिति होती है। इस प्रकार याग में प्रयुक्त द्रव्य के परिज्ञान के माध्यम से सामान्य का भी धर्मप्रतिपादकत्व स्पष्ट है।

द्रव्य, गुण, कर्म तथा सामान्य के समान शक्ति पदार्थ भी यागादि के धर्मरूप की सङ्गति के लिये नितान्त आवश्यक है। आचार्य कुमारिलभट्ट ने समस्त कार्यों की उत्पत्ति में आवश्यक कारणनिष्ठ शक्तितत्त्व को पारमार्थिक सत्य के रूप में स्थापित किया है-

शक्त्योऽपि च भावानां कार्यार्थापत्तिकल्पिताः।
प्रसिद्धाः पारमार्थिक्यः प्रतिकार्यं व्यवस्थिताः।।[44]

स्वर्गादि फलों के कारणभूत धर्मस्वरूप याग में पशु, स्वर्गादि फलों की उत्पादिका शक्तिरूप "अपूर्व" की उत्पादकता मानी गई है।

तस्मात् फले प्रवृत्तस्य यागादेः शक्तिमात्रकम्।[45]

पूर्व विवेचित दर्शपूर्णमास याग में विविध प्रयाजादि अङ्गभूत कर्मों से अङ्गपूर्वों की निष्पत्ति, इन अङ्गापूर्वरूप शक्तियों से समुदायापूर्वों की तथा इन समुदायपूर्वरूप शक्तियों के संयोजन से फलापूर्व या महापूर्वरूपा फलोत्पादिका शक्ति उत्पन्न होती है। इस अपूर्वरूपा शक्तितत्त्व के बिना कर्मनिष्पत्ति असम्भव होने के कारण ही मीमांसकों ने इसे स्वीकार किया है।

अन्तिम पदार्थ अभाव यद्यपि भावात्मक स्वर्ग की निष्पत्ति में कारण नहीं है तथापि "नानृतं वदेत्" इस निषेध का उद्देश्य, दर्शपूर्णमासजन्य अपूर्व होने से, यह याग का उपकारक है। यहाँ अनृताचरण यागजन्य अपूर्व की निष्पत्ति में प्रतिबन्धक है। इस अनृताचरण का अभाव होने पर ही याग फलापूर्व की निष्पत्ति में समर्थ हो पाता है। अतः निषिद्ध आचरणों का अभाव भी कर्मनिष्पादकत्व की योग्यता से परिपूर्ण है।[46]

मीमांसा के प्रभाकर-सम्प्रदाय में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय,

शक्ति, सङ्ख्या एवं सादृश्यरूपी आठ पदार्थ माने गए हैं। प्रकरण-पञ्चिका के न्यायसिद्धि-व्याख्याकार नारायणभट्ट ने "क्रम" को भी प्रभाकराभिमत पदार्थ के रूप में प्रतिपादित किया है। इनके मत में सङ्ख्या, सादृश्य एवं क्रम ये तीन अतिरिक्त पदार्थ हैं। इनमें "**पशुना यजेत**"[47] इस वाक्य में पशुना में "टा" इस तृतीयाविभक्तिकारक में पुंस्त्व-एकत्व तथा करणत्व, तीनों का समन्वय है। प्रत्ययार्थ करणत्व में दोनों का अङ्गत्व से समन्वय होने के कारण सङ्ख्या पदार्थ की यहाँ कर्माङ्गता स्पष्ट है। "त" इस आख्यात प्रत्यय में भी एकत्व सङ्ख्या आख्यातार्थ भावना में समन्वित है।

सङ्ख्या के ही समान विकृति-यागों में अतिदेश वाक्य द्वारा अङ्गों की प्राप्ति के लिए सादृश्य आवश्यक होने के कारण उसकी भी कर्मनिष्पत्तिरूप एकार्थनिष्पादकता स्पष्ट है।

प्रयोग-विधि में एक प्रधानरूप अङ्गी में अनेक कर्मों का साहित्य होने पर ही प्रधान याग की निष्पत्ति मानी गई है। यह अङ्गों का साहित्य उनके क्रम पर अवलम्बित होने के कारण ही कदाचित् "नारायणभट्ट" ने क्रम को एक अतिरिक्त पदार्थ माना है।[48]

भाट्ट तथा प्रभाकर दोनों के द्वारा प्रतिपादित सारे पदार्थ स्वरूपतः परस्पर भिन्न होने पर भी कर्मनिष्पादकत्व रूप से परस्पर समन्वित हैं। इनके सहित मीमांसाशास्त्र के सभी तत्त्व यागात्मक धर्मरूपी एकतत्व से समन्वित हैं तथा यागजन्य अपूर्वरूपी एकतत्त्व के अपने "निष्पादकत्व" को अभिव्यक्त करते हैं।

वाक्यार्थ-प्रक्रिया में समन्वय एवं एकत्वनिष्पादकता

मीमांसाशास्त्र, वेदार्थ-निष्पत्ति के लिए प्रवृत्त हुआ है। वेद वाक्यस्वरूप हैं अतः वेदार्थ कर्म का अवबोधक यह शास्त्र वाक्यशास्त्र कहा जाता है। इस मीमांसाशास्त्र के वाक्यार्थ-निरूपणरूपी शाब्दबोध की प्रक्रिया में भी समन्वय एवं एकत्व-निष्पादन की प्रवृत्ति अवलोकनीय है।

"**दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत**"[16] इस वाक्य में यजेत के त प्रत्यय में आर्थीभावना (प्रवृत्ति) तथा शाब्दीभावना (प्रवर्तना) दोनों विद्यमान हैं। इनमें प्रवर्तिरूपा "आर्थीभावना" शाब्दीभावना रूप "प्रवर्तना" की साध्य होने से समानाभिधानश्रुति से साध्यत्वरूप से प्रवर्तना में समन्वित हो जाती है। आर्थी

भावना (प्रवृत्ति) में साध्यत्व से स्वर्ग का, करणत्व से याग का तथा याग में दर्शपूर्णमास का अभेद से अन्वय हो जाने पर **दर्शपूर्णमासाभिन्नेन यागेन स्वर्गं भावेयत**, ऐसी एकवाक्यता-प्राप्त स्वर्गनिष्पादक-प्रवृत्ति-प्रवर्तना-रूप, अर्थ निष्पन्न हो जाता है।

प्रस्तुत अर्थ-निष्पत्ति में भावना को मुख्य विशेष्य माना गया है। अन्य समस्त तत्त्वों का भावना में अङ्गत्व रूप से समन्वय करने पर **स्वर्गकामपदवाच्य-कर्तृका स्वर्गनिष्ठकर्मता-निरूपिका यागकरणिका प्रयाजाङ्गानुष्ठानेतिकर्तव्यताका प्रवृत्त्यनुकूला शाब्दी-भावनाऽपर-पर्यर्यायात्मिका प्रवर्तना** ऐसा प्रवर्तना-मुख्य विशेष्यक शाब्दबोध निष्पन्न हो जाता है।

इस शाब्दबोध की प्रक्रिया में सर्वप्रथम वाक्यस्थ समस्त अर्थों का प्रवृत्ति में समन्वय होता है तथा प्रवृत्ति का प्रवर्तना में समन्वय होने पर समन्वित प्रवर्तना-रूप एकार्थ की निष्पत्ति हो जाती है।

वाक्यार्थ के सन्दर्भ में विद्यमान अभिहितान्वयवाद, पूर्णरूप से इस समन्वय एवं एकत्वनिष्पादकत्व की प्रवृत्ति पर ही अवलम्बित है। सर्वप्रथम वाक्य में विद्यमान सभी पद अपने-अपने अर्थों को उपस्थिति करते हैं। पश्चात् अन्तिम पद के श्रवण से संस्कार के बल पर अन्य पदों की स्मृति द्वारा उपस्थित हो जाने पर वाक्य में विद्यमान पदों से लक्षणा द्वारा वाक्यार्थ की निष्पत्ति मानी गई है। यहाँ भी एकवाक्यतापन्न प्रवृत्ति या प्रवृत्तिनिष्पादिका प्रवर्तनारूपी एकार्थ की निष्पत्ति, पदार्थों के समन्वय पर ही अवलम्बित है।

'देवदत्त घटमानय' इस वाक्य में देवदत्त, घटजाति, कर्मत्व, आनयन क्रिया एवं प्रवृत्ति तथा प्रवर्तना, शब्द द्वारा उपस्थित हैं। घट व्यक्ति तथा संसर्ग की उपस्थिति के लिए लक्षणा का अवलम्बन करने पर ही **देवदत्त-कर्तृका घटकर्मिका आनयनक्रियानुकूल-प्रवृत्यनुकूला प्रवर्तना**, भावना-प्रवर्तना मुख्य विशेष्यक शाब्दबोध निष्पन्न हो पाता है।

इस प्रकार मीमांसा की वाक्यार्थबोध-प्रक्रिया भी अपने स्वरूप की निष्पत्ति में समन्वय एवं एकार्थनिष्पादकत्व की प्रवृत्ति की प्रकाशिका है।

उपसंहार

विश्व की सर्वाधिक प्राचीन ज्ञानराशियों में प्रथम स्थान पर परिगणित वेदों

पर अवलम्बित विविध शास्त्रों के जन्मस्थान, भारत-वर्ष के अपने स्वरूप में ही समन्वय एवं एकत्व-निष्पादन की प्रवृत्ति तादात्म्य से विद्यमान है। नाना प्रकार की भाषाओं, भूषाओं तथा व्यवहारों के पारस्परिक भेदों के रहते हुए भी सांस्कृतिक तथा धार्मिक दृष्टि से भारत के सभी स्थान परस्पर पूर्णरूप से समन्वित हैं। इसी प्रकार समुद्र से हिमालय तक प्रसृत इस राष्ट्र के समस्त प्रान्त अपनी-अपनी भौगोलिक एवं स्थानीय विशेषताओं के कारण परस्पर अत्यन्त भिन्न होने पर भी इन सबमें एकराष्ट्रत्व-घटित भारतीयतारूपी तादात्म्य (एकत्व) पूर्णरूप से निहित है। विविधताओं के परस्पर समन्वय से निष्पन्न यह तादात्म्य या एकत्व ही इस राष्ट्र की आत्मा है। इस प्रकार समग्र भारतीय-चिन्तन-धाराओं की जन्मस्थली में निहित होने के कारण ही समन्वय, एकरूपता तथा एकत्व के निष्पत्ति की यह प्रवृत्ति, लगभग सभी भारतीय विधाओं में केन्द्रीय तत्त्व के रूप में परिलक्षित हो रही है।

सन्दर्भ

1. सं गच्छध्वं ऋग्वेद 10.191.02
2. समानी व आकूतिः ऋग्वेद 10.141.4
3. एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति ऋग्वेद 1.164.46
4. आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम् तस्मादनित्यमुच्यते, जैमिनिसूत्र 1.2.1
5. "अथाऽतो धर्मजिज्ञासा" सूत्रमाद्यमिदं कृतम्।
धर्माख्यं विषयं वक्तुं मीमांसाया प्रयोजनम्।। श्लोकवार्तिकप्रतिज्ञासूत्र, वार्तिक सङ्ख्या 11
6. अथाऽतो धर्मजिज्ञासा, जैमिनिसूत्र 1.1.1
7. अन्वाहार्ये च दर्शनात्, जैमिनिसूत्र 12.4.47
8. प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति, मीमांसान्यायप्रकाश पृ० 4 श्रीलालबहादुरशास्त्री केन्द्रीय संस्कृतविद्यापीठ नई दिल्ली 1983
9. यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्याञ्चाच्युतो भवति, तैत्तिरीय संहिता 2-6.2.3
10. ऐन्द्रं दध्यमावास्यायाम्, तैत्तिरीय संहिता 2.5.4
11. ऐन्द्रं पयोऽमावास्यायाम्, उद्धृत-मीमांसापरिभाषा पृ० 47, कृष्णदास अकादमी वाराणसी 1987
12. ताभ्यामेतमग्नीषोमीयमेकादशकपालं पूर्णमासे प्रायच्छत्, तैत्तिरीय संहिता 2.6.2.3
13. उपांशुयाजमन्तरा यजति, उद्धृत-मीमांसापरिभाषा पृ० 42

14. य एवं विद्वानमावास्यां यजते, मीमांसापरिभाषा में उद्धृत पृ० 47
15. य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते, मीमांसा-परिभाषा पृ० 42
16. दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत, शतपथब्राह्मण 1.64
17. आज्यभाग-ऋग्वेदियों के अनुसार अग्नि के उत्तरभाग में 'स्रुव' के द्वारा अग्नि के लिए सम्प्रदानार्थ प्रदान की गई घृत की आहुति। दक्षिण भाग में सोम देवता के लिए प्रदान की गई घृत की आहुति। कालेसिः यजुर्वेदिनान्तु अग्नेरुत्तरदक्षिणयोः पश्चिमादिप्राच्यन्तघृतधारा। इति पशुपतिः। शब्दकल्पद्रुम पृ० 199
18. उभयाकाङ्क्षाप्रकरणम्, मीमांसान्यायप्रकाश पृ० 102
19. समिधो यजति, तैत्तिरीयसंहिता 2.6.1.1
20. बर्हिर्यजति, उद्धृत मीमांसापरिभाषा पृ० 184
21. तनूनपातं यजति, तैत्तिरीयसंहिता 2.6.1.1
22. इडो यजति, तैत्तिरीयसंहिता 2.6.1.1
23. स्वाहाकारं यजति, उद्धृत-मीमांसापरिभाषा, पृ० 184
24. किन्तु चोदकाद्यत्र नाङ्गप्राप्तिस्तत्कर्म प्रकृतिशब्देन विवक्षितम्। मीमांसान्यायप्रकाश पृ० 97
25. यत्र समग्राङ्गोपदेशः सा प्रकृतिः, वही पृ०11
26. यत्र न समग्राङ्गोपदेशः सा विकृतिः, वही पृ० 111
27. सौर्यं चरुं निर्वपेत, मैत्रायणीसंहिता, 2.2.2
28. मासमग्निहोत्रं जुहोति, उद्धृत-मीमांसान्यायप्रकाश पृ० 6
29. चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः, जैमिनि-सूत्र 1.1.2
30. धर्म-प्रमाणानि विध्यर्थवादमन्त्रनामधेयस्मृतिशिष्टाचाररूपाणि षट्। भाट्टचिन्तामणि पृ० 8 चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी 1933
31. सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात्, जैमिनि-सूत्र 1.1.4
32. न सामान्यविशेषाभ्यां धर्मसम्बन्धदर्शनम्।
लिङ्गस्य कस्यचित्सिद्धं येन स्यादनुमानता।। श्लोकवार्तिक चोदनासूत्र, वार्तिक सं 18
33. एवं सामर्थ्यस्यापि अधिकारिविशेषणत्वम्। असमर्थं प्रति विध्यप्रवृत्तेः। मीमांसान्यायप्रकाश, पृ० 190
34. अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि, उद्धृत पस्पशाह्निक, कैयट कृत प्रदीप व्याख्या, व्याकरण महाभाष्य, पृ० 9 चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, 1984
35. यजतिषु येयजामहं करोति नानुयाजेषु, आपस्तम्बश्रौतसूत्र 24.13.6
36. अन्ये तु नञोऽभावमात्रे शक्तिः, भाट्टचिन्तामणि पृ० 119
37. द्रव्यगुणकर्मसामान्यशक्त्यभावाः षट्पदार्थाः तन्त्रसिद्धान्तरत्नावली पृ० 38 काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी, 1944

38. द्रव्यक्रिया गुणादीना धर्मत्वं स्थापयिष्यते। श्लोकवार्तिक चोदनासूत्र वार्तिक सङ्ख्या 13
39. तस्माद्धर्मार्थिभिः पूर्वं प्रमाणैर्लोकसम्मतैः।
अर्थस्य सदसद्भावे यत्नः कार्यः क्रियां प्रति।। श्लोकवार्तिक, औत्पत्तिकसूत्र निरालम्बनवाद, वा० 4
40. व्रीहिन्प्रोक्षति, तैत्तिरीयब्राह्मण 3.2.5
41. व्रीहिभिर्यजेत, आपस्तम्बश्रौतसूत्र 6.31.14
42. व्रीहीनवहन्ति, तैत्तिरीयब्राह्मण 3.2.5, आप० श्रौ० सू० 1.10
43. अरुणया पिङ्गाक्ष्या एकहायन्या गवा सोमं क्रीणाति, तैत्तिरीयसंहिता 7.1.6.2
44. श्लोकवार्तिक, औत्पत्तिक सूत्र, शून्यवाद, वार्तिक सं० 254
45. तस्मात्फले प्रवृत्तस्य यागादेः शक्तिमात्रकम्।
उत्पत्तौ वापि पश्वादेरपूर्वं न ततः पृथक्।। श्लोकवार्तिक चोदनासूत्र, वार्तिक सं० 199
46. निषेधाश्च तदकरणादिति ज्ञायते,
अनृतवदनाकरणादिव दर्शपूर्णमासयोः। मीमांसान्यायप्रकाश पृ० 272
47. पशुना यजेत, तैत्तिरीयसंहिता 6.3.11
48. नवधा पदार्थाः द्रव्यं, गुणः, कर्म, सामान्यं, समवायः शक्तिः, सङ्ख्या, सादृश्यम्, क्रमश्चेति। प्रकरण-पञ्चिका, श्रीजयपुरि-नारायण-भट्ट-विरचित न्यायसिद्धि-व्याख्या पृ० 78, प्रकरणपञ्चिका, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, 1961

14
मीमांसा में 'अपूर्व-विधि' की अवधारणा

भारतीय चिन्तन की आस्तिक विचारधाराओं में वैदिक वाक्यों के विश्लोषण से यागात्मक कर्म के स्वरूप की निष्पादिका मीमांसा की तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा, प्रमाण तथा प्रामाण्यमीमांसा के सम्पूर्ण निष्कर्ष कहीं न कहीं से तथा किसी न किसी प्रकार से अपूर्व-विधि पर अवलम्बित होने के कारण, यही इस चिन्तन की विशिष्ट प्रक्रिया का केन्द्रवर्ती प्राणभूत तत्त्व है।

अपूर्व-विधि, यह शब्द अपूर्व तथा विधि इन दो तत्त्वों के संयोग से निष्पन्न एक यौगिक शब्द है, इसमें विधि विशेष्य है तथा अपूर्व का प्रयोग इसके विशेषण के रूप में किया गया है। **नीलञ्च तदुत्पलम्** इस विग्रह से निष्पन्न **नीलोत्पलम्** शब्द के समान **अपूर्वश्चासौ विधिरपूर्वविधिः** इस विग्रह के आधार पर कर्मधारय समास होने के कारण अपूर्व तथा विधि, इन दोनों का परस्पर तादात्म्य है।

इस अपूर्व-विधि शब्द में विद्यमान विधि शब्द का अर्थ अज्ञातार्थ-ज्ञापकत्व किया गया है। 'विधीयते अनेन इति विधिः' जिससे किसी का विधान हो वह विधि है, इस परिभाषा के अनुसार लिङ्, लेट्, लोट्, तव्य, अनीयर आदि विधायक प्रत्ययों से निर्मित वाक्यों के लिङ्त्व अंश से प्रकट होने वाली, वाक्यों की जो विधायिका शक्ति है, वही विधि है तथा ऐसी विधायिका शक्ति से सम्पन्न जो वाक्य है, वही विधायक विधि वाक्य है, यह सहजतापूर्वक कहा जा सकता है।

अपूर्व शब्द के 'नवीन' पहले से अज्ञात तथा 'अदृष्ट' ये दो अर्थ प्राप्त होते हैं। यागात्मक कर्म के अनुष्ठान से उसके फल की प्राप्ति होने तक "यजमान" अर्थात् शरीर, इन्द्रिय तथा मन, बुद्धि आदि से भी परे आत्मतत्त्व में उत्पन्न होने वाला कर्मजन्य संस्कार अदृष्ट है। यह अपूर्व या अदृष्ट 1. फलापूर्व, 2. समुदायापूर्व, 3. उत्पत्त्यपूर्व तथा 4. अङ्गापूर्व के भेद से चार प्रकार का माना गया है। इनमें

अज्ञात कर्म का प्रतिपादन कर उसके अनुष्ठान से आत्मा में एक विशेष अपूर्व रूपी संस्कार जिसके कारण उत्पन्न होता है, वह अपूर्व-विधि है, यह भी कहा जा सकता है। इस अपूर्व-विधि में विद्यमान यह अपूर्व शब्द यद्यपि अदृष्ट शब्द का भी बोधक है तथापि यहाँ उसकी अपूर्वता विधि द्वारा किसी अज्ञात अर्थ की कर्तव्यता के अवबोधन में ही चरितार्थ होती है, अतः सङ्क्षेप में अज्ञात अर्थ का प्रतिपादकत्व ही अपूर्व-विधि का निर्गलितार्थ है। अज्ञात अर्थ के प्रतिपादक सभी वाक्यों में यह अपूर्वता विद्यमान होने से लाघव की दृष्टि से मीमांसाशास्त्र में इस अपूर्व विधि को मात्र विधि शब्द से भी मीमांसकों ने प्रदर्शित किया है।

कुमारिलभट्ट द्वारा प्रदर्शित अपूर्व-विधि

आचार्य कुमारिलभट्ट ने **विधिरत्यन्तमप्राप्ते**[1] इस कारिकांश द्वारा अपूर्व विधि को विधि शब्द मात्र से प्रदर्शित किया है। उनका कहना है कि पूर्व के किन्हीं भी वाक्यों द्वारा जिसका प्रतिपादन नहीं किया गया हो ऐसे अत्यन्त अप्राप्त अर्थ में जिस विधि के द्वारा नियोग (अनुष्ठान) की कर्तव्यता का प्रतिपादन किया जाता है उसे शुद्ध विधि ही कहा जाता है। "**व्रीहीन्प्रोक्षति**"[2] इस वैदिक वाक्य को इसके उदाहरण के रूप में प्रदर्शित किया गया है। यज्ञ में हवि के रूप में **व्रीहिभिर्यजेत**[3] इस वाक्य द्वारा प्राप्त व्रीहि का प्रोक्षण, इस वाक्य के अतिरिक्त अन्य किसी वाक्य से प्राप्त न होने के कारण ही उसे आचार्य कुमारिलभट्ट ने विधि के उदाहरण के रूप में प्रदर्शित किया है।

कमलाकरभट्ट कृत अपूर्वविधि-स्वरूप तथा भेदों का निरूपण

मीमांसा-कुतूहलकार कमलाकरभट्ट उक्त वार्तिक के '**विधिरत्यन्तमप्राप्ते**' इस अपूर्व-विधि के प्रतिपादक अंश की व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि '**व्रीहीन्प्रोक्षति**' (चावलों में प्रोक्षण करे) इस वाक्य के बिना याग में प्रयुक्त होने वाले चावलों का प्रोक्षण अन्य किसी भी वाक्य द्वारा प्राप्त न होने के कारण अप्राप्त प्रोक्षण की प्रापक होने के कारण यह अपूर्व विधि है।[4]

कमलाकरभट्ट ने इस प्रसङ्ग में पूर्वपक्ष की ओर से यह आशङ्का भी उत्थापित की है कि व्रीहि के प्रोक्षण की प्राप्ति '**आग्नये जुष्टं प्रोक्षामि**' इस मन्त्र में विद्यमान '**प्रोक्षामि**' पदरूप शब्द के सामर्थ्यरूप लिङ्ग प्रमाण से भी सम्भव है अतः इसे अज्ञात अर्थ मानकर इसके प्रतिपादक उक्त वाक्य को उत्पत्ति-विधि रूप अपूर्व-विधि क्यों माना जाए?

इस शङ्का के परिहारार्थ कमलाकरभट्ट का कहना है कि यद्यपि उक्त मन्त्र में विद्यमान प्रोक्षामि पद से प्रोक्षण का प्रकाशन होता है तथापि यह शब्दसामर्थ्यरूप लिङ्ग, विधायक नहीं होता। लिङ्ग-प्रमाण केवल अर्थ का प्रकाशन करता है। अर्थ का प्रकाशन हो जाने पर एक कल्पित विधिवाक्य के बल पर उसका विधान माना जाता है। यहाँ पर साक्षात् विधिवाक्य उपलब्ध है अतः वही विधायक है।[5] इसके अतिरिक्त मन्त्र तो कर्म में प्रयुक्त होने वाली सामग्रियों के स्मारक मात्र होते हैं[6], विधायक नहीं। इसलिए व्रीहि के प्रोक्षण की कर्तव्यता उक्त विधि-व्यापार के पूर्व अज्ञात रहने से इस अज्ञात अर्थ का प्रतिपादक होने के कारण विधि का अपूर्वविधित्व अक्षुण्ण रहता है।

अपूर्व विधि-भेद

आचार्य कमलाकरभट्ट ने अपूर्व-विधि के 1. उत्पत्ति-विधि, 2. प्रयोग विधि तथा 3. अधिकार विधि, ये तीन भेद प्रतिपादित किए हैं। अपूर्व विधि, नियम-विधि तथा परिसङ्ख्या-विधि के स्वरूप के प्रतिपादक **विधिरत्यन्तमप्राप्ते** इस वार्तिक की व्याख्या में इनका कहना है कि उत्पत्ति-विधि, प्रयोग-विधि तथा अधिकार-विधि ये तीनों अपूर्व-विधि के तथा नियम-विधि एवं परिसङ्ख्या-विधि ये दोनों विनियोग के भेद हैं।[7]

अपूर्व-विधि के अन्तर्गत विद्यमान इन तीनों विधियों का स्वरूप कमलाकर भट्ट ने सङ्क्षेप में प्रदर्शित किया है।

उत्पत्ति विधि

1. अन्य किसी प्रमाण से ज्ञात न होने वाले अज्ञात कर्म के बोधक विधि को इन्होंने उत्पत्ति-विधि प्रतिपादित कर 'अग्निहोत्रं जुहोति'[8] इस वाक्य को उत्पत्ति-विधि के उदाहरण के रूप में प्रदर्शित किया है। प्रकृत स्थल में वैदिक वाक्य के द्वारा विहित अग्निहोत्र-याग की कर्तव्यता अन्य किसी भी वाक्य द्वारा विहित नहीं है। इस अविहित एवं अज्ञात अग्निहोत्र याग की कर्त्तव्यता का विधायक होने से यह वाक्य उत्पत्ति-विधिरूप अपूर्व विधि-वाक्य माना गया है।[9]

प्रयोग विधि

आचार्य कमलाकरभट्ट ने अङ्गों सहित कर्म के अनुष्ठापक विधि को

प्रयोग-विधि प्रतिपादित करते हुए इसमें 'फलविधि में उत्पत्ति विधि के ही प्रायः तत्त्व रहते हैं' यह कहते हुए उसे उत्पत्तिविधि से लगभग अभिन्न प्रतिपादित किया है।[10]

मीमांसक श्रीकृष्ण यज्वा इस प्रयोग -विधि को कमलाकरभट्ट द्वारा अपूर्व विधि के एक भेद के रूप में प्रदर्शित उत्पत्ति-विधि को प्रधानविधि शब्द से प्रतिपादित कर इस प्रधानविधि के रूप में ही इसका अवलोकन करते हैं। इनका कहना है कि प्रधान-विधि की अङ्गविधियों के साथ एकवाक्यता होने से इस एकवाक्यता के आधार पर महावाक्यता के स्वरूप को प्राप्त कर लेने के पश्चात् सभी अङ्गों से युक्त प्रधान विधायक होने के कारण इसे ही प्रयोग विधि कहा जाता है।[11]

अधिकार विधि

अपूर्व विधि के भेद के रूप में प्रदर्शित अधिकार विधि को कर्म में पुरुष के फलभोक्तृत्व के बोधक विधि के रूप में आचार्य कमलाकरभट्ट ने प्रदर्शित किया है।[12]

शङ्करभट्ट तथा गागाभट्ट की दृष्टि में अपूर्व-विधि तथा उसके भेद

सोलहवीं शताब्दी के मध्यकाल के मीमांसक शङ्करभट्ट ने अपने ग्रन्थ 'मीमांसा-बाल-प्रकाश' में अपूर्व-विधि के जाति-विधि, द्रव्य-विधि, गुणविधि तथा क्रियाविधि, ये चार भेद प्रदर्शित किये हैं।

1. **जाति-अपूर्व विधि- 'खादिरं वीर्यकामस्य यूपं कुर्वीत'** इस विधि-वाक्य में वीर्यकामनावान् व्यक्ति के यज्ञ के लिए खादिर-काष्ठ (खैर की लड़की) के यूप का विधान किया गया है। यहाँ पर 'खादिर', यह जाति होने से यूप की निष्पत्ति में उसके माध्यम से अपूर्व का प्रतिपादन होने के कारण इसे 'जात्यापूर्वविधि' माना गया है।[13]

2. **द्रव्य-विधि- 'गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत्'**, यहाँ विधिवाक्य में विद्यमान गोदोहन शब्द, यौगिक होने से द्रव्यरूप अर्थ का वाचक है। अतः यह द्रव्य या पूर्व विधि है।[14]

3. **गुण विधि- 'यदि कामयेत वर्षुकः पर्जन्यः स्यान्नीचः सदोमिनुयात्'** यहाँ पर नीचः शब्द, गुण का प्रकाशक होने से इसे गुणापूर्व-विधि माना गया है।[15]

4. क्रियापूर्व-विधि– 'अग्निहोत्रं जुहोति' इस वाक्य द्वारा विहित याग-रूप क्रिया फलापूर्व की जनक है अतः इस फलापूर्वजनक क्रिया के प्रतिपादक इस वाक्य को शङ्करभट्ट ने क्रियापूर्व-विधि के उदाहरण के रूप में प्रदर्शित किया है।[16]

क्रत्वर्थ तथा पुरुषार्थ की दृष्टि से विधि-भेद

अपूर्वविधि के उन चार भेदों के अतिरिक्त क्रत्वर्थ अपूर्व विधि तथा पुरुषार्थ अपूर्व-विधि, ये दो अन्य भेद भी शङ्करभट्ट ने प्रदर्शित किये हैं। इनमें **'समिधो यजति,'** **'बर्हिर्यजाति'**, **'तनूनपातं यजति'**, **'इडो यजति'**, **'स्वाहाकारं यजति'**, इन पाँच विधिवाक्यों द्वारा प्राप्त याग, दर्शपूर्णमास-याग के अङ्ग प्रतिपादित किए गये हैं। इनके अनुष्ठान से क्रतु=दर्शपूर्णमास में अङ्गापूर्व की निष्पत्ति प्रतिपादित की गई है। इसलिए ये क्रतु के उपकारक होने के कारण इनके प्रतिपादक वाक्यों को शङ्करभट्ट ने क्रत्वर्थ अपूर्व-विधि वाक्यों के रूप में निरूपित किया है।

पुरुषार्थ क्रत्वर्थ विधि

'अग्निहोत्रं जुहोति' जैसे वाक्यों द्वारा प्रदिपादित कर्मों का अनुष्ठान होने पर यजमान पुरुषों को स्वर्गरूप फल की निष्पत्ति प्रतिपादित की गई है। पुरुष के साक्षात् उपकारक होने के कारण शङ्करभट्ट ने कर्म-प्रतिपादक विधिवाक्यों को क्रत्वर्थ अपूर्वविधि-वाक्यों के भेद में परिगणित किया है।[17]

अपूर्व विधि का अष्टविधत्व

अपूर्व-विधि के चतुर्विध तथा द्विविध भेदों के प्रदर्शन के पश्चात् शङ्करभट्ट ने विधि (अपूर्व विधि) के निम्नलिखित आठ भेदों का उल्लेख किया है-1. धात्वर्थमात्रविधि, 2. सगुणधात्वर्थ-विधि, 3. अन्योद्देश्यक धात्वर्थविधि, 4. विशिष्ट-धात्वर्थ विधि, 5. धात्वर्थोद्देश्यक अन्य-विधि, 6. धात्वर्थ में अन्य के सम्बन्ध की विधि, 7. धात्वर्थ से अनुरक्त ज्ञान से अन्य दोनों के सम्बन्ध की विधि तथा 8. धात्वर्थ को छोड़कर अन्य दोनों के सम्बन्ध की विधि।[18]

ग्रन्थकार शङ्करभट्ट ने विधि के इन आठ भेदों का उल्लेख मात्र किया है। उदाहरणों के माध्यम से इनकी सङ्गति का प्रदर्शन नहीं किया है।

गागाभट्टकृत अपूर्व-विधि तथा उसके भेदों का विवेचन

सत्रहवीं शताब्दी के भाट्टमतावलम्बी विद्वान् गागाभट्ट ने अपने भाट्टचिन्ता-मणि-सङ्ज्ञक ग्रन्थ के तर्कपाद में विधि-भेद निरूपण की प्रक्रिया में अन्य आचार्यों के साथ अपने मत के प्रदर्शनार्थ पाँच बार अपूर्व-विधि का पदर्शन किया है।

सर्वप्रथम कुमारिल के मत का ही प्रदर्शन किया गया है। द्वितीय बिन्दु पर इन्होंने अपने पिता श्रीदिनकरभट्ट का मत प्रदर्शित किया है। भट्टदिनकर ने सर्वप्रथम नियम-विधि तथा परिसङ्ख्या-विधियों का लक्षण प्रदर्शित करने के उपरान्त नियमविधि तथा परिसङ्ख्या-विधि से भिन्न विधि के रूप में अपूर्व-विधि के स्वरूप को प्रदर्शित किया है।[19] 'अपूर्व विधि' के अन्य स्वसम्मत तथा अन्य आचार्यों के अभिमत प्रतिपादन, तन्त्रवार्तिक की पूर्वोक्त कारिका के अर्थ को ही अभिव्यक्त करते हैं।

गागाभट्ट कृत अपूर्वविधि का चतुर्विधभेद

गागाभट्ट ने विवेचित अपूर्वविधि के उत्पत्ति-विधि, विनियोगविधि, अधिकार-विधि तथा प्रयोगविधि ये चार भेद माने हैं। मीमांसाशास्त्र में मुख्य रूप से ये ही विधि के चार भेद माने गये हैं। इन चारों प्रकारों की विधियों में किसी न किसी रूप में विद्यमान अपूर्व-अर्थ के विधान के सामर्थ्य के आधार पर गागाभट्ट ने विविधता में एकता के अनुसन्धान के दृष्टिकोण से इन चारों विधियों को अपूर्वविधि के भेद के रूप में प्रदर्शित किया है।[20]

अपूर्व विधि के भेद के रूप में प्रदर्शित इन चारों विधियों के स्वरूप को गागाभट्ट ने सङ्क्षिप्त रूप से प्रकाशित किया है।

उत्पत्ति विधि

गागाभट्ट कर्म के स्वरूप की बोधक विधि को उत्पत्ति-विधि निरूपित करते हैं। इस विधि के उदाहरण के रूप में इन्होंने 'अग्निहोत्रं जुहोति' इस वाक्य को उद्धृत किया है। इनका कहना है कि अग्निहोत्र के स्वरूप का बोध, इसी वाक्य से होता है अतः यह 'उत्पत्ति विधि' है।[21]

विनियोग विधि

अङ्गता के बोधक विधि को इन्होंने विनियोग विधि कहा है। दध्ना जुहोति[22]

इस वाक्य में होम के प्रति दधि के अङ्गता का प्रतिपादन किया गया है। यह, होम में दधि के विनियोग का बोधक वाक्य होने के कारण विनियोग-विधि का उदाहरण है।[23]

अधिकार-विधि

गागाभट्ट ने फल के साथ यागकर्ता के सम्बन्ध के बोधक विधि को अधिकारविधि निरूपित कर 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' 24 इस वाक्य में इसकी सङ्गति प्रदर्शित की है। यहाँ पर स्वर्गकाम= नियोज्य का, फल= स्वर्ग के साथ सम्बन्ध का बोधक होने से, इसे अधिकार-विधि माना गया है।[25]

प्रयोग-विधि

अङ्ग सहित (प्रधान) के अनुष्ठान के बोधक-विधि को गागाभट्ट ने प्रयोगविधि कहा है। इनके अनुसार यह प्रयोग-विधि नित्यरूप से कल्प्य है तथा अपने से भिन्न उत्पत्ति-विधि एवं विनियोग-विधि की उपजीवक (कार्य) है।[26]

प्रकारान्तर से अपूर्व विधि के सात भेद

भाट्टचिन्तामणिकार गागाभट्ट ने पूर्ववर्ती आचार्य शङ्करभट्ट के अनुरूप अपूर्व विधि के प्रकारान्तर से आठ भेदों का प्रदर्शन करने के पश्चात् अपनी दृष्टि से उसके सात भेद स्वीकार किये हैं। अपूर्व-विधि के आठ भेदों का स्वरूप निम्नलिखित है-1. शुद्ध धात्वर्थ-विधि, 2. अन्य के उद्देश्य से धात्वर्थ-विधि, 3. विशिष्ट धात्वर्थ-विधि, 4. अन्य के उद्देश्य से विशिष्ट धात्वर्थ-विधि, 5. धात्वर्थ के उद्देश्य से अन्य-विधि, 6. धात्वर्थ के उद्देध्य से विशिष्ट अन्य-विधि, 7. धात्वर्थ के उद्देश्य से अन्य के सम्बन्ध की विधि तथा 8. धात्वर्थ को छोड़कर अन्य के सम्बन्ध की विधि।

पूर्ववर्ती आचार्य शङ्करभट्ट द्वारा प्रतिपादित अपूर्व-विधि के अष्टविध भेदों को भी गागाभट्ट ने किञ्चित् शब्द-भेद के साथ प्रतिपादित किया है। प्रथम धात्वर्थ मात्र-विधि के स्थान पर भाट्टचिन्तामणि में 'शुद्ध धात्वर्थ-विधि' इस सञ्ज्ञा का प्रयोग किया गया है। द्वितीय सगुणधात्वर्थ विधि को गागाभट्ट ने अपने विधि-भेद प्रदर्शन में तृतीय स्थान पर विशिष्ट धात्वर्थ-विधि के रूप में प्रदर्शित किया है। तृतीय स्थान पर उल्लिखित अन्योददेश्यक धात्वर्थ-विधि को गागाभट्ट ने द्वितीय

स्थान पर अन्य के उद्देश्य से धात्वर्थ-विधि के रूप में प्रदर्शित किया है। चतुर्थ स्थान पर प्रदर्शित विशिष्ट धात्वर्थ-विधि को इसी शब्दावली में गागाभट्ट ने चतुर्थ स्थान पर प्रदर्शित किया है। शङ्करभट्ट के विधि-विवेचन में पञ्चम क्रम में प्रदर्शित धात्वर्थ के उद्देश्य से अन्य-विधि को भाट्ट चिन्तामणिकार गागाभट्ट ने इसी क्रम में इसी शब्दावली में प्रदर्शित किया है। शङ्करभट्ट द्वारा छठे क्रमाङ्क पर प्रदर्शित धात्वर्थ में अन्य दोनों के सम्बन्ध की विधि को गागाभट्ट ने अपने विधि भेद-विवेचन में सप्तम स्थान पर धात्वर्थ के उद्देश्य से अन्य के सम्बन्ध की विधि के रूप मे प्रतिपादित किया है। भट्टशङ्कर द्वारा सप्तम क्रम पर प्रदर्शित धात्वर्थ से अनुरक्त प्रत्यय (ज्ञान) द्वारा अन्य दोनों के सम्बन्धबोधक विधि को गागाभट्ट ने अपने विधि-भेद-विवेचन में सप्तम स्थान पर धात्वर्थ के उद्देश्य से अन्य के सम्बन्ध की विधि के रूप में प्रदर्शित किया है। अष्टम स्थान पर दोनों ने धात्वर्थ को छोड़कर अन्य के सम्बन्ध में विधि को ही प्रदर्शित किया है।

इस अपूर्वविधि के अष्टविध-भेद-प्रदर्शन की प्रक्रिया में भट्टशङ्कर तथा गागाभट्ट के प्रतिपादन में क्रम का तथा यत्किञ्चित् शब्दों का ही अन्तर दृष्टिपथ में आता है। इतना अवश्य है कि भट्ट शङ्कर ने इन भेदों के उदाहरण प्रदर्शित नहीं किये हैं, परन्तु गागाभट्ट ने इनके उदाहरणों को प्रदर्शित कर अपने इस विधिभेद को अधिक प्रामाणिक तथा उपादेय बना दिया है।

अपूर्व विधि के उदाहरणों को गागाभट्ट ने निम्नलिखित रूप में प्रदर्शित किया है–

1. **शुद्ध धात्वर्थ-विधि–** शुद्ध धात्वर्थ-विधि के उदाहरण के रूप में **'अग्निहोत्रं जुहोति'** इस वाक्य को गागाभट्ट ने प्रदर्शित किया है। यहाँ पर याग रूप धात्वर्थ मात्र का प्रतिपादन होने के कारण यह शुद्ध धात्वर्थ-विधि है।

2. **अन्य के उद्देश्य से धात्वर्थ-विधि–** द्वितीय क्रमाङ्क पर प्रदर्शित विधि का **'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः'** इस अधिकार-विधि बोधक वाक्य में गागाभट्ट ने समन्वय प्रदर्शित किया है। यहाँ पर अन्य (स्वर्ग) के उद्देश्य से धात्वर्थ याग का विधान होने से इसमें विधि का समन्वय हो जाता है।

3. **विशिष्ट धात्वर्थ विधि– सोमेन यजेत**[27] इस वाक्य को गागाभट्ट ने विशिष्ट धात्वर्थ-विधि के उदाहरणों के रूप में प्रदर्शित किया है। यहाँ पर सोमविशिष्ट धात्वर्थ याग का विधान होने से उदाहरण समन्वित हो जाता है।

4. अन्य के उद्देश्य से विशिष्ट धात्वर्थ विधि– **'दशा-पवित्रेण ग्रहं सम्मार्ष्टि'**[28] इस वाक्य को अन्योद्देश्य से विशिष्ट धात्वर्थ-विधि के उदाहरण के रूप में प्रदर्शित किया गया है। यहाँ पर अन्य ग्रह को उद्देश्य करके दशा-पवित्र विशिष्ट सम्मार्जन का विधान किया गया है।

5. धात्वर्थ के उद्देश्य से अन्य विधि–धात्वर्थ को उद्देश्य करके अन्य (अङ्ग) के विधायक विधि को गागाभट्ट ने अपूर्व-विधि के पाँचवें भेद के रूप में प्रदर्शित कर **'दध्ना जुहोति'** इस वाक्य को इस विधि के उदाहरण के रूप में प्रदर्शित किया है। यहाँ पर धात्वर्थ-याग को उद्देश्य करके अन्य 'दधिरूप' गुंण का विधान किया गया है।

6. धात्वर्थ के उद्देश्य से विशिष्ट अन्य विधि- धात्वर्थ को उद्देश्य करके विशिष्ट अन्य के विधायक विधि के उदाहरण के रूप में गागाभट्ट ने **'य इष्टया पशुना सोमेन वा यजेत सोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां वा'**[29] इस वाक्य को उद्धृत किया है। यहाँ पर याग को उद्देश्य करके पौर्णमासी तथा अमावस्या से विशिष्ट अन्य (विकल्प) का विधान है या धात्वर्थ=याग को उद्देश्य करके विकल्प से विशिष्ट पौर्णमासी तथा अमावस्या विधान है, ऐसा भी माना जा सकता है।

7. धात्वर्थ के उद्देश्य से अन्य के सम्बन्ध की विधि–धात्वर्थ को उद्देश्य करके किन्हीं दो के सम्बन्ध का विधान करने वाली इस विधि को गागाभट्ट ने अपूर्व-विधि के सप्तम भेद के रूप में प्रदर्शित करके **'प्रकाशाध्वर्यवे ददाति'**[30] इस वाक्य में सङ्गति स्थापित की है। यहाँ पर प्रकृत धात्वर्थ=दान के उद्देश्य से प्रकाश तथा अध्वर्यु, इनके सम्बन्ध का विधान किया गया है।

8. धात्वर्थ को छोड़कर अन्य के सम्बन्ध की विधि- धात्वर्थ को छोड़कर किन्हीं दो के सम्बन्ध के विधायक विधि को गागाभट्ट ने 'अपूर्व-विधि' के अष्टम भेद के रूप में प्रदर्शित किया है तथा **'दध्ना इन्द्रियकामस्य जुहुयात्'**[31] इस वाक्य को इस विधि के उदाहरण के रूप में प्रदर्शित किया है। यहाँ पर विधि धात्वर्थ=याग को छोड़कर मात्र दधि और इन्द्रिय के सम्बन्ध का ही विधान करता है।[32]

अपूर्व-विधि के इस परम्परागत अष्टविध-भेद पर अपना मत प्रकट करते हुए गागाभट्ट कहते हैं कि उक्त भेदों में सप्तम स्थान पर प्रदर्शित धात्वर्थ को

उद्देश्य करके अन्य के सम्बन्ध के विधायक विधिरूप अपूर्व-विधि तथा षष्ठ स्थान पर प्रदर्शित धात्वर्थ के उद्देश्य से विशिष्ट के विधायक विधि में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है अतः अपूर्व-विधि के अष्टभेद मानने के स्थान पर सप्त-भेद मानना ही अधिक सङ्गत है।

निष्कर्ष– अपूर्व-विधि के स्वरूप में विषय में मीमांसकों के विचारों का यही निष्कर्ष निकलता है कि यह 'अपूर्व-विधि' मुख्यरूप से सर्वथा अज्ञात कर्म की कर्तव्यता का प्रतिपादन करता है। गौणरूप से अन्य सभी विधियों मे भी किसी न किसी अंश में अपूर्वता अभिव्यक्त होने के कारण विधियों के प्रभेद में उनसे जुड़े हुए विशेषणांशों के बल पर वे सभी अपूर्व विधि से भिन्नरूप में प्रदर्शित होने पर भी उनमें विद्यमान आंशिक अपूर्वज्ञापकत्व के आधार पर कमलाकरभट्ट तथा गागाभट्ट सदृश विद्वानों ने इन सभी विधियों को अपूर्व-विधि का ही भेद माना है।

जिस प्रकार अलङ्कार-शास्त्र में औपम्यमूलक अलङ्कारों में फल (चमत्कृति) की दृष्टि से भेद होने पर भी सभी औपम्यमूलक अलङ्कारों के प्राणतत्त्व के रूप में उपमालङ्कार ही प्रकाशित होता है,[33] उसी प्रकार विशषणों के भेद से विधि के समस्त प्रकारों में यत्किञ्चित् विलक्षणता होने पर भी सभी विधिवाक्य किसी न किसी अपूर्व-अज्ञात अर्थ के प्रकाशक होने के कारण सम्पूर्ण विधिप्रपञ्च को विद्वानो ने अपूर्व विधि के विलास के रूप में प्रदर्शित किया है।

सन्दर्भ

1. तन्त्रवार्तिक 1, 2, 4, पृ० 152, बनारस-प्रिंटिंग-प्रेस एवं विद्याविलास प्रेस, बनारस, 1903
2. व्रीहीन् प्रोक्षति तै० ब्रा० 3/2/5
3. व्रीहीभिर्यजेत आप० श्रौ० सू० 6, 31, 14
4. अस्य ह्यमर्थः–'व्रीहीन् प्रोक्षति' इति वाक्यं विना यागे व्रीहिषु प्रोक्षणं कथमपि न प्राप्नोतीत्यप्राप्तविषयोऽपूर्वविधि। मीमांसा-कुतूहलम्, पृ० 106, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1987
5. नच 'अग्नये जुष्टं प्रोक्षामि' इति मन्त्रलिङ्गात्प्राप्तिः लिङ्गस्याविधायकत्वात्। वही, पृ० 106
6. प्रयोगसमवेतार्थस्मारका मन्त्राः। तेषाञ्च तादृशार्थस्मारकत्वेनैवार्थवत्वम्। अर्थ सङ्ग्रह, पृ० 92, चौखम्बा संस्कृत-सीरीज-आफिस, वाराणसी 1982

7. तत्रोत्पत्ति-प्रयोगाधिकारविधयोऽपूर्वविधेर्भेदाः। नियमपरिसङ्ख्ये विनियोगविधेः। वही, पृ० 106
8. 'अग्निहोत्रं जुहोति', तै० सं०1, 5, 9 एवं 5/1/2
9. मानान्तरानवगतकर्मबोधक आद्यः यथा अग्निहोत्रं जुहोति इति। मीमांसा-कुतूहलम्, पृ० सं० 104
10. साङ्गकर्मानुष्ठापकः प्रयोगविधिः। तत्र प्रायेण फलविधेरेव तत्त्वं भजते। वही, पृ० 104
11. प्रधानविधिरेवाङ्गविधिभिरेकवाक्यतया महावाक्यतामापन्नः सन् सर्वाङ्गविशिष्ट प्रधानप्रयोगविधायकत्वात्-प्रयोगविधिरित्युच्यते। मीमांसा-परिभाषा, पृ० 31, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 1987
12. कर्मणि पुंसः फलभोक्तृत्वबोधकोऽधिकारविधिः।'' मीमांसा कुतूहलम् पृ०104
13. तत्र जातेरपूर्वविधिर्यथा 'खादिरं वीर्यकामस्य यूपं कुर्वीत' इति। मीमांसा-बालप्रकाश, पृ० 22, विद्याविलास, प्रेस, बनारस, 1092
14. द्रव्यस्यापूर्वविधिर्यथा "गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेदिति गोदोहनशब्दस्य यौगिकत्वेन द्रव्यवाचित्वात्। मी० बा० प्र० पृ० 22
15. गुणस्यापूर्वविधिर्यथा-यदि कामयेत वर्षुकः पर्जन्यः स्यान्नीचः सदोमिनुयादिति। वही, पृ० 22
16. क्रियापूर्वविधिर्यथाऽग्निहोत्रं जुहोतीति। वही, पृ० 22
17. पुनरप्यपूर्वविधिर्द्विविधः क्रत्वर्थः पुरुषार्थश्च। तत्राद्यो तथा समिधो यजतीत्यादिः। द्वितीयो यथा अग्निहोत्रं जुहोतीत्यादिरिति। वही, पृ० 22
18. पुनरप्यष्टविधो विधिर्धात्वर्थमात्रविधिः सगुणधात्वर्थविधिः किञ्चिदुद्दिश्य धात्वर्थविधिस्तत्रैव विशिष्ट-धात्वर्थविधिर्धात्वर्थोद्देशेनान्यविधिर्धात्वर्थेऽन्ययोः सम्बन्धविधिर्धात्वर्थानुरक्तेन प्रत्ययेनान्ययोः सम्बन्धविधिर्मुक्त्वा धात्वर्थमन्ययोरेव सम्बन्धविधिश्चेति। वही, पृ० 22
19. उभयभिन्नो विधिरपूर्वविधिः। भाट्टचिन्तामणि, पृ० 74, पङ्क्ति, 15, चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी, 1961
20. तत्रापूर्वविधिरुत्पत्तिविधिर्विनियोगविध्यधिकारविधि-प्रयोग विधिभेदेन चतुर्धा। भाट्टचिन्तामणि, पृ० 75, पङ्क्त, 14,
21. कर्मस्वरूपबोधको विधिरुत्पत्तिविधिः। यथाग्निहोत्रं जुहोति इति। भाट्टचिन्तामणि, पृ० 75 पङ्क्त 16
22. दध्ना जुहोति आप० श्रौ० सू० 6/25
23. अङ्गताबोधको विधिर्विनियोगविधिः यथा दध्ना जुहोतीति। वही, पृ० 75, पङ्क्त 17
24. अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः (मै० सं० 1/8/6)
25. फलसम्बन्धबोधको विधिरधिकारविधिः यथाऽग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम इति। वही, पृ० 75, पङ्क्त 18

26. स्वाङ्गानुष्ठानबोधको विधिः प्रयोगविधिः। स च नित्यं कल्प्यो भिन्न-उत्पत्तिविनियोगविध्युपजीवकश्च। वही, पृ० 75, पङ्क्ति, 20
27. 'सोमेन यजेत' तैत्तिरीय संहिता, 3/2/2
28. 'दशापवित्रेण ग्रहं सम्मार्ष्टि', मीमांसा-न्याय-प्रकाश उद्धृत, पृ० 140 चौखम्बा-संस्कृत-सीरीज-आफिस, वाराणसी, 1955
29. मीमांसा-न्यायप्रकाश, पृ० 84
30. उद्धृत-भाट्टचिन्तामणि, पृ० 76, पङ्क्त 01
31. दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात् तै० ब्रा० 2/1/5
32. सोऽपि विधिर्विषयभेदादष्टविधः। शुद्ध-धात्वर्थविधिः। अन्योद्देशेन धात्वर्थ विधिः। विशिष्ट-धात्वर्थविधिः। अन्योद्देशेन विशिष्टधात्वर्थ-विधिः। धात्वर्थोद्देशेनान्य-विधिः। धात्वर्थोद्देशेन विशिष्टान्यविधिः। धात्वर्थोद्देशेनान्ययोः सम्बन्ध-विधिः। मुक्त्वा धात्वर्थमन्ययोः सम्बन्धविधिः।

    उदाहरणानि अग्निहोत्रं जुहोति। अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः। सोमेन यजेत। दशापवित्रेण ग्रहं सम्मार्ष्टि। दध्ना जुहोति य इष्ट्या पशुना सोमेन वा यजेत सोऽमावस्यायां वा। प्रकाशध्वर्यवे ददाति। दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्। वही, पृ० 75 पङ्क्त 25 से पृ० 76 धात्वर्थोद्देशेनान्य-सम्बन्धविधिरुद्देशेन विशिष्ट-विधितो भेदाभावात्सप्तविधित्वं युक्तम्। वही, पृ० 76 पङ्क्त 4 से 6
33. उपमैवानेकप्रकारवैचित्र्येणानेकालङ्कारबीजभूतेति प्रथमं निर्दिष्य अलङ्कार - सर्वस्व-उद्धृति-अलङ्कारों का क्रमिक विकास, पृ० 117, मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी, 1967

15
पूर्वमीमांसा में अपूर्वता के त्रिविध आयाम

भारतीय दार्शनिकचिन्तन की आस्तिकधारा में समाविष्ट साङ्ख्ययोग, न्यायवैशेषिक तथा पूर्वमीमांसा, ये पाँचों दार्शनिक प्रस्थान यद्यपि बाह्यार्थों का पारमार्थिक रूप से अस्तित्व समान रूप से स्वीकार करते हैं तथापि इनमें दार्शनिक विकास की दृष्टि से स्वरूपगत भेद भी दृष्टिगोचर होते हैं। साङ्ख्य-योग तथा न्याय-वैशेषिक, ये चारों दर्शन एक विशिष्ट तात्त्विक दृष्टि से चिन्तन के सोपान पर आरूढ़ होकर दार्शनिक विकास को प्राप्त हुए हैं। इनके विपरीत सम्पूर्ण वैदिक वाक्यों को कर्मपरक मानने की प्रतिज्ञा को लेकर मीमांसा मुख्य रूप से वैदिक वाक्यों के कर्मपरक अर्थ के प्रतिपादन के लिए की प्रवृत्त हुई है।[1] वैदिक वाक्यों की कर्मपरक व्याख्या की सङ्गति बैठाने के लिए 'अदृष्ट' तथा शरीरेन्द्रियादिकों से भिन्न रूप में 'आत्मा' स्वीकार करने पर दार्शनिक प्रक्रिया का विकास इस दर्शन में स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है। वाक्यार्थ-विश्लेषण से दार्शनिक स्वरूप की निष्पत्ति में जो तत्त्व कर्मपरक यागक्रिया के फल स्वर्ग की निष्पत्ति के बीच में सङ्गति स्थापित करने के लिए प्राप्त हुआ है वह 'अपूर्व' है। यहाँ यह अपूर्व कर्मजन्य एक शक्ति विशेष के रूप में प्रतिपादि किया गया है। इसी प्रकार अन्य अर्थों में भी इस अपूर्व तत्त्व की पूर्वमीमांसा में समन्विति दृष्टिगोचर होती है।

अपूर्व शब्द के त्रिविध अर्थ

कर्मजन्य शक्तिविशेष के अतिरिक्त अपूर्व के अर्थों में अज्ञातता तथा विलक्षणता, इन दो अन्य अर्थों की निष्पत्ति भी पूर्वमीमांसा में सहज परिलक्षित हो जाती है।[2]

अपूर्वता का प्रथम आयाम : शक्तिरूपिणी अपूर्वता

भारतीय आस्तिक षड्दर्शनों में वैदिकवाक्यों के कर्मपरक विश्लेषण के

लिए प्रवृत्त मीमांसाशास्त्र में कर्मजन्य अपूर्व की मान्यता उसके दार्शनिक उन्मुखीकरण का प्रथम सोपान है '**दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत स्वर्गकामः**'[3] इत्यादि वाक्य दर्शपूर्णमासादि कर्मों द्वारा स्वर्गादि पारलौकिक फलों की प्राप्ति का प्रतिपादन करते हैं। यागादि कर्म तृतीय क्षण में नष्ट हो जाते हैं। यह ज्ञान प्रत्यक्ष से ही हो जाता है। स्वर्गरूपी फल के साधन याग के नष्ट हो जाने से स्वर्ग-फल की निष्पत्ति के लिए याग से उत्पन्न तथा स्वर्ग का जनक एक 'अपूर्व' तत्त्व मानना अनिवार्य हो जाता है। इस अपूर्व के बिना यागरूपी कर्म से स्वर्ग की निष्पत्ति असम्भव होने से स्वर्ग के साधन के रूप में यागात्मक कर्म के अनुष्ठान के बोधक वेद की प्रामाणिकता नष्ट हो जाती है। वैदिक प्रामाण्य की रक्षा के लिए मीमांसकों को यागात्मक कर्म से उत्पन्न होकर स्वर्गादि फल की निष्पत्ति तक विद्यमान रहने वाले अपूर्व तत्त्व की सत्ता को स्वीकार करना पड़ा है। तन्त्रवार्तिक में आचार्य कुमारिलभट्ट इस विषय में लिखते हैं कि 'चिरकाल के बाद मिलने वाले फल के लिए विहित यागात्मक कर्म क्षणिक होने से कर्म के नष्ट हो जाने पर भी फल-प्राप्ति पर्यन्त विद्यमान रहने वाले 'अपूर्व' की सत्ता न मानने पर कर्म से फल की सिद्धि नहीं हो सकती। इसीलिए कर्म के नष्ट हो जाने पर भी उस कर्म से उत्पन्न फल की प्राप्ति होने तक विद्यमान रहने वाले 'अपूर्व' की सत्ता स्वीकार करना नितान्त आवश्यक है। यह श्रुतार्थापत्ति ही 'अपूर्व' की सत्ता को प्रमाणित कर देती है-

फलाय विहितं कर्म क्षणिकं चिरभाविने।
तत्सिद्धिर्नान्यथेत्येवमपूर्वं प्रति गम्यते।।[4]

यागरूप कर्म के नष्ट हो जाने पर उससे उत्पन्न 'अपूर्व' के आश्रय के रूप में मीमांसकों को आत्मा का अस्तित्व भी स्वीकार करना पड़ा है। आत्मतत्त्व की स्वीकृति ही दार्शनिकता की परिपूर्णता को अभिव्यक्त करती है। यद्यपि आत्मतत्त्व की सत्ता अभी आस्तिक दार्शनिकों के अनुरूप नास्तिक वर्ग के जैनदर्शन में भी अभिमत है तथापि इन सभी दर्शनों ने दुःख से मुक्ति के उद्देश्य से आत्मतत्त्व को स्वीकार किया है। इनके विपरीत मीमांसकों ने कर्मजन्य 'अपूर्व' की अवस्थिति के लिए आवश्यक होने से 'आत्मा' की सत्ता स्वीकार की है। इनके मत में आत्मा गौण तथा अपूर्व ही प्रधान है। कुमारिलभट्ट ने श्लोकवार्तिक में स्पष्ट रूप से कहा है कि 'श्रुति द्वारा दिया गया 'आत्मज्ञान' का उपदेश मोक्ष के लिए नहीं है, अपितु

बिना आत्मा को माने अपूर्व की स्थिति तथा बिना 'अपूर्व' के कर्मफल की सङ्गति नहीं हो पाती अतः इस कर्मफल की सङ्गति ही 'आत्मज्ञान' के उपदेश का लक्ष्य है–

आत्मा ज्ञातव्य इत्येतन्मोक्षार्थं न च चोदितम्।
कर्मप्रवृत्तिहेतुत्वमात्मज्ञानस्य लक्ष्यते।[5]

यह अपूर्व भी अङ्गापूर्व, समुदायापूर्व तथा परमापूर्व के रूप में व्यवस्थित किया गया है।[6] परमापूर्व को फल की निष्पत्ति तक आत्मा में स्थित माना गया है। यद्यपि मीमांसा के प्रभाकर-सम्प्रदाय ने 'अपूर्व' को कर्मनिष्ठ ही माना है तथापि कुमारिल भट्ट तथा उनके मतावलम्बी विद्वान् आवश्यकतानुसार 'अपूर्व' को द्रव्य, क्रिया तथा आत्मा, तीनों में तथा जहाँ भी आवश्यकता हो, उसमें अवस्थित मानते हैं। कुमारिलभट्ट का कहना है - कि "कार्य (फल) की निष्पत्ति से अनुमेय शक्ति (अपूर्व) जहाँ भी आवश्यक हो, वहाँ मानी जा सकती है। वह अपने आश्रय (कर्म) में रहने के साथ अन्य आश्रय (द्रव्य तथा आत्मा) में भी रह सकती है–

शक्तिः कार्यानुमेयत्वाद् यद्गतैवोपयुज्यते।
तद्गतैवाभ्युपेतव्या स्वाश्रयान्याश्रयाऽपि वा।।[7]

पूर्वमीमांसा कर्म को वेदार्थ मानती है। इस वेदार्थ की सङ्गति के लिए 'अपूर्व' का अस्तित्व मीमांसा की प्रथम अनिवार्यता होने के कारण कर्मजन्य शक्तिरूपिणी 'अपूर्वता' पूर्वमीमांसा की प्रथम अपूर्वता है।

अपूर्वता का द्वितीय आयाम : अज्ञातता

जिस प्रकार कर्मसङ्गति के उद्देश्य से अपूर्वता को फलोत्पादिका अपूर्वरूपिणी शक्ति के रूप में माना गया है उसी प्रकार यागात्मक कर्म के अवबोधक वैदिक वाक्यों में प्रामाण्य की सङ्गति के लिए इस अपूर्वता को 'अज्ञातता' के रूप में भी स्वीकार किया गया है। कर्म के बोधक विधिवाक्य में मीमांसा में तभी प्रामाण्य स्वीकार किया जाता है जब वह विधिवाक्य, पूर्व में अज्ञात अर्थ का ही अवबोध करा रहा हो। महर्षि जैमिनि ने वैदिक वाक्यों द्वारा अर्थनिष्पत्ति होने तक 'धर्मतत्त्व' अज्ञात रहने के कारण ही '**चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः**'[8] इस सूत्र द्वारा एकमात्र वेद को ही धर्मावबोधक प्रमाण निरूपित किया है। यद्यपि वेद के 1. विधि,

2. मन्त्र, 3. अर्थवाद, 4. नामधेय तथा 5. निषेध, ये पाँच विभाग किए गए हैं। इनमें साक्षाद् रूप से विधिवाक्य ही धर्मावबोधक माने जाते हैं। इन विधिवाक्यों के द्वारा प्रतिपादित कर्मानुष्ठान में उपयोगी होने से अन्य वेद-भागों में भी विधि-समन्वित धर्मावबोधक प्रामाण्य माना जाता है। इस विधि का लक्षण '**अज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधिः**'[9] अज्ञात अर्थ (कर्म) के प्रतिपादक वैदिक वाक्य को विधि कहा जाता है। यहाँ पर विधि में जो धर्मावबोध-प्रामाण्य माना गया है वह इस विधि के अज्ञाततारूपिणी अपूर्वता के वैशिष्ट्य पर ही अवलम्बित है। इस अज्ञातता या अपूर्वतारूपी विधि के प्रामाण्य के आधार पर विधि के अन्य भागों में भी **अदग्धदहनन्याय** से धर्मावबोधक प्रामाण्य को स्वीकार किया जाता है। जिस प्रकार 'अग्नि' अपने इन्धन में से जले हुए इन्धन को छोड़कर जो इन्धन जला नहीं है, उस अदग्ध इन्धन को ही जलाता है, उसी प्रकार इस 'अदग्धदहनन्याय' से वाक्यार्थ भी जिस अर्थ का अवबोध हुआ नहीं है, उस 'अज्ञात' अर्थ का ही अवबोध कराता है। यह अज्ञातार्थज्ञापकता ही मुख्य रूप से मीमांसा के प्रधान लक्ष्य 'धर्म' के अवबोधक विधि-वाक्य का वैशिष्ट्य है। मीमांसा में धर्मप्रमाण के रूप में प्रतिपादित विधिवाक्यों के चारों भेदों में इस अज्ञातार्थज्ञापकता का अवलोकन किया जा सकता है। मीमांसकों में विधि के 'उत्पत्तिविधि', 'विनियोगविधि', 'अधिकारविधि तथा 'प्रयोगविधि ये चार भेद निरूपित किए हैं।'[10] '**अग्निहोत्रं जुहोति**'[11] जैसे वाक्यों को 'उत्पत्ति विधि' माना जाता है। इस विधिवाक्य के श्रवण के पूर्व 'अग्निहोत्र याग' की कर्तव्यता सर्वथा अज्ञात थी। इस प्रकार के पूर्वरूप से अज्ञात कर्म के स्वरूपावबोधक वाक्यों को उत्पत्ति विधि' कहा जाता है।[12] द्वितीय भेद 'विनियोग-विधि' का है। इस विधि में कर्म 'होम' पूर्व वाक्य से ज्ञात रहने से अज्ञात नहीं रहता परन्तु इस 'होम' के प्रति जिनकी अङ्गता का प्रतिपादन किया गया है उन गुणों का स्वरूप इस विधि के पूर्व अज्ञात ही रहता है। अतः अज्ञात गुणों का विधान कर होम के साथ अङ्गत्व रूप से उनके विनियोग के अवबोधक वाक्य को गुणविधि या विनियोगविधि कहा जाता है।[13] '**दध्ना जुहोति**'[14] इस वाक्य द्वारा, ज्ञात कर्म होम में अङ्ग रूप से गुण-विधि के विनियोग का प्रतिपादन होने से यह वाक्य गुणविधि या विनियोग विधि का उदाहरण है। स्वर्ग आदि फलों की स्वामिता का अवबोधक वाक्य 'अधिकारविधि' माना जाता है।[15] '**यजेत स्वर्गकामः**' इस वाक्य में होम की कर्तव्यता, उत्पत्तिवाक्य द्वारा ज्ञात रहने पर भी इस कर्म के फल

स्वर्ग के साथ ' यागकर्ता' की स्वामिता अज्ञात ही रहती है। यह विधि-वाक्य '**स्वर्गकामः**' इस अंश द्वारा इसी अज्ञात फलस्वामितारूप अर्थ का अवबोध कराकर अपनी चरितार्थता को अभिव्यक्त करता है।

इसी प्रकार 'उत्पति विधि' से यागात्मक कर्म, 'विनियोग विधि' या गुण-विधि से गुण तथा 'अधिकार विधि' से अधिकारी की प्राप्ति हो जाने पर भी कर्म के अङ्गों का अनुष्ठान किस क्रम से करें ताकि एक व्यवस्थित यागानुष्ठान शीघ्रतापूर्वक सम्पन्न हो सके। इस अज्ञात प्रयोग-प्राशुभाव तथा क्रम का विधान[16] प्रयोग विधि द्वारा सम्पादित किया जाता है।[17]

इसी प्रकार 'ज्योतिष्टोम याग' के 'विकृतियाग' श्येनयाग' में **लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति** इस वाक्य को सुनने से यह वाक्य 'ऋत्विक्-प्रचरण' का विधान करता है, ऐसी प्रतीति होती है परन्तु 'ऋत्विक्-प्रचरण' प्रकृति याग-ज्योतिष्टोम में "**सोष्णीषा विनीतावसना ऋत्विजः प्रचरन्ति**" इस वाक्य द्वारा किया जा चुका है। वहाँ से इसकी प्राप्ति 'श्येन याग' में '**प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या**' इस अतिदेश वाक्य से हो जाती है। अप्राप्त अंश का ही विधि द्वारा विधान मान्य होने से '**लोहितोष्णीषा०**' इस वाक्य द्वारा 'श्येन याग' में अप्राप्त अंश 'लौहित्य' का ही विधान माना जाता है।[18]

इस सारे प्रसङ्गों की विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'मीमांसाशास्त्र' में कर्मसङ्गति के लिए फलोत्पादिका शक्ति के रूप में अपूर्वता का जितना महत्त्व है, उतना 'अज्ञातता' के अर्थ में भी यह अपूर्वता कर्मसङ्गति के लिए नितान्त आवश्यक है। अतः मीमांसादर्शन में अज्ञातार्थप्रतिपादकता अपूर्वता का अनिवार्य द्वितीय आयाम है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर मीमांसकों ने 'अबाधित ज्ञान के साथ ही अनधिगत ज्ञान' की प्रतिपादकता को भी प्रमाणता का मुख्य आधार माना है।[19]

अपूर्वता का तृतीय आयाम : वैलक्षण्य

कर्मजन्य फलोत्पादिका 'शक्ति' तथा 'अज्ञातता' के साथ वैलक्षण्य या विलक्षणता भी अपूर्वता के रूप में मानी जाती रही है।। मीमांसादर्शन, 1. वेदाऽपौरुषेयत्व, 2. ईश्वरविषयक माध्यस्थत्व तथा देवता की शब्दरूपता के प्रतिपादन द्वारा दार्शनिक क्षेत्र में अपने सैद्धान्तिक वैलक्षण्य के कारण अपूर्वता के इस वैलक्षण्यरूपी तृतीय अर्थ का भी अभिव्यञ्जक है।

1. वेदाऽपौरुषेयत्ववाद

भारतीय दार्शनिक प्रस्थानों में जिन्होंने प्रामाण्य की पराकाष्ठा वेद में स्वीकार कर वैदिक वचनों द्वारा प्रमाणित अर्थ को अकाट्य माना है उन्हें ही आस्तिक दर्शन कहा जाता है। यद्यपि भारतीय चिन्तन के साङ्ख्य-योग, न्याय-वैशेषिक तथा मीमांसा एवं वेदान्त ये सभी प्रस्थान वेद के चरम प्रामाण्य को स्वीकार करते हैं तथापि इनमें वेद के पौरुषेयत्व तथा अपौरुषेयत्व को लेकर मतभेद हैं। वेद के रचनाकार के रूप में किसी व्यक्ति की मान्यता वेद का पौरुषेयत्व है। इसके विपरीत 'वेद' के रचनाकार के रूप में किसी व्यक्ति (पुरुष) को न मानना ही अपौरुषेयत्व है। वेद किसी पुरुष (मनुष्य) की रचना नहीं है, यह तथ्य सभी आस्तिक दार्शनिक प्रस्थानों में समान रूप से माना गया है। न्यायवैशेषिक वेद को ईश्वर के वचन के रूप में मानकर ही उसके सर्वोपरि प्रामाण्य को स्वीकार करते हैं।[20] इस सिद्धान्त में वेद का प्रामाण्य अभिमत होने पर भी वेद जिसके वचन हैं उस ईश्वर का प्रामाण्य वेद से अधिक सिद्ध होता है। साङ्ख्य-योग-दर्शन में वेद शब्दरूप हैं। शब्द तन्मात्रा है। यह अहङ्कार से उत्पन्न होता है अतः इनमें भी न्यायवैशेषिक के अनुरूप वेद को नित्य न मानकर जन्य माना गया है।[21] वेद उत्पन्न होने पर भी इनकी दृष्टि में किसी पुरुष की रचना न होने से अपौरुषेय माने गए हैं।[22] अपौरुषेय तथा अनित्य वेद साङ्ख्ययोग में सर्वोच्च स्थान पर नहीं है। यहाँ वेद के मूल में भी प्रकृति को ही माना गया है। मीमांसा के पूर्वमीमांसा तथा उत्तर-मीमांसा (वेदान्त)सम्प्रदाय, यद्यपि समान रूप से वेद को अपौरुषेय मानते हैं, तथापि दोनों के वेदविषयक दृष्टिकोण में अन्तर है। वेदान्त के अनुसार वेद को ईश्वर का 'श्वास' माना गया है। श्वासरूप वेद ईश्वर द्वारा निर्मित न होने से यद्यपि अपौरुषेय हैं, तथापि वे उत्पन्न होने से अनित्य हैं।[23] वेदान्त का अद्वैतवादी प्रस्थान 'ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या'[24] के सिद्धान्त के आधार पर ब्रह्मभिन्न वेद को भी ब्रह्म का विवर्त ही मानता है। एकमात्र पूर्वमीमांसा-दर्शन ही ऐसा दार्शनिक प्रस्थान है जिसमें वेद न तो सांसारिक पुरुषों की रचना है, ना ही इन्हें ईश्वर द्वारा निर्मित माना गया है। इस दर्शन की समग्र प्रक्रिया वैदिक वाक्यों पर अवलम्बित होने के कारण वेद को पुरुषनिष्ठ दोषों से सर्वथा रहित निरूपित करने के लिए जहाँ इसे अपौरुषेय माना गया है वहीं वेद को सर्वथा कारण-रहित मानकर इसकी नित्यता भी प्रतिपादित की गई है।[25] इस दृष्टि से मीमांसा का 'वेदाऽपौरुषेयत्ववाद' इसकी प्रमुख विलक्षणता है।

ईश्वरविषयक औदासीन्य

भारतीय दर्शनों में ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में मीमांसा का पक्ष तटस्थता का पक्ष है। मीमांसाशास्त्र कर्मात्मक धर्म के अधिकारी की प्रवृत्ति कराने के लिए प्रवर्तित हुआ है। धर्म में जैमिनि ने '**चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः**' इस सूत्र से वेदमात्र को प्रमाण कहा है। यदि ईश्वर इन्हें अभिमत होता तो ये धर्म को ईश्वर द्वारा निरूपित मानकर धर्म में ईश्वर को ही प्रमाण प्रतिपादित करते। इसी प्रकार जैमिनि ने शब्द, शब्दार्थ तथा शब्दार्थसम्बन्ध भी नित्य माना है।[25] फलतः शब्दनिर्माता या शब्दार्थसम्बन्धकर्ता के रूप में भी ईश्वर इन्हें अभिमत नहीं है। कर्म के फलों की निष्पत्ति मीमांसकों ने अपूर्व के माध्यम से निरूपित की है। फलसङ्गति, अपूर्व द्वारा हो जाने से कर्मफलप्रदाता के रूप में भी ईश्वर इन्हें अभिमत नहीं है। मीमांसा के सम्प्रदायस्थापक दोनों आचार्यों, प्रभाकर तथा कुमारिलभट्ट ने ईश्वर-साधक युक्तियों का प्रबलता के साथ निराकरण किया है जो इन्हें निरीश्वरवाद की श्रेणी में स्थापित कर देता है।[26]

यद्यपि ईश्वर-विषयक युक्तियों के निराकरण से मीमांसा निरीश्वरवाद की पक्षधर प्रतीत होती है तथापि मीमांसक कुमारिलभट्ट द्वारा श्लोकवार्तिक में 'यज्ञ' के अतिरिक्त 'शिव' के प्रति नमस्कारात्मक अर्थ के मङ्गलाचरण द्वारा उनकी ईश्वरविषयक आस्था भी प्रकट होती है।[27] इसी प्रकार दसवीं शताब्दी के मध्यकाल के प्रभाकर-मतावलम्बी भवनाथ तथा बारहवीं शताब्दी के प्रभाकर-विजयकार नन्दीश्वर के द्वारा की गई यह टिप्पणी, कि ईश्वरविषयक अनुमानों के निराकरण का तात्पर्य ईश्वर की अनुमानगम्यता के निराकरण से है, ईश्वर के निराकरण से नहीं।[28] मीमांसकों की ईश्वरविषयक आस्था की अभिव्यञ्जक है। इन दोनों मतों को जोड़ देने पर यह बात सामने आती है कि ईश्वर मीमांसकों को तो मान्य है परन्तु कर्म की प्रधानता के प्रतिपादक मीमांसाशास्त्र की तात्त्विक विवचेना में उसके लिए स्थान नहीं है परिणामतः निरीश्वरवाद तथा सेश्वरवाद इन दोनों मतों का परित्याग कर मीमांसा ने इस सन्दर्भ में ताटस्थ्यावलम्बन की विलक्षणता प्रकट की है।

देवता के शब्दात्मकत्व का अवलम्बन

जिस प्रकर वेद के विषय में अपौरुषेयत्व तथा ईश्वरविषयक ताटस्थ्य मीमांसा की सैद्धान्तिक विलक्षणता को अभिव्यक्त करते हैं उसी प्रकार 'यज्ञात्मक' कर्म के अङ्ग देवता को शब्दरूप मानना भी मीमांसा का एक विलक्षण सिद्धान्त

है। 'यज्ञ' के द्रव्य तथा देवता ये दो अङ्ग माने गए हैं। '**अग्नये स्वाहा**'[29] इत्यादि मन्त्रों में '**स्वाहा**' द्वारा '**व्रीहि**' आदि द्रव्यों का तथा '**अग्नये**' पद से अग्निरूप देवता का प्रतिपादन किया गया है। जैमिनि द्वारा प्रवर्तित पूर्वमीमांसा में देवता को '**अग्नये**' आनुपूर्वी से युक्त शब्द के रूप में ही माना गया है। इस सन्दर्भ में इनका कहना है कि यदि देवता शब्दात्मिका न होकर व्यक्तिरूप होती तो उसके प्रतिपादक '**अग्नये स्वाहा**' आदि वाक्यों में '**अग्नये**' शब्दवाच्य देवता के आवाहन, त्याग एवं सूक्तवाकादि में पर्यायवाची शब्दों का भी प्रयोग होता परन्तु इसका निषेध होने से इस शास्त्र में देवता जिस रूप में उल्लिखित हैं, उसी रूप में अभिमत होने से यह सिद्ध हो जाता है कि देवता विग्रहवती न होकर मात्र शब्दात्मिका है।[30] श्री कुमारिलभट्ट टुप्पटीका में लिखते हैं कि देवता प्रधान न होकर द्रव्य के समान याग का अङ्ग है। कर्म ही प्रधान है। वही फलजनक है। देवता शब्दमयी है-

'**नहि स्वामिनि स्थिते दासात् कश्चित् फलं प्रार्थयते किन्तु कर्मण एव फलजनकत्वम्- शब्दमयी देवता।" टुप्पटीका,** इस देवता का ज्ञान तद्धित, शक्तिवृत्ति, चतुर्थी, लक्षणा तथा मन्त्रवर्ण से माना गया है। इनमें तद्धित शक्तिवृत्ति से, चतुर्थी लक्षणा से तथा मन्त्रवर्ण अधिष्ठान के रूप में देवता का बोध कराते हैं।[31]

पूर्व-शब्द-घटित अपूर्वता

यद्यपि मीमांसा-शब्द कर्ममीमांसा के अर्थ में रूढ़ हो गया है तथा वेदान्त के लिए उत्तरमीमांसा का प्रयोग किया जाता है, तथापि पूर्वोत्तरमीमांसाओं में से अन्यतर के सन्देह का सर्वथा निराकरण मात्र 'मीमांसा शब्द से सम्भव नहीं है। काव्यप्रकाश के चतुर्थ उल्लास में भट्ट लोल्लट के उत्पत्तिवाद को व्याख्याकारों ने मीमांसा का सिद्धान्त निरूपित किया है[32] परन्तु प्रकृत सिद्धान्त अद्वैतवेदान्त का सिद्धान्त होने से यहाँ मीमांसा शब्द पूर्वमीमांसा के स्थान पर वेदान्त का वाचक बना है अतः मात्र मीमांसा शब्द के प्रयोग से पूर्वोत्तरमीमांसान्यतर-विषयिणी शङ्का की निवृत्ति के लिए 'पूर्व' पद का उपादान किया गया है। विचारार्थक मीमांसा के साथ संयुक्त यह पूर्व पद भी कर्मविषयक वैदिक वाक्य विश्लेषणात्मकत्व रूपी इस शास्त्र की विलक्षणता का ही प्रकाशक है।

विमर्श-इस प्रकार वैदिक वाक्यों के अर्थनिष्पादन की प्रक्रिया के माध्यम

से दार्शनिक स्वरूप को प्राप्त करने वाले मीमांसादर्शन में जिस प्रकार फलजनिका शक्तिविशेष के रूप में तथा 'अज्ञातता' के रूप में अपूर्वता की समन्विति परिलक्षित होती है उसी प्रकार सैद्धान्तिक वैलक्षण्य के रूप में भी अपूर्वता का इस मीमांसा-दर्शन में यह स्पष्ट रूप से निदर्शन हो रहा है। अपूर्वता के इन त्रिविध आयामों के अतिरिक्त इसका विशेषण 'पूर्व' शब्द भी इस दर्शन की अपूर्वता का प्रकाशक बन गया है। सङ्क्षेप में इस दर्शन के सन्दर्भ में यही कहना समीचीन होगा कि यह अपूर्वता का प्रदर्शक दर्शन है। स्वयं पूर्व शब्द से युक्त होने पर भी दार्शनिक प्रस्थानों में अपूर्व है।

सन्दर्भ

1. आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम् तस्मादनित्यमुच्यते जैमिनि-सूत्र, 1, 2, 81
2. (1) The Student's Sanskrit English Dictionary Page 35, Nag Pub. 1987
   (2) शब्दार्थचिन्तामणि-प्रिण्टवैल, जयपुर 1992, पृ० 122
   (3) वाचस्पत्यम् प्रथम भाग, पृ० 298, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 1990
3. दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत स्वर्गकामः शतपथब्राह्मण 2, 6, 4, 17
4. फलाय विहितं कर्म.............. तन्त्रवार्त्तिक अजिता, पृ० 36, गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, प्रयाग, 1990
5. आत्मा ज्ञातव्य इत्येतन्मोक्षार्थं.............मीमांसाश्लोकवार्तिक, पृ० 816 कामेश्वरसिंह दरभङ्गा संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभङ्गा, 1979
6. द्रष्टव्य मीमांसादर्शन का सामान्य स्वरूप-म० म० डॉ० गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर, पृ० 33, 34, चौखम्बा-विद्याभवन, वाराणसी, 1992
7. शक्ति कार्यानुमेयत्वाद्..................तन्त्रवार्त्तिक, अजिता द्वि० भाग, पृ० 49, गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठम्, प्रयाग, 1980
8. चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः जैमिनि-सूत्र, 1, 1, 2
9. 'अज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधिः' अर्थसङ्ग्रह, पृ० 28, चौखम्बा-संस्कृत-सीरीज ऑफिस, वाराणसी-1, 1982, ई०
10. विधिश्चतुर्विधः-उत्पत्तिविधि-र्विनियोगविधिरधिकारविधिः प्रयोगविधिश्चेति, 'अर्थसङ्ग्रह', पृ० 32
11. अग्निहोत्रं जुहोति, तै० सं० 1. 5. 9. 1, मै० सं० 1. 8. 7

12. तत्र कर्मस्वरूपमात्रबोधको विधिरुत्पत्तिविधिः। यथा अग्निहोत्रं जुहोति इति। अर्थसङ्ग्रह, पृ० 32
13. अङ्ग-प्रधानसम्बन्धबोधको विधिर्विनियोगविधिः। वही, पृ० 35
14. 'दध्ना जुहोति' आप० श्रौ० सू० 6, 25
15. कर्मजन्यश्फलस्वाम्यबोधको विधिरधिकारविधिः। अर्थसङ्ग्रह, पृ० 86
16. प्रयोगप्राशुभावबोधको विधिः, प्रयोगविधिः, वही, पृ० 70
17. अतएवाङ्गानां क्रमबोधको विधिः प्रयोगविधिरित्यपि लक्षणम् वही, पृ० 72
18. काव्यप्रकाश पञ्चम उल्लास, पृ० 329, डॉ० मुसलगाँवकर की हिन्दी व्याख्या, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 1986
19. तस्माद् दृढं यदुत्पन्नं नाऽपि संवादमृच्छति।
ज्ञानान्तरेण विज्ञानं तत्प्रमाणं प्रतीयताम्।। श्लो० वा० 2.80, मीमांसादर्शनम्, भारतीय-विद्या-प्रकाशन, वाराणसी, पृ० 53, 1977
सर्वस्यानुपलब्धेऽर्थे प्रामाण्यं स्मृतिरन्यथा। श्लो० वा० 5. 10, पृ० 172
'कारणदोषबाधकज्ञानरहितमगृहिताग्राहि ज्ञानं प्रमाणम् शास्त्रदीपिका, पृ० 45 कृष्णदास-अकादमी, वाराणसी, 1988
20. (1) 'वेदे तु परमाप्तश्रीमहेश्वरेण कृतं सर्वमेव वाक्यं प्रमाणं, सर्वस्यैवाप्तवाक्यत्वात्' तर्कभाषा-पृ०190, चौखम्बा-सुरभारती-प्रकाशन, वाराणसी, द्विसं० 1990
(2) तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्, वैशेषिकसूत्र, 01, 01, 03
21. 'न शब्दनित्यत्वं कार्यताप्रतितेः' -साङ्ख्यसूत्रअध्याय 05 सूत्र 58
22. 'न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात् साङ्ख्यसूत्र अ० 5 सूत्र 46
23. अस्माकं तु मते वेदो न नित्य उत्पत्तिमत्त्वात्। उत्पत्तिमत्त्व अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदः (यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इ०, इति पाठान्तरम्) वेदान्तपरिभाषा पृ० 259, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1977
24. ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' श्रीशाङ्करग्रन्थावली (ब्रह्मज्ञानावलीमाला के अन्तर्गत) पृ० 198 वी० सदानन्द-समता-बुक्स, 10 कामराज-भवन, मद्रास, 1981
25. औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः...........जैमिनिसूत्र, 1.1.05, इस सूत्र द्वारा शब्दात्मक वेद, वेदार्थ कर्म तथा इनका प्रत्यायकत्व सम्बन्ध, इन तीनों को औत्पत्तिक (नित्य) माना गया है।
26. प्रकरण-पञ्चिका, पृ० 301 एवं 309, 306-307, 308, विमलाञ्जन, काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1961, श्लोकवार्तिक सम्बन्धाक्षेप परिहार-मीमांसाश्लोकवार्तिक पृ० 800 से 809
27. विशुद्धज्ञानदेहाय त्रिवेदीदिव्यचक्षुषे। श्रेयः प्राप्तिनिमित्ताय नमः सोमार्धधारिणे।। श्लो० वा० मङ्गलाचरण, (कीलक मन्त्र सप्तशती)

28. एवञ्चेश्वरे परोक्तमेवानुमानं निराकृतम् नयविवेक, पृ० 199 यूनिवर्सिटी आफ मद्रास, 1937 प्रभाकरविजय, पृ० 82-83, संस्कृत साहित्य परिषद् कलकत्ता, 1926
29. 'अग्नये स्वाहा' तैत्तिरीय-ब्राह्मण 3. 1. 4.1
30. मीमांसा-दर्शन-शबरभाष्य 10/4, सू० 23/24, पृ० 1925-1929, आनन्दाश्रम, पूना संस्करण।
31. द्रष्टव्य-'मीमांसादर्शन का विवेचनात्मक इतिहास', पृ० 36, चौखम्बा-विद्याभवन, वाराणसी, 1992
32. काव्यप्रकाश: डॉ० गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर (1-6 उल्लास), पृ० 103, कृष्णदास, अकादमी, वाराणसी, 1986

16

न्याय, व्याकरण तथा मीमांसा का अर्थसिद्धान्त

भारतीय-चिन्तन में शब्द, अर्थ तथा उनके परस्पर सम्बन्ध पर पर्याप्त विचार किया गया है। आस्तिक दर्शनों में न्याय, साङ्ख्ययोग तथा पूर्वोत्तरमीमांसा, इन दार्शनिक सम्प्रदायों में यद्यपि शब्द को समान रूप से एक प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है, तथापि शब्द के स्वरूप, शब्दार्थ तथा शब्द एवं अर्थ के सम्बन्ध के साथ ही वाक्यार्थ-निष्पत्ति के सन्दर्भ में भी विद्यमान इन दार्शनिक सम्प्रदायों के परस्पर मतभेद ने इस विषय को अत्यन्त गम्भीरता प्रदान की है।

शब्द का अखण्डवाक्यार्थ स्वरूपः- व्याकरण-दर्शन में वर्णस्फोटों तथा पदस्फोटों के माध्यम से अभिव्यक्त होने वाले अखण्ड वाक्यस्फोट को ही शब्द माना गया है। वर्णस्फोट तथा पदस्फोट इस अखण्ड वाक्यस्फोट तक पहुँचने के साधन मात्र होने से इनका केवल व्यावहारिक अस्तित्व ही स्वीकार किया गया है। आचार्य भर्तृहरि इस विषय में कहते हैं कि जैसे बच्चों को पढ़ाने के लिये लाड़-प्यार किया जाता है परन्तु वह लाड़-प्यार सीखने वाले उन बच्चों की शिक्षा का एक साधन मात्र होता है वैसे ही वर्णस्फोट तथा पदस्फोट यद्यपि अनित्य हैं तथापि इनके माध्यम से चरमलक्ष्य अखण्डवाक्यार्थ की निष्पत्ति हो जाती है।[1]

शब्द का अनित्यत्व तथा गुणत्वः-न्यायदर्शन में शब्द को तीन क्षणों तक रहने वाला[2] आकाश का गुण माना गया है।[3] इस शब्द की उत्पत्ति नगाड़े आदि पर दण्ड आदि के मारने से यद्यपि नगाड़े आदि की जगह पर होती है तथापि यह नगाड़े आदि की जगह उत्पन्न शब्द दूसरे शब्द को उत्पन्न करता है। वह तीसरे को। इस प्रकार श्रोत्र (कान) में शब्द की उत्पत्ति तक यह प्रक्रिया चलती रहती है। इस वीचितरङ्गन्याय या कदम्बमुकुलन्याय से श्रोत्ररूपी खाली जगह

आकाश में इस शब्द की उत्पत्ति मानी गई है। चूँकि शब्द की उत्पत्ति होती है अतः उसे अनित्य माना गया है। आचार्य केशवमिश्र ने निम्नलिखित अनुमान-प्रमाण द्वारा शब्द के अनित्यत्व को प्रदर्शित किया है[5]–

1. शब्द अनित्य है। (प्रतिज्ञा)
2. क्योंकि वह सामान्य से युक्त होकर हम लोगों की बाह्येन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य है। (हेतु)
3. जैसे घट, पट आदि वस्तुएँ। (उदाहरण)

इस अनुमान में शब्दरूपी पक्ष में 'सामान्यवत्वे सति **अस्मदादिबाह्येन्द्रिय-ग्राह्यत्वत्वात्**' इस हेतु से अनित्यत्व की सिद्धि की गई है। सामान्यत्वे सति का अर्थ है जाति का आश्रय होते हुए। अस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्व का अर्थ है- हम लोगों के बाह्येन्द्रिय से प्रत्यक्षयोग्य होना। अभिप्राय यह है कि सामान्य का आश्रय होते हुए जो वस्तु हम जैसे सर्वसाधारण व्यक्ति के बाह्येन्द्रिय से प्रत्यक्ष योग्य है वह अनित्य है। जैसे घट, यह घटत्वरूप सामान्य का आश्रय होते हुए हम लोगों के बाह्येन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्षयोग्य होने के कारण अनित्य है।

4. उसी प्रकार शब्दत्वरूपी सामान्य का आश्रय होते हुए हम लोगों के बाह्य श्रवणेन्द्रिय से प्रत्यक्ष योग्य है। (उपनय)
5. अतः शब्द भी (घट आदि के समान) अनित्य है। (निगमन)

शब्द नित्यत्व तथा गुणत्व :–मीमांसाशास्त्र में गुरु प्रभाकर के मत में शब्द को नित्य[6] तथा आकाश का गुण माना गया है।[7] गुरु प्रभाकर शब्द को वर्णात्मक[8] तथा उच्चारणादि ध्वनि के माध्यम से अभिव्यक्त मानते हैं। प्रभाकर का कहना है कि कण्ठ, तालु, आदि से विजातीय वायु के संयोग से शब्द की उत्पत्ति नहीं होती, अपितु शब्द के अभिव्यञ्जक वायु की ही उत्पत्ति होती है। यदि शब्द को अनित्य माना जाय तो **'सोऽयं गकारः'** यह वही गकार है, ऐसी प्रत्यभिज्ञा (पहिचान) भी असङ्गत हो जायेगी अतः शब्द उत्पत्ति तथा विनाशरहित नित्य है। आचार्य प्रभाकर शब्द को नित्य आकाशरूप द्रव्य का गुण होने पर भी नित्य गुण मानते हैं। इनकी दृष्टि में शब्द को गुण मानने से न्यायमत के साथ जहाँ इनके मत की समानता परिलक्षित होती है, वहीं नैयायिकों द्वारा अभिमत शब्द की अनित्यता के स्थान पर शब्द को नित्य मानने से इस पक्ष में प्रभाकर-मत का न्यायदर्शन के अभिमत से वैषम्य भी स्पष्ट हो जाता है।

शब्द का नित्यत्व तथा द्रव्यत्व :- भाट्टमत में शब्द को वर्णरूप तथा नित्य माना गया है। उच्चारण के पश्चात् सुने जाने वाले 'क' वर्ण या 'ग' कारादि वर्णों के प्रति 'ये वही वर्ण हैं', इस प्रकार की जो प्रत्यभिज्ञा (पहिचान) होती है, उससे यह सिद्ध हो जाता है कि उच्चारण के पहिले भी वे वर्णरूप शब्द विद्यमान हैं।[9] उच्चरणात्मक ध्वनि से जिस प्रकार पहले से विद्यमान घटादि वस्तुओं को अन्धकार में आँख की सहायता करते हुए दीपक अभिव्यक्त कर देता है उसी प्रकार श्रोत्र कान का संस्कार करती हुई शब्द ग्रहण में उसकी सहायता करती हुई ध्वनि पूर्व से विद्यमान शब्दों की अभिव्यञ्जक मात्र है, उत्पादक नहीं, अतः शब्द नित्य है।[10]

शब्द करो, शब्द मत करो इत्यादि व्यवहार के आधार पर तथा अधिक लोगों द्वारा उच्चरित होने पर शब्द के बढ़ने तथा उच्चारणकर्ताओं की सङ्ख्या कम होने पर शब्द के घटने के तर्कों द्वारा न्यायदर्शन में शब्द को जो अनित्य माना गया है, वह सिद्धान्त भाट्टमत में अभिमत नहीं है। कुमारिलभट्ट के अनुसार उच्चारण के पूर्व शब्द रहते हुए भी अव्यक्त रहता है। ध्वनि के माध्यम से वह अभिव्यक्त होता है। ध्वनि अनित्य होने से उसकी समाप्ति पर वह फिर से अव्यक्त हो जाता है।

भाट्ट मतावलम्बी मीमांसक जिस प्रकार शब्द को अनित्य मानने के न्यायमत से सहमत नहीं हैं, उसी प्रकार नैयायिक तथा प्रभाकर के अनुरूप शब्द का गुणत्व भी इन्हें स्वीकार नहीं है। इस सन्दर्भ में इनका यह प्रतिपादन है कि चूँकि शब्द नित्य है, अतः उसे आकाश के समान विभु, (परम महत्परिमाण से युक्त) द्रव्य मानना ही समीचीन है।[11]

शब्द का अनित्यत्व तथा अपौरुषेयत्व:- साङ्ख्य दार्शनिकों की दृष्टि में प्रकृति तथा पुरुष ये दो ही तत्व नित्य हैं। प्रकृति से बुद्धि, बुद्धि से अहङ्कार तथा अहङ्कार से उत्पन्न पञ्चतन्मात्राओं में अन्यतम शब्द को ये अनित्य[12] मानते हैं। इनकी दृष्टि में शब्द अनित्य होने पर भी किसी पुरुष द्वारा निर्मित नहीं है, अतः अपौरुषेय[13] है।

शब्दार्थ स्वरूप :– शब्द के समान शब्दार्थ के स्वरूप के सन्दर्भ में भी दार्शनिक प्रस्थान एकमत नहीं हैं। वैयाकरण व्यक्ति, नैयायिक जाति से विशिष्ट व्यक्ति तथा भाट्टमीमांसक मात्र जाति को ही शब्दार्थ के रूप में प्रतिपादित करते हैं।

व्यक्ति शक्तिवाद :– व्याकरण-दर्शन के अनुसार **'द्रव्यं हि नित्यम्'**[14] इस पतञ्जलि की परिभाषा के अनुसार द्रव्यात्मक व्यक्ति नित्य है। आचार्य कैयट इसे असत्य उपाधियों से परिव्याप्त (अवच्छिन्न) ब्रह्मतत्त्व प्रतिपादित करते हैं।[15] इनके मत में इस परावाणी के रूप में प्रतिष्ठित इस ब्रह्म की सत्ता ही सभी शब्दों का अर्थ है, अतः व्याकरण-दर्शन में शब्द के समान अर्थ भी नित्य है।

जाति-विशिष्ट व्यक्ति शक्तिवाद :– शब्दार्थ के रूप में वैयाकरण जहाँ व्यक्ति को शब्दार्थ मानते हैं, वहाँ नैयायिक जाति से विशिष्ट व्यक्ति को शब्दार्थ मानते हैं। उनका कहना है कि शब्द की जिसमें शक्ति होती है वही शब्दार्थ होता है। शब्द की शक्ति यदि केवल व्यक्ति या जाति में मानकर इनमें से किसी एक को शब्दार्थ माना जाएगा, तो ऐसी स्थिति में जाति शक्तिवाद में व्यक्ति का तथा व्यक्ति शक्तिवाद में जाति अभाव होने से शब्दबोध में ये दोनों विषय नहीं बन पायेंगे फलतः **'अयं घटः'** (यह घट है) इस वाक्य का घटत्व प्रकारक घट (घटत्व है विशेषण जिसमें ऐसा घट) यह शाब्दबोध, जिसमें व्यक्ति=घट तथा जाति=घटत्व, दोनों अवभासित हो रहे हैं, सर्वथा असङ्गत हो जायेगा, अतः जाति से विशिष्ट व्यक्ति को ही शब्दार्थ मानना युक्तियुक्त है।[16]

कार्यान्वित वाक्यार्थरूप शब्दार्थवाद :– मीमांसकों में कुमारिलभट्ट के समान गुरु प्रभाकर भी शब्द को वर्णात्मक तथा नित्य मानते हैं। शब्द को द्रव्य मानने के भाट्टमत के विपरीत जिस प्रकार ये शब्द को आकाश का गुण मानते हैं, उसी प्रकार शब्दार्थ के सम्बन्ध में भी इनका कुमारिलभट्ट से मतभेद है। इनकी दृष्टि में शब्दार्थ व्यक्ति या जाति नहीं है अपितु वैदिक स्थल में अपूर्व सञ्ज्ञक कार्य में समन्वित वाक्यार्थ ही शब्दार्थ है। लौकिक वाक्यों में अपूर्व न होने के कारण क्रिया से समन्वित वाक्यार्थ को इन्होंने शब्दार्थ माना है।[17]

जाति शक्तिवाद :– कुमारिलभट्ट तथा उनके अनुयायी मीमांसकों के अनुसार शब्दार्थ अनुभव की वे वस्तुएँ नहीं होती हैं जो उत्पन्न तथा नष्ट हो जाती हैं, अपितु शब्दार्थ वे (आकृतिरूप) सामान्य हैं जो नित्य हैं। नश्वर व्यक्ति इस सामान्य के सूचक मात्र होते हैं। जब वाक्य में सामान्य वाचक पदों का अन्य पदों के साथ समन्वय होता है तब ऐसी स्थिति में शब्दार्थ आकृति या सामान्य रूप जाति का आनयन आदि के साथ समन्वय न हो पाने से व्यक्ति आक्षेप द्वारा उपस्थित हो जाता है। **'अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः,'**[18] (शब्दार्थ वही होता है जो

कि अन्य उपाय से प्राप्त न हो) इस नियम के आधार पर व्यक्ति शब्दार्थ नहीं बन पाता अतः 'गौ' आदि पदों का अर्थ गोत्वादि जाति को ही माना गया है।

शब्दार्थ जाति न मानकर व्यक्ति मानने पर अनेक व्यक्तियों में एक अर्थाबोधक शक्ति या फिर अनेक व्यक्तियों में परस्पर भिन्न अनेक शक्तियों को स्वीकार करना होगा। इन दोनों स्थितियों में से किसी भी स्थिति को स्वीकार नहीं किया जा सकता। प्रथम स्थिति में व्यक्ति अनन्त होने के कारण यदि एक में शक्ति मानी जायेगी तो दूसरे का बोध नहीं हो सकेगा। यदि द्वितीय स्थिति में अनेक व्यक्तियों में से प्रत्येक में शक्ति मानकर अनेक शक्तियाँ मानते हैं तो इस स्थिति में अनन्त शक्तिकल्पना-रूप गौरव दोष हो जाता है।[19] इसके अतिरिक्त जिसको जाति कहा जाता है, ऐसी आकृति[20] से भिन्न व्यक्ति को शब्दार्थ मानने पर इस व्यक्तिरूप अर्थ की तथा शब्दार्थ सम्बन्ध की नित्यता भी सम्भव नहीं है अतः इस दृष्टि से भी जाति को शब्दार्थ मानना ही सर्वथा समीचीन है।[21] जहाँ पदार्थ एक रूप है जैसे आकाश तथा काल, वहाँ व्यक्तिनिष्ठ उपाधि को ही शब्दार्थ मान लिया जाता है।[22]

शब्दार्थ-सम्बन्ध-विचारः– शब्द के स्वरूप तथा अर्थ के विषय में जिस प्रकार दार्शनिक प्रस्थानों में मतभेद है, उसी प्रकार शब्द तथा अर्थ के सम्बन्ध के विषय में इनके दृष्टिकोण परस्पर भिन्न हैं।

न्याय-वैशेषिक दर्शन में वर्णात्मक अनित्य शब्द जिस अर्थ का अभिधान करते हैं, वह अर्थ तथा शब्द एवं अर्थ के मध्य विद्यमान सञ्ज्ञासञ्ज्ञिरूप सम्बन्ध भी अनित्य है। प्राचीन नैयायिक इस सम्बन्ध को 'इस शब्द से इस अर्थ का बोध हो' ऐसी ईश्वरेच्छा के रूप में प्रतिपादित करते हैं।[23] नव्य नैयायिक इसे ईश्वरेच्छा न मानकर मात्र इच्छारूप गुण पदार्थ स्वीकार करते हैं।[24]

व्याकरणशास्त्र में आचार्य कात्यायन ने शब्द, अर्थ तथा इन दोनों के सम्बन्ध, इन तीनों को सिद्ध माना है।[25] इनके वार्तिक पर भाष्य करते हुए आचार्य पतञ्जलि ने सिद्ध शब्द को नित्य का पर्यायवाची निरूपित कर शब्द, अर्थ तथा दोनों के समान इनके सम्बन्ध को भी नित्य प्रतिपादित किया है।[26] व्याकरण-शास्त्र में नित्य शब्द तथा अर्थ में तादात्म्य सम्बन्ध माना गया है।[27]

मीमांसा के भाट्टसम्प्रदाय में शब्द तथा अर्थ के बीच विद्यमान बोध्य-बोधक भाव या शक्तिरूप सम्बन्ध को स्वाभाविक तथा नित्य माना गया है। द्रव्यात्मक

शब्द तथा शब्दार्थ=आकृतिरूप सामान्य या जाति, दोनों नित्य होने से शब्दार्थ सम्बन्ध की भी नित्यता स्वतः सिद्ध हो जाती है। यद्यपि शब्द तथा अर्थ के बीच संयोग या तादात्म्यादि सम्बन्ध नहीं बन पाता तथापि प्रत्याकत्व सम्बन्ध विद्यमान रहता है। यह सम्बन्ध किसी पुरुष द्वारा कल्पित न होने के कारण अनादि तथा नित्य है।[28]

शाब्दबोध-प्रक्रिया :- वर्णों से निर्मित पद, आकाङ्क्षा, योग्यता तथा सन्निधि, इन तीनों से युक्त होकर ही पद समूहरूप वाक्य के अर्थ की निष्पत्ति करा पाते हैं, अतः प्रायः सभी प्रस्थानों में वाक्य की निष्पत्ति में इन तीनों की कारणता स्वीकार की गई है, फलतः आकाङ्क्षा, योग्यता तथा सन्निधि से युक्त पदों के समुदाय को वाक्य कहा गया है।[29]

आकाङ्क्षा :- नैयायिकों ने आकाङ्क्षा को पदों का धर्म माना है। **'घटम् आनय'** (घड़ा ले आओ) इस वाक्य में **'घटम्'** इस प्रथम पद को द्वितीय आनय पद की आकाङ्क्षा है। यद्यपि आकाङ्क्षा आत्मा का धर्म है तथापि वाक्य के श्रोता के मन में पद अपने विषय में आकाङ्क्षा उत्पन्न कर देता है, अतः उसे भी औपचारिक रूप से साकाङ्क्ष माना जाता है।[30]

मीमांसक गागाभट्ट आकाङ्क्षा को पदनिष्ठ न मानकर अर्थनिष्ठ मानते हैं। **'गङ्गायां घोषः'** इस वाक्य में **'घोष'** पद में **'गङ्गायाम्'** इस सप्तमी पदवाच्य अधिकरणत्व संसर्ग से गङ्गा पद से अन्वित होने की योग्यता नहीं है अतः इसे गङ्गा पद की तथा गङ्गा पद को भी घोष पद की आकाङ्क्षा अनुपपन्न हो जाती है। आकाङ्क्षा को अर्थनिष्ठ मानने पर यह आकाङ्क्षा की अनुपपत्ति नहीं होती क्योंकि गङ्गा पद के लक्ष्यार्थ तीर के साथ अन्वित होने की योग्यता घोष पदार्थ (अहीरों की बस्ती) में विद्यमान होने से घोष पदार्थ तथा गङ्गा पदार्थ (लक्ष्यार्थ तीर) दोनों में परस्पर आकाङ्क्षा की सङ्गति हो जाती है।[31]

योग्यता :- वाक्य की निष्पत्ति में आकाङ्क्षा के ही समान वाक्य में स्थित पदों में परस्पर समन्वित होने की योग्यता भी नितान्त आवश्यक है। **'पयसा सिञ्चति'** (जल से सींचता है) इस वाक्य में से क-क्रिया के करण होने की योग्यता जल में होने से यह वाक्य बन जाता है। इसके विपरीत **'वह्निना सिञ्चति'** (अग्नि से सींचता है) इस स्थल में से क-क्रिया का करण बनने की योग्यता नहीं है, अतः इसे वाक्य नहीं माना जाता।[22]

आसत्ति या सन्निधि :– वाक्य में विद्यमान पदों में परस्पर आकाङ्क्षा तथा योग्यता होने पर भी उसमें प्रत्येक का उच्चारण विलम्ब से करने पर सभी पदों का सान्निध्य न बन पाने के कारण वाक्य निष्पन्न नहीं होता। जब **'गाम् आनय'** (गाय ले आओ) आदि वाक्यों में गाम् तथा आनय आदि पदों का एक साथ उच्चारण किया जाता है तभी एक सार्थक वाक्य बन पाता है।

आसत्ति या सन्निधि में विलम्ब के साथ अन्य पदों के व्यवधान के कारण भी वाक्यार्थ निष्पत्ति बाधित हो जाया करती है। यथा-**'देवदत्तेन गिरिर्भुक्तमग्निमान्'** (देवदत्त के द्वारा पर्वत खाया गया आग से युक्त है) यहाँ पर सभी पद आकाङ्क्षा तथा योग्यता से सम्पन्न होने पर भी अन्य पदों के व्यवधान के कारण वाक्यार्थ की निष्पत्ति नहीं हो पाती। जब देवदत्त भुक्तम् इस वाक्य में बीच में पड़े हुए गिरि पद को निकाल कर अग्निमान् पद के साथ जोड़ देते हैं तब **देवदत्तेन भुक्तम्** (देवदत्त ने खाया) इस वाक्यार्थ के साथ **गिरिरग्निमान्** (पर्वत आग से युक्त है) इस वाक्य के अर्थ की भी सङ्गति हो जाती है।[33]

वाक्यार्थ विचार :– उक्त आकाङ्क्षादि सहकारिकारणों से निष्पन्न वाक्य से अर्थ निष्पत्ति के सन्दर्भ में भी दार्शनिकों में मतभेद है।

वैयाकरण अखण्ड वाक्य में ही वाक्यार्थबोधन की शक्ति मानते हैं।[34]

गुरु प्रभाकर वाक्यार्थज्ञान के साथ पदों के अभिहित अर्थ का ज्ञान स्वीकार करते हैं। इनके इन सिद्धान्तों को 'अन्विताभिधानवाद' कहा जाता है। इनके मतानुसार घटम् आनय आदि स्थलों में घट पद तथा आनयन क्रिया का पृथक् ज्ञान नहीं होता अपितु आनयन क्रिया से अन्वित घट का ही ज्ञान हुआ करता है। इस प्रकार इनके मत में वाक्य में कार्य या क्रिया से अन्वित रूप से ही वाक्यार्थ-बोधिका शक्ति मानी गई है।[35]

वेदान्ती इतर से अन्वित वाक्यार्थ में वाक्य की शक्ति का प्रतिपादन करते हैं। इनके इस सिद्धान्त को 'इतरान्विताभिधानवाद' कहा जाता है।[36]

नैयायिकों के मतानुसार पदार्थों के परस्पर सम्बन्धरूप वाक्यार्थ की निष्पत्ति पदों के परस्पर साहचर्यरूप संसर्ग (समीपता) की मर्यादा से ही हो जाती है।[37]

कुमारिलभट्ट के मतानुसार वाक्यार्थ-बोध में सर्वप्रथम पदों के अभिहित (मुख्य) अर्थ का बोध होता है। इसके अनन्तर उन पदार्थों के परस्पर संसर्गरूप वाक्यार्थ का लक्षणा से ज्ञान होता है। सर्वप्रथम पदों के अभिहित अर्थ का ज्ञान

एवं तदन्तर वाक्यार्थ का ज्ञान होने से कुमारिलभट्ट के इस सिद्धान्त को 'अभिहितान्वयवाद' कहा जाता है।[38]

विमर्श : – उक्त सन्दर्भों पर विचार करने के उपरान्त हम शब्दार्थ के सन्दर्भ में पाँच मतों को स्थापित कर सकते हैं। प्रथम मत वैयाकरणों का है जो शब्द को वर्णस्फोट तथा पदस्फोटें के माध्यम से अभिव्यक्त एक अखण्ड वाक्यस्फोट के रूप में प्रतिस्थापित करते हैं। द्वितीय मत न्यायशास्त्र का है जिसमें शब्द को आकाश का गुण, वर्णात्मक तथा अनित्य माना गया है। तृतीय मत मीमांसक प्रभाकर का है जो शब्द को वर्णात्मक तथा नित्य गुण मानते हैं। चतुर्थ मत कुमारिलभट्ट का है जिन्होंने शब्द को वर्णात्मक द्रव्य तथा नित्य प्रतिपादित किया है। पञ्चम मत साङ्ख्य का है। साङ्ख्यशास्त्र में जहाँ न्यायशास्त्र के अनुरूप वर्णात्मक शब्द (वेद) को भी अनित्य माना गया है, वहीं मीमांसकों के अनुरूप वेदात्मक शब्द की अपौरुषयता भी मान ली गई है।

शब्द-स्वरूप के विषय में विद्यमान भिन्नता के अनुरूप शब्दार्थ के विषय में भी इन सम्प्रदायों के दृष्टिकोण परस्पर भिन्न रूप में आलोकित हुए हैं। व्याकरणशास्त्र में जहाँ परावाणीरूप नित्य द्रव्य रूप व्यक्ति को शब्दार्थ माना गया हैं। वहीं नैयायिकों ने अनित्य द्रव्य-जातिविशिष्ट व्यक्ति को शब्दार्थ माना है। वहाँ भाट्टमीमांसकों ने जाति को ही शब्दार्थ माना है।

शब्द तथा शब्दार्थ के सम्बन्ध को नैयायिकों ने अनित्य इच्छारूप, वैयाकरणों तथा मीमांसकों ने स्वाभाविक तादात्म्य तथा प्रत्यायकत्व रूप मानकर इसे भी सम्बन्धी शब्द तथा अर्थ के अनुरूप नित्य माना है। साङ्ख्यशास्त्र में इसे अपौरुषेय तथा स्वाभाविक तो माना गया है परन्तु नित्य नहीं माना गया है।

आकाङ्क्षादि के बल पर निष्पन्न होने वाले पदसमूह रूप वाक्य के सम्बन्ध में यद्यपि सभी के दृष्टिकोण प्रायः समान हैं। परन्तु वाक्यार्थ के सम्बन्ध में पुनः इनके सिद्धान्त भिन्न हो जाते हैं। वाक्यार्थ के सम्बन्ध में विवेचित सिद्धान्तों में यद्यपि वैयाकरण, प्रभाकर तथा वेदान्ती ये तीनों ही वाक्य में वाक्यार्थबोध की शक्ति स्वीकार करते हैं परन्तु जहाँ वैयाकरणों के मत में वाक्यार्थ विशेष्य रूप हैं, वहाँ इतर दोनों के मत में यह विशेषण रूप हो जाता है। यही वैयाकरण, प्रभाकर तथा वेदान्तियों के सिद्धान्त का भेद है। इस वाक्य से होने वाली अर्थनिष्पत्ति के सन्दर्भ में नैयायिक तथा भाट्टमीमांसकों का पुनः मतभेद हो गया है। नैयायिक जहाँ बिना लक्षणा के पदों के पारस्परिक संसर्ग से वाक्यार्थ की निष्पत्ति मानते हैं।

वहाँ कुमारिलभट्ट ने वाक्यार्थ की निष्पत्ति लक्षणावृत्ति के माध्यम से प्रतिपादित की है।

सन्दर्भ

1. 'उपाया: शिक्षमाणानां बालानामुपलालना:
   असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते।।' वाक्यपदीय 2-240
2. 'कर्म बुद्धिवत् त्रिक्षणावस्थायित्वम्'। तर्कभाषा पृ० 432
   चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी 1990
3. 'आकाशस्य तु विज्ञेयः शब्दो वैशेषिको गुणः।'
   न्यायसिद्धान्तमुक्तावली पृ० 147, चौखम्बा संस्कृत संस्थान वाराणसी 1983
4. 'भेरीदेशे जातः शब्दो वीचीतरङ्गन्यायेन कदम्बमुकुलन्यायेन वा सन्निहित शब्दान्तरमारभते। स च शब्दः शब्दान्तरमितिक्रमेण श्रोत्रदेशे जातोऽन्त्यः शब्दः श्रोत्रेण गृह्यते।' तर्कभाषा पृ० 432, पङ्क्ति 6 चौ० सुरभारती प्र० वाराणसी 1990
5. 'तथाहि अनित्यः शब्दः सामान्यवत्वे सत्यस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वाद् घटवदिति।' तर्कभाषा पृ० 432 पं० 22
6. 'अतः कारणरहिततत्त्वे सति सत्त्वान्नित्यश्शब्दो गगनादिवत्। प्रकरण-पञ्चिका पृ० 363 काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी 1961
7. 'एवञ्च शब्दगुणत्वाच्छ्रोत्रस्य यच्छब्दगुणकं द्रव्यमाकाशपदावेदनीयम् तदेव श्रोत्रमिति सिद्धम्। वही पृ० 325
8. 'कश्शब्दोऽभिमतः? वर्णा तेषामेव श्रोत्राग्राहत्वात्'। वही पृ० 230
9. 'शब्दोऽपि प्रत्यभिज्ञानात् प्रागस्तीत्यवगम्यते। 'श्लोकवार्तिकम् पृ० 522 तारा पब्लिकेशन्स वाराणसी 1978
10. 'यथा घटादेर्दीपादिरभिव्यञ्जक इष्यते।
    चक्षुषोऽनुग्रहादेव ध्वनिः स्याच्छ्रोत्र संस्कृतेः।। वही पृ० 524
11. 'तत्र सर्वात्मक सः। वही पृ० 547
12. 'न शब्दनित्यत्वं कार्यताप्रतीतेः।' साङ्ख्यसूत्र अध्याय 05 सूत्र 58
13. 'न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात्।' साङ्ख्यसूत्र अ० 05 सूत्र 46
14. व्याकरणमहाभाष्य पृ० 40 पङ्क्ति 11 चौ० विद्याभवन वाराणसी 1984
15. 'असत्योपाध्यवच्छिन्नं ब्रह्मतत्त्वं द्रव्यशब्दवाच्यमित्यर्थः।' कैयटकृतप्रदीप व्याख्या- वही, 1
16. 'तस्मात्तत्तज्जात्याकृतिविशिष्टतत्तद्वयक्तिबोधानुपपत्त्या कल्प्यमानाशक्तिर्जात्या-कृतिविशिष्टव्यक्तौ विश्राम्यतीति। न्यायसिद्धान्तमुक्तावली पृ० 314 चौ० सं० संस्थान वाराणसी 1983.

17. 'प्राभाकरास्तु कार्यान्विते पदानां शक्तिः।' भाट्टचिन्तामणि पृ० 187 पृ० 21, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी 1933
18. 'अत्राहुः स एव हि शब्दस्यार्थो यः प्रकारान्तरेण न लभ्यते, अनन्यलभ्य शब्दार्थ इति न्यायात्।' मीमांसान्यायप्रकाश, श्रीलालबहादुरशास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, दिल्ली 1983
19. 'व्यक्तिसङ्केतपक्षे सर्वेषु व्यक्तिषु सङ्केत एको नाना वा? नाद्यः आनन्त्यात्। नान्त्यो व्यभिचारापत्तेः।' भाट्टचिन्तामणि पृ० 90 पं० 07 से 08 चौ० सं० सी० आ० वाराणसी 1933
20. 'जातिमेवाकृतिं प्राहुर्व्यक्तिराक्रियते यया।' श्लोकवार्तिक पृ० 385 तारा पब्लिकेशन्स वाराणसी 1978
21. 'आकृतिव्यतिरिक्तेऽर्थे सम्बन्धौं नित्यतास्य च।
न सिध्येतामिति ज्ञात्वा तद्वाच्यत्वमिहोच्यते।।' वही पृ० 385
22. 'आकाशादिपदे अनन्तशक्तिकल्पनाभावेन न धर्मे शक्तिः।' भाट्टचिन्तामणि पृ० 90 पं० 14
23. 'साचास्मात्पदादयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरेच्छारूपा।' न्या सि० मु० पृ० 293 पं० 03 चौ० सं० संस्थान, वाराणसी 1983
24. 'नव्यास्तु ईश्वरेच्छा न शक्तिः किन्तु इच्छैव।' वही पृ० 295
25. 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' व्याकरणमहाभाष्य पृ० 34 चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी 1988
26. 'नित्यपर्यायवाची सिद्ध शब्दः।' वही पृ० 35
27. 'तद्ग्राहकं चेतरेतराध्यासमूलकं तादात्म्यं तदेव सम्बन्धः।'
वैयाकरण सिद्धान्त परमलघुमञ्जूषा पृ० 27-28 करुक्षेत्र विश्वविद्यालय प्रकाशन, कुरुक्षेत्र 1975
28. 'एतेन शब्दार्थसम्बन्धनित्यत्वमपि व्याख्यातं भवति।
यद्यपि शब्दार्थयोर्न संयोगः तादात्म्यादिकं वा सम्बन्धः तथापि प्रत्यायकत्वाख्यस्तु संबंधः सम्भवत्येव।' श्लोकवार्तिक प्रास्ताविक पृ० 21, तारा पब्लिकेशन्स वाराणसी 1978
29. 'वाक्यं त्वाकाङ्क्षायोग्यतासन्निधिमतां पदानां समूहः।'
तर्कभाषा पृ० 185 चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी 1990
30. 'यद्वा पदान्येवार्थान् प्रतिपाद्यार्थान्तरविषयकाङ्क्षाजनकानीत्युपचारात् साकाङ्क्षाणि।'
तर्कभाषा पृ० 186. चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी 1990
31. 'सा चार्थनिष्ठा तेन लाक्षतणिकेऽध्याहारस्थले च नानुपपत्ति रित्याहुः।' भाट्टचिन्तामणि पृ० 50 पं० 15 चौखम्बा संस्कृत सी० आ० वाराणसी 1933

32. 'तेन कार्यकारणभावलक्षणसम्बन्धेऽग्निसेकयोरयोग्यत्वादग्निना सिञ्चेदिति न वाक्यम्।' तर्कभाषा पृ० 186 चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी 1990
33. 'आसत्तिस्तु अव्यवधानेनान्वय प्रतियोग्युपस्थितिः।' भाट्टचिन्तामणि पृ० 52
34. 'वाक्यार्थे वाक्यस्य शक्तिरिति वैयाकरणाः।' भाट्टचिन्तामणि पृ० 60 पं० 32
35. 'प्राभाकरास्तु कार्यान्विते पदानां शक्तिः।' वही पृ० 62 पं० 21
36. 'इतरान्विताभिधानाङ्गीकारेणान्वयरूपे वाक्यार्थे शक्तिरिति वेदान्तिनः। 'वही पृ० 60 पृं० 62 पं० 3
37. 'शाब्दबोध चैकपदार्थे अपरपदार्थस्य संसर्गः संसर्गमयदिया भासते।' व्युत्पत्तिवाद पृ० 03 भारतीय विद्या प्रकाशन वाराणसी 1973
38. 'तस्मात्पदाभिहितैः पदार्थैर्लक्षणाया वाक्यार्थः प्रतिपाद्यते।' शास्त्रदीपिका पृ० 15 पं० 14 कृष्णदास अकादमी वाराणसी, 1988

17

भाट्ट-मीमांसाभिमत वाक्यार्थ एवं शाब्दबोध प्रक्रिया

मीमांसाशास्त्र की भाट्ट तथा गुरु प्रभाकर-परम्परा की समग्र विचारधारा, वैदिक वाक्यों के विश्लेषण से कर्मरूपी धर्म के स्वरूप तथा प्रक्रिया के प्रतिपादन में समग्र रूप से समर्पित हुई है। मीमांसाशास्त्र का चरम लक्ष्य धर्म का प्रतिपादन करना है।[1] इस धर्मरूपी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए यह शास्त्र अपनी युक्तियों तथा तर्कों के माध्यम से वैदिक वाक्यों की अर्थनिष्पत्ति की दिशा में सतत संलग्न होने से वाक्यशास्त्र तथा कर्मानुष्ठान में किसी न किसी रूप में समग्र वाक्यार्थों के समन्वय का प्रतिपादक होने के कारण कर्मकाण्डशास्त्र की अभिधा का भी अधिकारी बन जाता है।

वैदिक वाक्यों से निष्पन्न कर्मात्मक धर्म तथा उसके प्रतिपादक वेद की सत्ता सर्वोच्च रूप में स्थापित करने के लिए इस शास्त्र ने युक्तियों तथा तर्कों का अवलम्बन करते हुए दार्शनिकता की श्रेणी में भी एक विशिष्ट स्थान अर्जित किया है।

वैदिक वाक्यों द्वारा प्रतिपादित कर्मानुष्ठान में प्रवृत्ति की तब तक सङ्गति नहीं हो पाती, जब तक कि कर्म का फल के साथ समन्वय स्थापित नहीं हो जाता। इसी प्रकार यागरूपी कर्म अनित्य होने से अदृष्ट के माध्यम से प्राप्त होने वाले इसके फल की सङ्गति भी तब तक उपपन्न नहीं हो पाती, जब तक इन कर्मों के फलों के उपभोक्ता के रूप में शरीरेन्द्रियादिकों से भिन्न नित्य चैतन्यविशिष्ट आत्मतत्त्व का अस्तित्व स्वीकार नहीं कर लिया जाता। अत: आत्मतत्त्व का भी मीमांसा ने वेदवाक्यार्थ की सङ्गति के लिए ही स्वीकार किया है।[2] इस शास्त्र का सम्पूर्ण दर्शन वेदवाक्यों के आर्थिक विश्लेषण को केन्द्र में रखकर चतुर्दिक् परिव्याप्त होने से मुख्य रूप से मीमांसाशास्त्र एक परिनिष्ठित वाक्यार्थ विज्ञान है।

प्रभाकर तथा भाट्ट दोनों ही शब्द को एक पृथक् स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं। भेद दोनों में केवल इतना है कि प्रभाकर केवल वैदिक वाक्यार्थ को शब्द-प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं,[3] जबकि भाट्ट मीमांसकों को वैदिक वाक्यार्थ के अनुरूप वेदानुकूल लौकिक वाक्यार्थों का भी प्रामाण्य अभिमत है।[4]

पद एवं वाक्य-शक्ति विचार

शाब्दबोध की प्रक्रिया में गुरु प्रभाकर पदों के अभिहित अर्थज्ञान के अनन्तर वाक्यार्थज्ञान नहीं मानते, अपितु इनके सम्प्रदाय में पदों के अभिहित अर्थ का ज्ञान वाक्यार्थज्ञान के साथ ही माना जाता है। यथा **'घटमानय'** इत्यादि स्थलों में घटादि पद अपने में विद्यमान स्मारिका शक्ति से घटत्वादि जातियों का स्मरण कराते हुए अपनी अनुभाविका शक्ति द्वारा घटादि के आनयन क्रिया में अन्वयरूप वाक्यार्थ का बोध कराते हैं अतः प्रभाकर के कार्यान्विताभिधानवादी होने से इनका सिद्धान्त दार्शनिक जगत् में अन्विताभिधानवाद के नाम से प्रसिद्ध है।[5]

प्राभाकरों के अनुरूप वैयाकरण भी वाक्य में वाक्यार्थबोध की शक्ति स्वीकार करते हैं। 'कृष्णेहि रक्षैनम्' इस वाक्य में कृष्ण तथा एहि में इण् धातु तथा आगमनवाचक में विभाग असम्भव है अतः एकारघटित आनुपूर्वी वाले गत्यर्थक इण् धातु के यहाँ अस्तित्व में कोई प्रमाण न होने के कारण इस वाक्य में ही आगमन क्रिया से विशिष्ट कृष्णरूप अर्थ की शक्ति स्वीकार की जाती है। वैयाकरणों के इस वाक्यार्थ, शक्तिवाद को ही वाक्यस्फोट कहते हैं।[6]

वेदान्ती भी आकाङ्क्षा, योग्यता, आसत्ति तथा तात्पर्यज्ञान से युक्त अबाधित संसर्गरूप वाक्य में ही शक्ति स्वीकार करते हैं।[7] वाक्यार्थ में निरूपित शक्ति, वाक्य में स्वीकार करने पर भी वेदान्तियों का सिद्धान्त प्रभाकर के सिद्धान्त के विपरीत है। ये कार्यान्वित पदों में शक्ति न मानकर अपने से इतर पद या कार्यादि जो भी हों, उनमें अन्वित अर्थात् इतरान्वित पदों में ही वाक्यार्थबोध की शक्ति स्वीकार करते हैं।[8]

वाक्यार्थ-बोध के विषय में नैयायिक परस्पर सम्बन्धरूप वाक्यार्थ का भान संसर्ग मर्यादा द्वारा स्वीकार करते हैं।[9]

प्रस्तुत सन्दर्भ में भाट्टसम्प्रदाय में सर्वप्रथम पदों के अभिहित मुख्यार्थ का बोध माना गया है। इसके पश्चात् पदार्थों के परस्पर संसर्ग (अन्वय) रूप

वाक्यार्थ की लक्षणावृत्ति के माध्यम से प्रतीति स्वीकार की गयी है। भाट्टसम्प्रदाय के इस अभिहितान्वयवाद में[10] पदजन्य पदार्थज्ञान के अनन्तर पदसमूह रूप वाक्य का श्रवण होने पर वाक्यस्थित पदों के परस्पर संसर्गरूप वाक्यार्थ की निष्पत्ति हो जाती है।

वाक्यार्थ-बोध की प्रक्रिया में पदों में विद्यमान शक्ति की ही तरह वाक्यार्थबोधजनक वाक्यनिष्ठ तात्पर्यवृत्ति का भी उल्लेख किया गया है। आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश के द्वितीयोल्लास में '**तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्**'[11] इस वाक्य का प्रयोग किया है। काव्यप्रकाश की टीकाओं में सर्वत्र केषुचित् का अर्थ अभिहितान्वयवादी भाट्टसम्प्रदाय किया गया है, जो समीचीन प्रतीत नहीं होता। 17वीं शताब्दी के श्रीविश्वेश्वरभट्ट, अपनी 'भाट्टचिन्तामणि' के तर्कपाद में तात्पर्यवृत्ति के सन्दर्भ में साम्प्रदायिक आचार्यों का मत अभिव्यक्त करते हुए कहते हैं कि 'किस व्यक्ति का क्या अभिप्राय है? यह जान पाना ही नितान्त असम्भव है, अतः शाब्दबोध के लिए आवश्यक प्रकरण, सहोच्चारण रूप समभिव्याहार आदि के माध्यम से वाक्यार्थ-बोध की सङ्गति हो जाने के कारण तात्पर्य में शाब्दबोध निरूपित कारणता मानना समीचीन नहीं होगा।[12] इसके अतिरिक्त शाब्दबोधनिरूपित कारणता की वेदवाक्यों में तात्पर्यवृत्ति मानने पर असङ्गति हो जाएगी, क्योंकि तात्पर्य चेतन धर्म होने से अपौरुषेय वेदवाक्यों में इसकी वृत्ति की शाब्दबोधनिरूपित कारणता नितान्त असम्भव है। इस दृष्टि से विचार करने पर यही प्रतीत होता है कि काव्यप्रकाश की यह पङ्क्ति किसी एकदेशी मीमांसक की विचारधारा से सम्बद्ध होगी, जिसे अभिहितान्वयवाद मानने के साम्य के कारण भ्रमवश भाट्टसम्प्रदाय से जोड़ दिया गया है। भाट्ट सम्प्रदाय में अभिहित पदों का परस्पर संसर्गरूप वाक्यार्थबोध केवल लक्षणावृत्ति के माध्यम से स्वीकार किया गया है।[13] एकदेशी मीमांसकों की दृष्टि से वैदिकवाक्यों में भी तात्पर्य-निश्चय, पूर्वोत्तरमीमांसारूप पूजित विचार, सिद्ध, निर्दुष्ट, न्यायों के माध्यम से ही माना जा सकता है। जैसा धर्मराजाध्वरीन्द्र कहते हैं -'तच्च तात्पर्यं वेदे मीमांसा-परिशोधितन्यायादेवावधार्यते।'[14] अतः मीमांसक तात्पर्यवृत्त को नहीं मानते यह नहीं कहा जा सकता, परन्तु कुमारिलभट्ट-मतावलम्बी मीमांसक तात्पर्यवृत्ति स्वीकार नहीं करते, इतना तो अवश्य ही निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है।'

वाक्यार्थ एवं शाब्दबोध-प्रक्रिया

आकाङ्क्षा, योग्यता तथा सन्निधि से युक्त एक अर्थ के बोधक पदों के समूह को वाक्य माना गया है। एक वाक्य में अनेक मुख्य विशेष्यों का न रहना, एकार्थता है। एकार्थता के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वाक्य में एक ही क्रिया रहे। अनेक आख्यातार्थ (प्रवृत्तिरूप व्यापार) क्रियाएँ होने पर भी एक से अधिक मुख्य विशेष्य न रहने पर एकार्थकता की सङ्गति हो जाती है। इसीलिए '**पश्य मृगो धावति**' यहाँ पर धावन-क्रिया तथा दर्शन-क्रिया, इन दो आख्यातार्थों में धावनक्रिया, दर्शनक्रिया में विशेषण बन जाती है तथा विशेष्य मृग, एक ही रहने से धावनक्रिया, मृग तथा दर्शनक्रिया, इन दो आख्यातार्थों में धावनक्रिया दर्शन क्रिया में विशेषण बन जाती है तथा विशेष्य मृग एक ही रहने से धावन क्रिया, मृग तथा दर्शन क्रिया, तीनों की एकवाक्यता निष्पन्न हो जाती है। फलतः '**धावन्तं मृगं पश्य**' इस अर्थ की सङ्गति हो जाती है।[15]

आकाङ्क्षादि विशेषताओं से युक्त पदकदम्बात्मक वाक्य की अनेक विशेषताओं में धात्वर्य, आख्यातार्थ तथा लिङ्गर्थ, इन अन्यतम विशेषताओं का वाक्यार्थ-निष्पत्ति हेतु पर्यालोन नितान्त आवश्यक है।

धात्वर्थ विचार

शाब्दबोध की प्रक्रिया तें विचारणीय अनेक तत्त्वों के अनुरूप धात्वर्थ के सन्दर्भ में भी वैयाकरणों तथा मीमांसाकों का दृष्टिकोण परस्पर भिन्न है।

वैयाकरण मत

धात्वर्थ के सन्दर्भ में वैयाकरणों का कहना है कि भू आदि धातुओं के उत्पत्ति, गति आदि फल हैं। इन फलों का जनक व्यापार ही धात्वर्थ है। नागेश भी केवल 'व्यापर' को ही धात्वर्थ मानते हैं। कौमुदीकार भट्टोजिदीक्षित तथा कौण्डभट्ट ने 'फल' तथा 'व्यापार' दोनों को 'धात्वर्थ' के रूप में स्वीकार किया है।[16] 17वीं शताब्दी के भाट्टचिन्तामणिकार गागाभट्ट ने व्यापार मात्र को धात्वर्थ मानने का पक्ष अपने ग्रन्थ भाट्टचिन्तामणि में [14] ख्यापित कर भट्टोजिदीक्षित (1700 ई०) के मतानुसार फल तथा व्यापार दोनों को धात्वर्थ मानने का भी पक्ष प्रदर्शित किया है। इस सन्दर्भ में इनका वैयाकरणों की तरफ से यह कहना है कि व्यापार मात्र को धात्वर्थ मानने पर 'त्यजति गच्छति', आदि स्थलों में व्यापाररूप अर्थ दोनों

धातुओं से निष्पन्न होने के कारण दोनों में एक दूसरे के पर्यायत्व की आपत्ति हो जाती है। अतः व्यापार तथा तज्जन्य फल दोनों धात्वर्थ हैं।[18]

मीमांसासम्मत धात्वर्थ

धात्वर्थ के विषय में मण्डनमिश्र प्रभृति मीमांसकों का कथन है कि पच्, गम्, त्यज्, पत् इत्यादि धातुओं के क्रमशः विक्लित्ति (पाक), उत्तर देश संयोग, पूर्व देश-विभाग तथा अधो देश संयोगरूप फल ही अर्थ हैं, इनका जनक व्यापार धात्वर्थ नहीं है, अपितु प्रत्ययार्थ है। इसी प्रकार लट् लिट् आदि लकारों के वर्तमानत्व, परोक्षत्वादि अर्थ भी प्रत्यय के ही अर्थ हैं। अतः व्यापार तथा लडाद्यर्थ दोनों प्रत्ययात्मक समानपदोपात्त हैं, इसलिए लडाद्यर्थ का समानपदोपात्त व्यापार में अन्वय हो जाने से 'गच्छति' का फलानुकूलो वर्तमानकालिको व्यापारः ऐसा शाब्दबोध निष्पन्न हो जाता है अतः फल ही धात्वर्थ है। इसीलिए जिस समय व्यापार समाप्त हो जाता है, उस समय 'पचति' ऐसा प्रयोग नहीं होता, अपितु फलोत्पत्ति होने के पूर्व केवल व्यापार ही जिस समय विद्यमान रहता है, उसी समय पचति ऐसा प्रयोग होता है और व्यापार समाप्त हो जाने पर '**पाकं विद्यते**' पच्यर्थ विद्यमान है, ऐसा प्रयोग हुआ करता है। यह प्रयोग भी इष्ट है, क्योंकि '**पाकं करोति**' या **पाके व्याप्रियते** इत्यादि प्रयोग द्वारा पाक से पृथक् रूप से 'कृ' धातु के द्वारा व्यापार का विवरण दिया जाता है। अतः पाक यह व्यापार से भिन्न होने के कारण व्यापार समाप्ति दशा में भी '**पाकं विद्यते**' यह प्रयोग समीचीन है।

आख्यातार्थ निरूपण

शाब्दबोध-निष्पत्ति की प्रक्रिया में '**यजेत**' **जुहोति**, इत्यादि तिङन्त पदों में विद्यमान प्रत्ययनिष्ठ आख्यातत्व तथा लिङ्त्व के अर्थ -निष्पत्ति का सर्वाधिक महत्त्व है। इन दोनों तत्त्वों के अर्थबोध, वाक्यार्थ की दिशा नियन्त्रित करते हैं। न्याय, व्याकरण तथा मीमांसा में इन प्रत्यय-धर्मों का अर्थ परस्पर भिन्न होने के कारण ही शाब्दबोध के स्वरूप तथा प्रक्रिया में भी परस्पर वैभिन्य दृष्टिगोचर होता है।

लट्, लिट् आदि से होने वाले तिप् आदि प्रत्ययों को आख्यात कहा जाता है। यद्यपि लकारों के अर्थ परस्पर वर्तमानत्व, भूतत्वादि रूप से भिन्न हैं तथापि

सभी लकारों के साथ संयुक्त आख्यातार्थ सर्वत्र समान रूप से विद्यमान रहता है। इस आख्यातार्थ के विषय में वैयाकरण, नैयायिक एवं मीमांसकों का दृष्टिकोण परस्पर भिन्न-भिन्न है।

व्याकरणसम्मत आख्यातार्थ तथा शाब्दबोध

वैयाकरण तिबादि आख्यात प्रत्ययों की शक्ति कर्ता में मानते हैं।[20] अतः इनके अनुसार कर्ता ही आख्यातार्थ है। वैयाकरण-मतानुसार '**चैत्रः तण्डुलं पचति**' (चैत्र भात पकाता है), इस स्थल में तिप् इस आख्यात का अर्थ कर्त्ता तथा पच् धातु का अर्थ पाकजनकव्यापार है। आख्यातार्थ कर्ता का प्रथमान्त पदोपस्थाप्य चैत्र के साथ अभेदान्वय हो जाता है, तथा व्याकरणमत में धात्वर्थ मुख्य विशेष्यक शाब्दबोध ही मान्य होने से इस वाक्य का '**तण्डुलकर्मकश्चैत्रकर्तृकः विक्लित्यनुकूलो व्यापारः**, यह धात्वर्थ-मुख्य-विशेष्यक शाब्दबोध, निष्पन्न हो जाता है।

न्यायसम्मत आख्यातार्थ तथा शाब्दबोध

आख्यातार्थ के सन्दर्भ में नैयायिकों का मन्तव्य है कि यत्नार्थक '**कृ**' धातु से सभी आख्यातों का विवरण दिया जाता है, यथा '**किं करोति?** ऐसा यत्न (कृति) विषयक प्रश्न होने पर प्रदान किये जाने वाले '**पचति**' इस उत्तर में आख्यात 'ति' का अर्थ यत्न या कृति न मानने पर इस उत्तर की सर्वथा अनुपपत्ति हो जाती है। अतः यत्न (कृति) ही आख्यातार्थ है।[21]

पूर्वपक्ष का यह आक्षेप है कि यत्न (कृति) को आख्यातार्थ मानने पर कृति आत्मनिष्ठ गुण होने से 'रथो गच्छति' इस स्थल में **गमनानुकूलकृतिमान् रथः**, यह शाब्दबोध नहीं हो सकेगा तथा न्यायमत में व्यापार में आख्यात की शक्ति न होने से इस वाक्य का कोई शाब्दबोध ही नहीं हो सकेगा।

पूर्वपक्ष की उपर्युक्त आपत्ति के निराकरणार्थ नैयायिक कहते हैं कि '**रथो गच्छति**' इस स्थल में चूँकि आख्यातार्थ कृति मानना सम्भव नहीं है, अतः अगत्या आख्यात की अनुकूल व्यापार में लक्षणा मान ली जाती है, फलतः '**गमानानुकूल-व्यापारवान् रथः**' ऐसा शाब्दबोध निष्पन्न हो जाता है। ऐसे ही अन्य स्थलों में 'आख्यात' की अनुकूल व्यापार में निरूढ़ लक्षणा के द्वारा शाब्दबोध सम्पन्न हो जाते हैं, परन्तु जहाँ पर लक्षणा मानने की आवश्यकता नहीं है, वहाँ आख्यात की शक्ति यत्न (कृति) में ही होती है। अतः यत्न या कृति ही आख्यातार्थ है।[22]

नैयायिकों के अनुसार शाब्दबोध में प्रथमान्त पदोपस्थाप्य कर्ता तथा कर्म, ही मुख्य विशेष्य होते हैं। कर्तृवाच्य में फल का व्यापार में विशेषण रूप से अन्वय होता है तथा कर्मवाच्य स्थल में व्यापार ही फल के साथ विशेषण रूप से समन्वित हुआ करता है। दोनों ही स्थलों में आख्यातार्थ यत्न ही माना जाता है। फलतः '**देवदत्तः तण्डुलं पचति**' इस कर्तृवाच्य का '**तण्डुलनिष्ठ-विक्लित्ति-जनकयत्नवान् देवदत्तः**, ऐसा शाब्द-बोध निष्पन्न हो जाता है। इसी प्रकार '**देवदत्तेन तण्डुलः पच्यते**'-इस कर्मवाच्य का **देवदत्तनिष्ठकृतिजन्यव्यापार-जन्य- फलशाली तण्डुलः**' इत्याकारक कर्म-मुख्य-विशेष्यक शाब्दबोध की सङ्गति हो जाती है।[23]

भाट्ट-सम्मत आख्यातार्थ तथा भावना मुख्य विशेष्यक शाब्दबोध

भाट्टसम्प्रदाय के मीमांसक आख्यात की शक्ति, व्यापार या यत्नरूप भावना में स्वीकार करते हैं। इनके मतानुसार व्यापार या यत्नरूप भावना ही आख्यातार्थ है।[24]

पूर्वपक्ष की यह आशङ्का है कि धातु ही व्यापार के वाचक हैं, तथा इस धात्वर्थ व्यापार से पृथक् भावना के अस्तित्व का साधक कोई भी प्रमाण उपलब्ध नहीं है, फलतः इस निष्प्रमाण भावना को आख्यातार्थ कैसे स्वीकार किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त अस्ति, भवति इत्यादि स्थलों में धातुओं से किसी व्यापार की प्रतीति नहीं होती, अपितु उत्पत्ति आदि फलों की ही प्रतीति हुआ करती है, अतः इन्हीं के अनुरूप पचादि की शक्ति भी फल में ही है, व्यापार में नहीं।[25]

उपर्युक्त आपत्ति का 17वीं शताब्दी के श्री विश्वेश्वरभट्ट यह समाधान देते हैं कि अस्ति, भवति इत्यादि स्थलों में भी 'धर्मी फलरूप भाव्य में भावनारूप व्यापार विद्यमान रहता है', इस वैयाकरणभूषणसार की उक्ति द्वारा तथा 'कपालावस्था में स्थित घट अपने को सम्पन्न (भावित) करता है', इस वार्तिक द्वारा भी आख्यातार्थ के रूप में भावना का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है।[26] व्यापारत्व रूप से मानें या यत्नत्व रूप से, कृति या यत्न ही आख्यातार्थ है। भावना भी यही है। इस 'यत्न' रूप आख्यातार्थ का नित्य सकर्मक 'कृ' धातु तथा कर्मार्थक णिजन्त 'भू' धातु द्वारा ही विवरण दिया जाता है, अतः यह यत्न नित्य सकर्मक है। इसीलिए '**स्वास्थ्यकामः स्वपेत्**' इस स्थल में 'स्वप्' अकर्मक होने पर भी

स्वास्थ्य यह यत्न रूप आख्यातार्थ या भावना का कर्म अर्थात् साध्य होने से इस स्वास्थ्य रूप कर्म की अकर्मक 'स्वप्' धातु के साथ उपपत्ति हो जाती है। प्रकृत स्थल में सकर्मक आख्यातार्थ यत्न (कृति) का सकर्मक 'कृ' धातु से **शयनेन स्वास्थ्यलाभं कुर्यात्'** ऐसा विवरण दिया जाता है। इसी प्रकार **'शयनेन स्वास्थ्यलाभं भावयेत्'** ऐसा णिजन्त 'भू' धातु से भी इसका विवरण दिया जाता है, अतः आख्यातार्थ यत्नरूप भावना की नित्य सकर्मकता सिद्ध हो जाती है।

भावना-मुख्य-विशेष्यक शाब्दबोध

भाट्टमीमांसक शाब्दबोध में भावना को ही मुख्य विशेष्य के रूप में स्वीकार करते हैं, फलतः उपर्युक्त वाक्य का 'शयनकरणिका स्वास्थ्यसाधिका भावना' ऐसा मीमांसासम्मत भावना मुख्य विशेष्यक शाब्दबोध निष्पन्न हो जाता है।[27]

पूर्वपक्ष की यह आपत्ति है कि चूँकि **'चैत्रः पचति'** इत्यादि स्थलों में **पाकानुकूल-कृतिमान् चैत्रः'** इस प्रथमान्त पदोपस्थाप्य में भावना का विशेषण रूप से समन्वित होने का ही अनुभव होता है, अतः ऐसी स्थिति में भावना में मुख्य विशेष्यत्व कैसे माना जा सकता है?

पूर्वपक्षियों की उपर्युक्त आपत्ति के निराकरणार्थ मीमांसक गागाभट्ट का कहना है कि चूँकि **'स्थाल्यां पचति, खादिरं वीर्यकामस्य यूपं कुर्यात्'** इन स्थलों में कोई प्रथमान्त पदोपस्थाप्य न होने पर भी शाब्दबोध तो होता ही है, अतः भावना का शाब्दबोध में विशेषण रूप से अन्वय न होने में प्रथमान्त पदोपस्थाप्य की उपस्थिति कारण है, ऐसा नहीं माना जा सकता; फलतः भावना को ही मुख्य विशेष्य मानना होगा।[28]

लिङर्थ-प्रवर्त्तना का मुख्य विशेष्यकत्व

मीमांसादर्शन में वैदिक वाक्यों के अन्तर्गत विधायक वाक्यों का सर्वाधिक प्रामाण्य माना गया है। विधिवाक्यों के अतिरिक्त जितने भी मन्त्र, नामधेयादि हैं, उनका किसी न किसी रूप से विधि वाक्यों के साथ अन्वित होने से ही प्रामाण्य अक्षुण्ण रह पाता है। विधिवाक्य, लिङ्-लकार-घटित हाने से मीमांसा की दृष्टि में शाब्दबोध की प्रक्रिया में लिङर्थ का सर्वोपरि प्राधान्य है। **'यजेत'** इत्यादि स्थलों में यज् धातु से लिङ्लकार घटित 'त' प्रत्ययों में आख्यातत्व तथा लिङ्त्व ये दो तत्त्व रहते हैं। इनमें आख्यातत्व सभी लकारों में विद्यमान रहता है तथा अपने अंश से कृति या यत्नरूप प्रवृत्ति का प्रतिपादन करता है। लिङ्लकार या

लिङर्थक प्रत्ययों का अर्थ प्रवर्तना माना जाता है। यह प्रवर्तना आख्यातार्थ प्रवृत्ति की उत्पादिका होती है। अतः लिङ् से इतर लकारों से जहाँ प्रवृत्ति–मात्र का बोध होता है, वहाँ लिङर्थक प्रत्ययों से प्रवृत्ति तथा प्रवर्तना, इन दोनों का बोध होता है। यही लिङ् लकार या लिङर्थक प्रत्ययों का वैशिष्ट्य है।

नैयायिक इष्टसाधनत्व, कृति साध्यत्व तथा बलवदनिष्यननुबन्धित्व, इन तीनों अर्थों में लिङ् की शक्ति स्वीकार करते हैं।[29]

लिङर्थ या विध्यर्थ के विषय में मण्डनमिश्र का कहना है कि यागादि में कृतिसाध्यताज्ञान लोकव्यवहार द्वारा सिद्ध होने से तथा शब्दार्थ अनन्यलभ्य होने के कारण कृतिसाध्यताज्ञान को लिङर्थ नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार बलवदनिष्यननुबन्धित्वज्ञान की अनिष्ट के अभावज्ञान की उत्पत्ति में चरितार्थता हो जाती है, फलतः यह प्रवृत्ति के प्रति अन्यथासिद्ध हो जाने के कारण इसे भी विध्यर्थ नहीं माना जा सकता। अतः मण्डनमिश्र उपर्युक्त दोनों को लिङर्थ या विध्यर्थ न मानकर केवल इष्ट साधनत्व ज्ञान को ही लिङर्थ मानते हैं।[30]

यद्यपि मण्डनमिश्र भी भाट्टमतावलम्बी मीमांसकों के अनुरूप प्रवर्तना को विध्यर्थ स्वीकार करते हैं, तथापि अन्य मीमांसकों ने जहाँ प्रवर्तनात्व रूप से प्रवर्त्तना को लिङर्थ या विध्यर्थ माना है, वहाँ ये प्रवर्त्तनात्वरूप से इष्ट साधनता ज्ञान को विध्यर्थ स्वीकार करते हैं।

गुरु प्रभाकर कार्यताज्ञान को विध्यर्थ मानते हैं। इनके अनुसार प्रवृत्ति में उद्यत पुरुष में विशेषणवत्ता के ज्ञान से उत्पन्न कार्यताज्ञान, कृतिसाध्यताज्ञान विषयक कार्य को विषय करने वाली कार्यसम्पादिका चिकीर्षा के माध्यम से प्रवृत्ति में कारण होने से विध्यर्थ है।[31] यह कार्यताज्ञान भी **'मया इदं कर्त्तुं शक्यते तथा मया इदम् अवश्यमेव करणीयम्'** इस प्रतीति के भेद से दो प्रकार का है। इनमें से प्रथम ज्ञान कृति साध्यतामात्र का बोधक होने से प्रवृत्ति में कारणभूत विध्यर्थ नहीं माना गया है। द्वितीय ज्ञान चूँकि इष्टसाधनत्वज्ञान तथा बलवदनिष्यननुबन्धित्व ज्ञान से उत्पन्न होता है, अतः यह द्वितीय प्रकार का कार्यताज्ञान ही गुरुमत में विध्यर्थ माना गया है। गुरु प्रभाकर के मतानुसार यागजन्य अपूर्व ही कार्य होता है, तथापि लिङर्थक लोट् आदि से बोध्य 'गामानय' इत्यादि लौकिक वाक्यों में अपूर्वरूप कार्य असम्भव होने के कारण ऐसे स्थलों में लक्षणा द्वारा आनयनादि क्रियाओं को अगत्या कार्य मान लिया जाता है।[32]

सिद्धान्ती भाट्ट मीमांसक शब्दनिष्ठ प्रवर्तना अर्थात् प्रवृत्ति की उत्पादिका प्रेरणारूप अभिधा होने से शब्दशक्ति तथा शब्दव्यापार होने से शाब्दीभावना भी कही जाती है।[33] आख्यातार्थ प्रवृत्तिरूपा आर्थीभावना इस शब्दभावना का कार्य या साध्य होने के कारण इसके साथ साध्यत्व रूप से समन्वित होती है। फलतः लिङेतर वाक्यों में जहाँ आख्यातार्थ प्रवृत्ति मात्र उपस्थित है, वहाँ शाब्दबोध में भी केवल प्रवृत्ति का ही बोध होता है। यथा **'देवदत्तः गामानयति'** यहाँ प्रत्यय 'ति' में केवल आख्यातार्थ कृति, यत्न या प्रवृत्ति ही विद्यमान है। फलतः **'देवदत्तकर्तृका गोनिष्ठकर्मतानिरूपिका आनयनानुकूला कृत्यपरपर्याया आर्थी भावना,** इत्याकारक प्रवृत्ति या आर्थीभावना मात्र को प्रकाशित करने वाला शाब्दबोध निष्पन्न होता है, इसके विपरीत जहाँ पर लिङ् लकार या लिङ्र्थक प्रत्यय में आख्यातार्थ के साथ लिङर्थ भी विद्यमान रहता है, वहाँ पर शाब्दबोध में प्रवृत्ति के साथ प्रवृत्तिजनक प्रवर्तना भी प्रकाशित हुआ करती है। यही लिङर्थक वाक्यों का सर्वसाधारण आख्यातार्थ प्रतिपादक वाक्यों से भेद है। यथा उपर्युक्त **'देवदत्तः गामानयति'** इस वाक्य के स्थान पर **'देवदत्त गामानय'** ऐसा लिङर्थक लोट्-लकार घटित 'सिप्' प्रत्यय का प्रयोग किया जाता है, तब **'देवदत्तकर्तृका गोनिष्ठकर्मता- निरूपिका प्रवृत्त्यनुकूला प्रवर्त्तना'** इस शाब्दबोध में प्रत्ययनिष्ठ आख्यातार्थजनक लिङर्थ प्रवर्त्तना भी प्रस्फुटित हो जाती है, अतः भाट्टसम्प्रदाय की दृष्टि से प्रवर्त्तना या शाब्दीभावना का बोध ही शाब्दबोध का मुख्य उद्देश्य है।

सन्दर्भ

1. धर्माख्यं विषयं वक्तुं मीमांसायाः प्रयोजनम्। श्लोकवार्तिकम्, 1/1/1
2. आत्मा ज्ञातव्य इत्येतन्मोक्षार्थं न च चोदितम्।
   कर्मप्रवृत्तिहेतुत्वम् आत्मज्ञानस्य लक्ष्यते।। श्लोक वा०, पृ० 816 कामेश्वर सिंह दरभङ्गा संस्कृत विश्व विद्यालय, दरभङ्गा, 1979
3. लौकिकं वाक्यं नार्थे स्वयं निश्चयमुत्पादयति, लौकिकवचसामनृतभूयिष्ठत्वादर्थ-व्यभिचारस्य शङ्कितत्वात्। प्रकरणपञ्चिका, पृ० 242, का० हि० वि० वि० वाराणसी, 1961
4. तच्च द्विविधम् पौरुषेयमपौरुषेयञ्चेति। शास्त्रदीपिका पृ० 72, कृष्णदास, अकादमी, वाराणसी, 1988
5. प्राभाकरास्तु कार्यान्विते पदानां शक्तिः। भाट्टचिन्तामणि, पृ० 62 चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी, 1933।

6. एवं कृष्णेहि रक्षैनमित्यादौ वाक्येऽशविभागाभावादेकारघटितानुपूर्वीकस्यागमन वाचकस्यात्र सत्वे मानाभावादवाक्यस्यैव विशिष्टार्थशक्तिरिति वाक्यस्फोटः। भाट्टचिन्तामणि, पृ० 91
7. वाक्यस्य तात्पर्यविषयीभूतसंसर्गो मानान्तरेण न बाध्यते तद्वाक्यं प्रमाणम्। वेदान्तपरिभाषा, पृ० 187-189 चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1977
8. वेदान्तिनस्तु इतरान्वित एव शक्तिग्रहो न तु कार्यान्विते। भा० चि०, पृ० 62
9. शाब्दबोधे चैकपदार्थे अपरपदार्थस्य संसर्ग संसर्गमर्यादया भासते। व्युत्पत्तिवादः, पृ० 03 भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 1973
10. तस्मात्पदाभिहितैः पदार्थैं र्लक्षणया वाक्यार्थ : प्रतिपाद्यते। शा० दी०, पृ० 154
11. तात्पर्याऽर्थोऽपि केषुचित्। काव्यप्रकाश, पृ० 17 कृष्ण दास अकादमी, वाराणसी, सं० 2043
12. न च गौरवं, सर्व-शाब्दे तत्तच्छाब्दत्वावच्छिन्ने तत्तत्तात्पर्यज्ञानानामनन्तकार्यकारणभावापेक्षया लघुत्वादित्याहुः। भा० चि०, पृ० 52
13. अतस्सिद्धपदैरभिहिताः पदार्थाः-लक्षणया वाक्यार्थमवबोधन्तीति। तन्त्र-सिद्धान्त रत्नावली, पृ० 64, काशी हिन्दू विश्व विद्यालय, वाराणसी, 1944
14. वेदान्तपरिभाषा, पृ० 256।
15. वाक्यं चैकार्थ-पदसमूहः। एकार्थत्वं चानेकमुख्यविशेष्यराहित्यम्। न त्वेकाख्यातवत्वम्। तेनाख्यातभेदेऽपि यत्रैकारुयातार्थेऽन्याख्यातार्थः प्रकारो यथा पश्य मृगो धावतीत्यादौ तत्रैकवाक्यत्वम्। भा० चि०, पृ० 48
16. तत्र फलानुकूलो यत्नसहितो व्यापारः धात्वर्थः। वैयाकरणसिद्धान्तपरमलघुमञ्जूषा, पृ० 126 कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय प्रकाशन, कुरुक्षेत्र, 1975।
17. वैयाकरण-सिद्धान्त परमलघुमञ्जूषा, पृ० 127
18. अतो न फलमात्रं धात्वर्थः। नापि व्यापारमात्रं, त्यजिगम्योः पर्यायतापत्तेः। अतः फलव्यापारो धात्वर्थः। भाट्टचिन्तामणि, पृ० 27
19. अत्र मण्डनः-फलमेव धात्वर्थः। पचिगमित्यजिपतत्यादीनां विक्लित्त्युत्तरदेशसंयोगपूर्व देशविभागाधोदेशसंयोगादय एवार्थाः। अनुकूलव्यापारस्तु प्रत्ययार्थः। लडाद्यर्थ वर्त्तमानत्वादिकं व्यापारेऽन्वेति, समानपदोपात्तत्वात्। तेन व्यापार-विरमे न पचतीति प्रयोगः, फलानुत्पाददशायां व्यापारमात्रकाले पचतीति प्रयोगश्च। व्यापार-विरमे पाको विद्यते पच्यर्थो विद्यत इति प्रयोगस्तु विक्लित्तिर्वर्त्तत इतिवदिष्ट एव। भा०चि०, पृ० 76
20. तत्र 'कर्त्ता' इति पातञ्जलाः-'लः कर्मणि०' इति सूत्रे चकारेण कर्त्तुः परामर्शात्। वैयाकरण-सिद्धान्त परमलघु मञ्जूषा, पृ० 263
21. एवं पचतीत्यस्य पाकं करोतीत्यनेन विवरणादाख्यातस्य यत्नार्थकत्वं कल्प्यते। न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, पृ० 309

22. रथो गच्छतीत्यत्रानुकूलव्यापारे वा निरूढा लक्षणा। भाट्टचिन्तामणि, पृ० 80
23. प्रथमान्तपदोपस्थाप्यस्यैव मुख्यविशेष्यत्वम्। कर्त्राख्याते फलव्यापारे विशेषणं, कर्माख्यातेपि व्यापारः फले, जन्यत्वादि च संसर्गः यत्नश्च प्रत्ययार्थः। तेन तण्डुलनिष्ठविक्लित्तिजनकयत्नवान् देवदत्तः इति कर्त्राख्याते, देवदत्तनिष्ठकृति-जन्यव्यापारजन्यफलशाली तण्डुल इति कर्माख्याते बोधः। वही पृ० 80
24. एवमाख्यातस्य व्यापाररूप-भावनायां शक्तिः। वही पृ० 78
25. ननु धातोरेव व्यापारवाचितया धात्वर्थातिरिक्तभावनायां मानाभावः। न चास्ति भवत्यादि धातुतः फलस्यैव प्रतीतेर्व्यापाराऽप्रतीतेश्च तत्सामान्येन पच्यादीनामपि फल एव शक्तिः ....। वही पृ० 78
26. 'तत्रापि' अस्त्यादावपि धर्म्यंशभात्येऽस्त्येवहि भावना- (वैयाकरणभूषणसारे धात्वर्थ निर्णये कारिका 21) इत्यादि वैयाकरणोक्तरीत्या कपालातस्थो घट आत्मानं भाष्यतीति वार्तिकोक्तरीत्या च तद्वाचित्वात्। भाट्टचिन्तामणि, पृ० 78
27. एवञ्च स्वास्थ्यकामः स्वपेदिद्वत्याद्यकर्मकधातूनामपि स्वास्थ्यादि भाव्यकत्वोपपत्तिः। वही, पृ० 82
28. स्थाल्यां पचति, काष्ठे पचति, खादिरं वीर्यकामस्य यूपं कुर्यादित्यादौ प्रथमान्तपदाभावेपि शाब्दनोधानुभवेन भावना प्रकारकशाब्दबोधे प्रथमान्तपदोपस्थितेर्हेतुत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात्। वही, पृ० 83
29. लाघवेन बलवदनिष्यननुबन्धीष्टसाधनत्वे सति कृतिसाध्यताज्ञानस्य तत्र हेतुत्वात्। न्यायसिद्धान्त मुक्तावली, पृ० 480 चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1983
30. प्रवर्त्तनात्वं च प्रवृत्तिजनकज्ञानविषयतावच्छेदकत्वम्। तच्चेष्टसाधनत्वमेव इति तदेव लिङर्थः। वै० सि० प० म०, पृ० 256

मण्डनस्तु यागादौ कृतिसाध्यताज्ञानस्य लोकत एव सिद्धेरन्यन्यलभ्यत्वान्न तत्र लिङः शक्तिः बलवदनिष्टाननुबन्धित्व-ज्ञानं च द्वेषाभावजननेनान्यथासिद्धत्वान्न प्रवृत्तौ हेतुः। भाट्टचिन्तामणि, पृ० 88

31. अत्र गुरवः स्वविशेषणवत्ता प्रति सन्धानजन्यकार्यताज्ञानस्येव चिकीर्षा द्वारा प्रवृत्तिहेतुत्वं। भाट्टचिन्तामणि, पृष्ठ 63
32. तथाहि कार्यताज्ञानं द्विविधं, मयेदं कर्त्तुं शक्यत इत्येवं रूपमेकं, ममेदमवश्यं कार्यमित्येवंरूपं द्वितीयम्। तत्राद्यं पदार्थनिष्ठयोग्यतागम्यमिति न प्रवृतिं प्रति हेतुः। द्वितीयं तु स्वेष्टसाधनत्वबलवदनिष्यननुबन्धित्वज्ञान-जन्यमिति चिकीर्षा-द्वारा प्रवृत्तिं प्रति हेतुः। वही, पृष्ठ 63
33. 'अभिधैव शब्दनिष्ठा प्रवर्त्तनारूपः विध्यर्थः।' वही, पृष्ठ 68

मीमांसादर्शन की ज्ञानमीमांसा

18. भाट्टमीमांसा में ज्ञान की अवधारणा
19. भाट्टमीमांसा में प्रमाणलक्षण विमर्श
20. भाट्टमीमांसा में प्रमाण तथा उसका प्रयोजन
21. भाट्टमीमांसा में प्रत्यक्ष की अवधारणा
22. मीमांसा दर्शन में इन्द्रियों की प्राप्यप्रकाशकारिता

18
भाट्टमीमांसा में ज्ञान की आवधारणा

ज्ञान तथा उसका स्वरूप

भारतीय दर्शन की प्रायः सभी शाखाओं में ज्ञान का सर्वोपरि महत्त्व स्वीकार किया गया है। भारतीय चिन्तन की नास्तिक श्रेणी में प्रतिष्ठित महायान शाखा में अन्तर्भूत क्षणिक विज्ञानवादियों ने जहाँ एक मात्र प्रवाही क्षणिक विज्ञानधारा के रूप में तत्त्व का प्रतिपादन किया है, वहीं आस्तिक दर्शनों में मेरुमणि के रूप में अभिमत अद्वैत वेदान्त में एकमात्र नित्य विज्ञानात्मक ब्रह्म की सत्ता मानी गई है। दोनों प्रस्थानों में समस्त बाह्य प्रपञ्च को इस विज्ञानात्मक ज्ञान के विवर्तरूप में प्रतिपादित किया गया है।

एकमात्र ज्ञान का ही अस्तित्व मानने वाले इन दोनों विज्ञानवादी दर्शनों के अतिरिक्त शून्यवादियों को छोड़कर शेष समस्त दार्शनिक प्रस्थान ज्ञान से भिन्न रूप में बाह्य पदार्थों का अस्तित्व स्वीकार करते हैं अतः ये सभी वस्तुवादी दर्शन कहे जाते हैं। इनमें भी ज्ञान के स्वरूप तथा उसकी ज्ञप्ति के सन्दर्भ में नैयायिक, प्रभाकर तथा भाट्टों में विशेष रूप से मतभेद दृष्टिगोचर होता है।

न्याय तथा मीमांसा में ज्ञान से विषय की भिन्नता के सन्दर्भ में एकरूपता होने पर भी ज्ञान के स्वरूप तथा उसकी ज्ञप्ति के सन्दर्भ में परस्पर विरोध है। विषयों को ज्ञान का आकार मानने के बौद्धसिद्धान्त के विरुद्ध नैयायिक विषय को ज्ञान का आकार नहीं मानते।[1] योगाचार तथा वैभाषिक इन दोनों बौद्ध सम्प्रदायों में ज्ञान को साकार माना गया है। इस ज्ञान का आकार ही योगाचार के मतानुसार विभिन्न पदार्थों के रूप में भासित हुआ करता है। वैभाषिक बौद्ध ज्ञान का अपना कोई आकार नहीं मानते। ज्ञान के विषयरूप पदार्थों के आकार से ज्ञान को आकारित मानते हैं। बौद्धों के इस ज्ञान आकारवाद के सिद्धान्त के विपरीत न्यायदर्शन में ज्ञान को निराकार तथा आत्मा का गुण माना गया है। इनके

मतानुसार अयं घटः (यह घट है) यह व्यवसायात्मक ज्ञान आत्मा के गुण के रूप में उत्पन्न होता है तथा **अहं घटं जानामि** इस मानस-प्रत्यक्षरूपी अनुव्यवसायात्मक ज्ञान से इसका ग्रहण होता है अतः न्यायमत में ज्ञान प्रत्यक्षगम्य पदार्थ माना गया है।[2]

ज्ञान की अतीन्द्रियता

मीमांसा-दर्शन में प्रभाकर ने ज्ञान, ज्ञाता तथा ज्ञेय, इन तीनों की एक साथ अनुभूति को प्रमाण मानते हुए समान-संवित्-संवेद्यता से विषय तथा ज्ञाता के साथ ज्ञान को भी त्रिपुटी-प्रत्यक्ष का विषय स्वीकार कर ज्ञान की प्रत्यक्षवेद्यता का प्रतिपादन किया है।[3]

प्रभाकर के सिद्धान्त के विपरीत आचार्य कुमारिलभट्ट ने शाबरभाष्य के आधार पर ज्ञान की अतीन्द्रियता स्थापित की है। शबरस्वामी का कहना है कि अर्थ के अज्ञात रहने पर कोई ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। अर्थज्ञान होने पर (अर्थनिष्ठ ज्ञातता के बल पर) अनुमान द्वारा ज्ञान का बोध हो जाता है।[4] शबरस्वामी के इस कथन के आधार पर आचार्य कुमारिलभट्ट ने ज्ञातता या प्राकट्य के आधार पर ज्ञान की अर्थापत्तिगम्यता का प्रतिपादन करते हुए उसे अतीन्द्रिय पदार्थ निरूपित किया है। श्लोकवार्तिक में इनका कहना है कि जिस प्रकार ज्ञान की शक्ति-स्वरूपा वासना अपनी उत्पत्तिशीलता के कारण अथवा वासनात्व के कारण न स्वकीय अंश को ग्रहण करती है न स्व के किसी भी अंश से गृहीत होती है, उसी प्रकार ज्ञान भी अपनी उत्पत्तिशीलता के कारण अथवा ज्ञान होने के नाते (ज्ञानत्व के कारण) न तो अपने किसी अंश को ग्रहण करता है और ना ही अपने किसी अंश से गृहीत होता है।[5]

ज्ञान की अर्थापत्तिगम्यता

ज्ञान की स्वसंवेद्यता में अपनी असहमति व्यक्त करने के पश्चात् कुमारिल भट्ट ज्ञातान्यथानुपपत्तिप्रसूता अर्थापत्ति को ज्ञान के ग्राहक प्रमाण के रूप में प्रकाशित करते हैं। श्लोकवार्तिक के शून्यवाद निराकरण-सन्दर्भ में इनका कहना है कि "घटादि अर्थों का जब तक ज्ञान नहीं होता तब तक **'ज्ञातो मया घटः'** इस प्रकार की घटनिष्ठ ज्ञातता का भी प्रतिसिन्धान नहीं होता। घटादि अर्थों का ज्ञान होने के बाद ही **'ज्ञातो मया घटः'** ऐसी अर्थनिष्ठ ज्ञातता-विषयिणी प्रतीति

निष्पन्न हो जाती है। इसलिए ज्ञाततान्यथानुपपत्ति-प्रसूतार्थापत्ति के अर्थज्ञान के पूर्व, अर्थ में ज्ञातत्व ने होने के कारण उत्पन्न न होने से तथा अर्थज्ञान हो जाने के बाद अर्थनिष्ठ ज्ञातत्व की (ज्ञानरूप कारण के अभाव में होनी वाली) अनुपपत्ति से ज्ञान, ज्ञातत्व का कारण है, इस अर्थापत्ति प्रमाण के उत्पन्न हो जाने से यह सुनिश्चित हो जाता है कि यह अर्थापत्ति ही ज्ञान का प्रतिसन्धान करने वाला ज्ञान-ग्राहक प्रमाण है।[6]

पार्थसारथि मिश्र के मत में मानस प्रत्यक्षगम्य सम्बन्ध तथा अर्थापत्ति की ज्ञान-ग्राहकता

आचार्य पार्थसारथि मिश्र आत्मा तथा ज्ञेय के मानस प्रत्यक्षगम्य सम्बन्ध तथा ज्ञानजन्य विषयनिष्ठ ज्ञातत्व या प्राकट्य इन दोनों तत्त्वों का ज्ञान के कल्पक के रूप में प्रतिपादन करते हैं। इनमें प्रथम आत्मा तथा विषय के सम्बन्ध में इनका कहना है कि अयं घटः (यह घट है) इस प्रकार के व्यवसायात्मक ज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर घटज्ञान के कर्ता (आत्मा) तथा विषयभूत घट, इन दोनों के मध्य घटज्ञान द्वारा एक व्याप्तृव्याप्यत्वरूप सम्बन्ध उत्पन्न हो जाता है जिसका प्रतिसन्धान **'ज्ञातो घटः'** इस मानस-प्रत्यक्ष द्वारा निष्पन्न होता है। विषय तथा आत्मा के बीच उत्पन्न होने वाले इस सम्बन्ध को पार्थसारथि ज्ञान का कल्पक (ग्राहक) मानते हैं। इस सन्दर्भ में इनका कहना है कि बिना किसी आगन्तुक कारण के आत्मा का अर्थ के प्रति व्याप्तृत्व उत्पन्न नहीं होता। आत्मा के विषय के साथ व्याप्तृत्व के इस कारण को ही लोक में ज्ञान-शब्द द्वारा अभिहित किया जाता है।[7]

पार्थसारथि का कहना है कि "ज्ञान" को स्वयंप्रकाश मानने वालों के मत में भी **'ज्ञातो मया घटः'** इस मानस-प्रत्यक्ष के विषयभूत आत्मा तथा विषय के उक्त व्याप्तृव्याप्यत्वरूप सम्बन्ध को मानना अनिवार्य है, अन्यथा **'ज्ञातो मया घटः'** इस ज्ञाता-ज्ञेय या ज्ञान तथा ज्ञेय के सम्बन्ध का व्यवहार नहीं हो सकेगा। यह नियम है कि जितने अर्थ का प्रकाशन होता है उतने का ही व्यवहार हो सकता है; अन्य का नहीं। प्रकृत-स्थल में संवित् (ज्ञान) स्वयं प्रकाशित होता है तथा अर्थ (विषय) भी उसके द्वारा प्रकाशित हो जाता है ऐसा मान भी लिया जाए तो भी ज्ञानसम्बन्ध किससे प्रकाशित होगा? वह भी इसी संवित् से प्रकाशित हो जाएगा ऐसा मानें तो यह सम्भव नहीं है क्योंकि जब ज्ञान उत्पन्न हो रहा था उस समय ज्ञान का विषय के साथ सम्बन्ध निष्पन्न ही नहीं हुआ था। ज्ञान का ज्ञेय

(विषय) के साथ जो सम्बन्ध है वह मात्र प्रकाशकत्व ही हो सकता है। इसके अतिरिक्त ज्ञान का ज्ञेय के साथ अन्य कोई भी सम्बन्ध सम्मत नहीं है। संवित् (ज्ञान) के उत्पन्न हो जाने पर विषय के प्रकाशित हो जाने के पश्चात् निष्पन्न होने वाले सम्बन्ध को उसी संवित् का विषय नहीं माना जा सकता क्योंकि संवित् अपने तथा अपने अर्थ को प्रकाशित कर अपने प्रकाशन-व्यापार से विरत हो जाती है। पुनश्च उसके द्वारा सम्बन्ध को विषय नहीं बनाया जा सकता। संवित् क्षणिक होने से प्रथम अर्थ को प्रकाशित कर बाद में सम्बन्ध को भी प्रकाशित करे यह सम्भव नहीं है। सम्बन्ध स्वयं प्रकाशित हो जाएगा ऐसा माना जाए तो यह भी सम्भव नहीं है। ज्ञान तथा ज्ञेय के इस प्रकाशित्व सम्बन्ध के स्वयं प्रकाशित होने में कोई प्रमाण नहीं है फलतः केवल यही मार्ग अवशिष्ट रह जाता है कि घटादि अर्थों का ज्ञान हो जाने पर इन घटादि विषयों के साथ आत्मा के मानस-प्रत्यक्षगम्य व्याप्य-व्याप्तृत्वरूपी प्रकाशकत्व सम्बन्ध को ही ज्ञान का कल्पक (ग्राहक) माना जाए।[8]

अयं घटः (यह घट है) इस प्रकार के घटादि के प्रत्यक्ष हो जाने पर उक्त मानस-प्रत्यक्षगम्य सम्बन्ध से जिस प्रकार घटादि-अर्थविषयक ज्ञान का ग्रहण हुआ था उसी प्रकार अर्थ अनुमिति हो जाने के पश्चात् अनुमेय अर्थ के ज्ञान का भी इसी सम्बन्ध से ग्रहण हो जाता है। इसी प्रकार स्मृतिज्ञान तथा अन्य सभी परोक्ष ज्ञानों का भी ग्रहण इस व्याप्यव्याप्तृत्वरूपी प्रकाशकत्व सम्बन्ध से निष्पन्न हो जाने से इस सम्बन्ध को सभी ज्ञानों का ग्राहक माना गया है। उक्त मानस प्रत्यक्षगम्य सम्बन्ध के अतिरिक्त विषयनिष्ठ ज्ञानजन्य ज्ञातता, ज्ञातृत्व या प्राकट्यरूपी अतिशय को भी पार्थसारथि मिश्र उसके जनक ज्ञान का कल्पक (ग्राहक) प्रतिपादित करते हैं।[10]

ज्ञातता या प्राकट्य की ज्ञानभिन्नता

घटादि विषयों का ज्ञान होने पर उनमें ज्ञान द्वारा उत्पादित प्राकट्य या ज्ञातता के आधार पर विवेचित अर्थापत्ति द्वारा ज्ञान की ग्राहकता के सिद्धान्त पर पूर्वपक्षियों की यह आपत्ति है कि विषय में ज्ञानजन्य ज्ञातता ज्ञान से भिन्न नहीं है अपितु ज्ञानस्वरूप है अतः इसके आधार पर अपने स्वरूपभूत ज्ञान का ग्रहण कैसे माना जा सकता है? पूर्वपक्ष के इस प्रश्न के मूल में निहित ज्ञान तथा ज्ञातता का अभेद या एकरूपता भाट्टमीमांसकों को अभिमत नहीं है। उनका कहना है कि

ज्ञान द्वारा विषय में जो प्राकट्य उत्पन्न होता है, उसका अधिकरण घट है जबकि ज्ञान का अधिकरण आत्मा है अतः परस्पर भिन्न अधिकरणवृत्ति दोनों को एकरूप नहीं माना जा सकता। दोनों की भिन्नता व्यवहार से भी सिद्ध हो जाती है। घट के विषय में "**घटो भाति**" ऐसा प्रयोग हुआ करता है, **घटो जानाति** ऐसा प्रयोग नहीं होता। यदि ज्ञान तथा विषयनिष्ठ प्रकाश, प्राकट्य या ज्ञातत्व एक होते तो ऐसा प्रयोग भी होना चाहिए था। इसी प्रकार जैसे '**घटं जानाति**' यह प्रयोग होता है वैसे '**घटं भाति**' यह प्रयोग नहीं होता। ज्ञान तथा प्रकाश या प्राकट्य या ज्ञातता की एकरूपता में दोनों में से एक के स्थान पर दूसरे के प्रयोग की निष्पत्ति हो जाती परन्तु ऐसा होता नहीं है अतः यह सुनिश्चित है कि ज्ञान तथा विषयनिष्ठ प्रकाश या प्राकट्यरूप ज्ञातत्व पृथग् है।[11] यह प्राकट्य या प्रकाश ज्ञान से पृथग् होने के कारण इसके आधार पर ज्ञाततान्यथानुपपत्तिरूपार्थापत्ति द्वारा ज्ञान की ग्राहकता प्रमाणित हो जाती है।

ज्ञानभेद तथा ज्ञान का स्वतःप्रामाण्य

भारतीय चिन्तन के दार्शनिक प्रस्थानों में प्राभाकरों तथा विशिष्टाद्वैतियों को छोड़कर प्रायः सभी दार्शनिक सम्प्रदायों ने ज्ञान को यथार्थ तथा अयथार्थ, इन दो वर्गों में विभाजित किया है। न्यायदर्शन में अनुभव तथा स्मृति को यथार्थ ज्ञान तथा इनसे भिन्न संशय, विपर्यय तथा तर्कज्ञान को अयथार्थ माना गया है।[12] प्राभाकरी मीमांसा में सभी ज्ञानों को यथार्थ मानकर अख्याति के आधार पर अन्य सम्प्रदायों में प्रतिपादित मिथ्याज्ञान की स्थिति में होने वाली विसङ्गति की उपपत्ति प्रदर्शित की गई है।[13] मीमांसा के भाट्टसम्प्रदाय में भी नैयायिकों के समान ज्ञान के 'यथार्थ' तथा 'अयथार्थ' ये दो भेद स्वीकार किए गये हैं। कमलाकरभट्ट ने मीमांसा-कुतूहल में ज्ञानरूप बुद्धि के प्रथम 'अनुभव' तथा 'स्मृति' ये दो भेद प्रदर्शित करने के पश्चात् अनुभवात्मक ज्ञान के यथार्थ तथा अयथार्थ ये दो भेद निरूपित किए हैं। इनमें प्रथम अनुभवात्मक यथार्थ ज्ञान को ही प्रमाणजन्य मानकर इन्होंने प्रमा के रूप में प्रतिपादित किया है।[14]

ज्ञान के यथार्थ तथा अयथार्थरूपी भेद को यद्यपि नैयायिकों के अनुरूप भाट्टमीमांसकों ने भी स्वीकार किया है तथापि इनके मत में वैशिष्ट्य यह है कि अनुभूतिकाल में ये सभी ज्ञानों को यथार्थ ज्ञान के रूप में ही स्वीकार करते हैं। यथार्थ रूप से गृहीत ज्ञान के विषय में होने वाली प्रवृत्ति यदि विफल हो जाए

तभी ये पूर्वगृहीत ज्ञान की अयथार्थता को स्वीकार करते हैं। न्यायमत में ज्ञान यथार्थ तथा अयथार्थ इन दोनों कोटियों से विलक्षण रहता है। प्रवृत्ति, सफल होने पर इनके मत में ज्ञान का याथार्थ्यरूपी प्रामाण्य सफल प्रवृत्ति-हेतु-मूलक अनुमान से सुनिश्चित हुआ करता है। ज्ञान का ग्रहण, अनुव्यवसाय से तथा याथार्थ्यरूपी प्रामाण्य का ग्रहण, ज्ञानग्राहक सामग्री से परतः अनुमान से गृहीत होने के कारण ज्ञानप्रामाण्य के सन्दर्भ में न्यायमत परतः प्रामाण्य का दृष्टिकोण उपस्थापित करता है। ज्ञान के विषय में होने वाली प्रवृत्ति विफल होने पर प्रवृत्ति-वैफल्यमूलक अनुमान से ज्ञान के अप्रामाण्य का प्रतिपादन होने के कारण न्यायमत परतः अप्रामाण्य का दृष्टिकोरण भी उपस्थापित करता है। ज्ञान के विषय में होने वाली प्रवृत्ति, विफल होने पर प्रवृत्ति-वैफ़ल्यमूलक अनुमान से ज्ञान के अप्रामाण्य का प्रतिपादन होने के कारण न्यायमत में अप्रामाण्य भी परतः स्वीकार किया गया है।

नैयायिकों के विपरीत अप्रामाण्य को परतः स्वीकार करने पर भी विधिवाक्य द्वारा निरूपित यागकर्तव्यतारूपी धर्म से संशयरहित प्रवृत्ति को सुनिश्चित करने के लिए भाट्टों ने सर्वप्रथम ज्ञानान्तर से बाधरहित, संशयरहित तथा पक्के तौर उत्पन्न होने वाले अनुभावात्मक ज्ञान को प्रमा निरूपित किया है।[15] तथा ज्ञान-ग्राहक के रूप में प्रदर्शित ज्ञाततान्यथानुपपत्तिप्रसूतार्थापत्ति को ही ज्ञान के प्रामाण्य का भी ग्राहक निरूपित करते हुए वेद के सर्वोच्च प्रामाण्य की रक्षा हेतु स्वतः प्रामाण्यवाद के सिद्धान्त की स्थापना की है।

ज्ञान की द्विविधता

भाट्टसम्प्रदाय में ज्ञान को आत्मा का गुण माना गया है। मानमेयोदयकार नारायण-पण्डित ने गुणनिरूपण-प्रसङ्ग में चौबीस गुणों में बुद्धि (ज्ञान) की गणना की है।[16] तथा आत्मा के छह विशेष गुणों में एक विशेष गुण के रूप में ज्ञान को स्थापित किया है।[17] आत्मा के विशेष गुण के रूप में ज्ञान को नैयायिकों ने भी स्वीकार किया है।[18] परन्तु नैयायिकों के सिद्धान्त से भाट्टसिद्धान्त का अन्तर इतना ही है कि जहाँ नैयायिक ज्ञान को मात्र गुण मानते हैं वहाँ भाट्टमीमांसक ज्ञान को गुण मानते हुए उसे क्रियास्वभाव प्रतिपादित करते हैं। आचार्य कुमारिल भट्ट का कहना है कि (घटादि) विषय में बुद्धि की उत्पत्ति (ज्ञान का होना) ही विषय-प्रकाशनरूप क्रिया कहलाती है। तथा इस ज्ञान द्वारा ही अर्थ का प्रकाशनरूप फल प्राप्त होता है। अतः इस दृष्टि से यह प्रकाशक होने से करण भी कहलाता

है।[19] भाट्टमीमांसकों द्वारा ज्ञान को गुण रूप होने के साथ क्रियारूप मानने पर जयन्तभट्ट का यह आक्षेप है कि यदि ज्ञान को क्रियास्वभाव माना जाए तो फिर उसे प्रत्यक्ष मानना होगा; अतीन्द्रिय नहीं। उत्क्षेपणादि समस्त क्रियाएँ प्रत्यक्षगम्य हों परन्तु ज्ञानरूप क्रिया अप्रत्यक्ष हो यह विभाग मानना युक्तिसङ्गत नहीं है।[20]

भाट्टमीमांसकों का इस आशङ्का पर यह समाधान है कि क्रियास्वभाव मान लेने से ज्ञान की अतीन्द्रियता बाधित नहीं होती। प्रत्येक क्रिया प्रत्यक्षगम्य ही हो यह आवश्यक नहीं है। याग भी एक स्वर्गजनक क्रिया है परन्तु स्वर्गजनकत्व रूप से इसका अवबोध प्रत्यक्ष से नहीं होता अपितु 'यजेत स्वर्गकामः' जैसे वेदवाक्यों द्वारा ही हुआ करता है। लौकिक स्थल में भी 'पचति' पदवाच्य विक्लिति क्रिया भी प्रत्यक्ष नहीं है अपितु अपने कर्म ओदन में निष्पन्न पाकरूप फल के द्वारा अनुमित होती है। इसी प्रकार 'ज्ञान' क्रिया-स्वभाव होने पर भी इसे प्रत्यक्ष ही माना जाए यह आवश्यक नहीं है।[21]

ज्ञान की द्विविधता तथा ज्ञातता-सिद्धान्त का प्रयोजन

भाट्ट-सम्प्रदाय में प्राप्त सन्दर्भों के आधार पर ज्ञान, गुण तथा क्रिया इन दो रूपों में अभिव्यक्त हुआ है। भाट्टमीमांसा में आत्मा की नित्यज्ञान शक्ति से अभिव्यक्त ज्ञान, यद्यपि गुण पदार्थ है तथापि भाट्टमत में न्याय-वैशेषिक के अनुरूप क्रिया को परिस्पन्दात्मक रूप में ही न मानकर धात्वर्थ मात्र को क्रिया माना गया है। इन्द्रिय तथा अर्थ के सम्बन्ध द्वारा जब आत्मा का बाह्य अर्थ के साथ सम्बन्ध होता है, उस समय उसमें बाह्यार्थविषयक ज्ञानात्मक परिणाम को गुण के साथ ही क्रियास्वभाव माना गया है।

एक ही पदार्थ गुण तथा क्रियास्वभाव दोनों रूपों में कैसे सम्भव है? यह आशङ्का करें तो यह भी समीचीन नहीं है। विशेष परिस्थितियों में एकरूप में स्वीकृत पदार्थ को दूसरे रूप में भी माना जा सकता है। 'यजेत स्वर्गकामः' यहाँ पर याग को साधन तथा स्वर्ग को साध्य माना गया है। दोनों के इस साध्य-साधनभाव की उपपत्ति के लिए अपूर्व की परिकल्पना की गई है। यह अपूर्व याग की दृष्टि से साध्य तथा स्वर्ग की दृष्टि से साधन-रूप में भी अभिव्यक्ति होता है।[22]

ज्ञान की द्विविधता का सिद्धान्त केवल भाट्टमीमांसा में ही परिलक्षित हुआ हो ऐसी बात नहीं है। अनेक दर्शनसम्प्रदायों में ज्ञान की द्विविधरूपता अभिव्यक्त

हुई है। साङ्ख्ययोग में ज्ञान वृत्तिरूप में तथा उससे सर्वथा भिन्न पुरुष के रूप में भी प्रतिपादित किया गया है। अद्वैत-वेदान्त में अन्तःकरण की वृत्ति तथा ब्रह्म के रूप में दो प्रकार का निरूपित किया गया है। विशिष्टाद्वैत में पराक् अजड-रूप में 'धर्मभूतज्ञान तथा प्रत्यक् अजड रूप में धर्मीभूत ज्ञान के रूप में ज्ञान पदार्थ का द्वैविध्य स्पष्ट है। अतः भाट्टमत में भी गुणरूप में प्रतिपादित ज्ञान की क्रियास्वभावता के प्रतिपादन को असमीचीन नहीं कहा ज़ा सकता।

ज्ञान के द्वैविध्य के साथ ही ज्ञान द्वारा विषय में ज्ञातता की उत्पत्ति तथा उसके बल पर अर्थापत्ति द्वारा ज्ञान की ग्राह्यता का सिद्धान्त भी भाट्टसम्प्रदाय का अपना वैशिष्ट्य है। यागात्मक कर्म की सङ्गति ही इस भाट्टाभिमत ज्ञातता-सिद्धान्त का एकमात्र प्रयोजन परिलक्षित होता है। मीमांसा द्वारा विवेच्य याग के द्रव्य तथा देवता ये दो अंश माने गये हैं। इनमें द्रव्यरूप ज्ञान के विषय को क्षणिक विज्ञानवादियों तथा अद्वैतवादियों के अनुरूप ज्ञान का आकार या विवर्त मानने पर इनसे निष्पन्न याग भी अलीक पदार्थ बन जाता है जिसे सर्वोपरि स्थापित करने के लिए मीमांसा प्रवृत्त हुई है। इस यागरूप कर्म में विनियुक्त होने वाले द्रव्य की यथार्थ सत्ता स्थापित करने के लिए ही ज्ञान की ग्राहकता में बाह्य अर्थ-निष्ठ ज्ञातता के सिद्धान्त का तथा ज्ञान के स्वतःप्रामाण्य के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। ज्ञाततासिद्धान्त के मूल में शून्यवादियों, विज्ञानवादियों तथा अद्वैतवेदान्तियों के अनुसार विषय को ज्ञान का विवर्त मानने के सिद्धान्त का निराकरण कर जिन व्रीहि आदि द्रव्यों पर कर्मकाण्ड आश्रित है उन बाह्य विषयों की सत्ता स्थापित करने की भावना निहित है। कुमारिलभट्ट ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि -''जिन्हें धर्म की सिद्धि करनी है, उन्हें लोकसम्मत प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा अर्थ (विषय) के सद्भाव तथा असद्भाव पर विचार करते हुए पूर्वपक्ष निराकरणपूर्वक क्रिया कर्मानुष्ठान की सङ्गति के लिए अवश्य प्रयास करना चाहिए।[23]

प्रस्तुत वार्तिक की न्यायरत्नाकर व्याख्या में व्याख्याकार पार्थसारथि मिश्र का कहना है कि-''यदि समग्र ज्ञान ब्राह्यार्थशून्य होंगे तो ऐसी स्थिति मे धर्म में वेद प्रमाण हैं, अन्य अप्रमाण हैं। इन्द्रिय-संयोग से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष है। इन्द्रिय-संयोग के बिना होने वाला ज्ञान आभासमात्र है। ज्योतिष्टोमादि कर्म पुण्य हैं, ब्रह्महत्यादि कर्म पाप हैं, कुछ कर्म स्वर्गफल वाले हैं, कुछ कर्म अनियत फल

वाले हैं, कुछ वृष्टि आदि ऐहिक फल प्रदान करने वाले हैं। पाप-पुण्य के ये भेद, कर्म के विभाग, ये सभी वेदादि को अपने ज्ञान से पृथक् न मानने पर अयुक्त हो जाते हैं अतः जिन्हें धर्म की अभिलाषा है ऐसे पुरुषों के लिए यह आवश्यक है कि वे सुगत (बुद्ध) के आशीर्वादरूपी सिद्धान्त में माहायानिक आदियों के मिले हुए विषरूपी सिद्धान्तों का परामर्श करते हुए लोकसम्मत प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा प्रमाणित बाह्यार्थों का सद्भाव कर्मानुष्ठान की सङ्गति के लिए अवश्य स्वीकार करें।[24]

कुमारिलभट्ट के वार्तिक तथा इस पर पार्थसारथि मिश्र की उक्त व्याख्या के प्रकाश में भाट्टमीमांसकों द्वारा प्रतिपादित ज्ञातता-सिद्धान्त तथा उसके आधार पर स्थापित स्वतःप्रामाण्यवाद के मूल में निहित वेदार्थ (कर्म) के सङ्गति की इनकी भावना स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हो जाती है।

सन्दर्भ

1. सर्वज्ञ ज्ञानं निराकारमेव, तर्कभाषा, पृ०-547, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, 1990
2. बुद्ध्यादयः षट् मानसप्रत्यक्षाः तर्कभाषा, पृ०-469
3. साक्षात्प्रतीतिः प्रत्यक्षं मेयमातृप्रमासु सा। प्रकारणपञ्चिका, अमृतकला, पृ० 104, का० हि० वि० वि० वाराणसी, 1961, मेयमात्रवभासरूपा संविदेका। वही, पृ०-171
4. "न हि अज्ञातेऽर्थे कश्चिद् बुद्धिमुपलभते। ज्ञाते तु अनुमानादवगच्छति।"-शाबरभाष्य अ० 1, पा० 1, सू० 5, मीमांसादर्शनम्, पृ०-279, भारतीय विद्या-प्रकाशन, वाराणसी, 1971
5. "ज्ञानं स्वांशं न गृह्णाति ज्ञानोत्पत्तेः स्वशक्तिवत्। -श्लो०वा०अ० 1, पा० 1, सू० 5, शून्यवाद वार्तिक सङ्ख्या 175, मीमांसादर्शनम् पृ०-262
6. नान्यथा ह्यर्थसद्भावो दृष्टः सन्नुपपद्यते।
   ज्ञानं चेन्नेत्यतः पश्चात्प्रमाणमुपजायते।।" श्लो०वा०अ० 1, पा० 1, सू० 5, शून्यवाद वा० 182, मीमांसादर्शनम् पृ०-262
7. अथवा ज्ञानक्रियाद्वारको यः कर्तृभूतस्यात्मनः कर्मभूतस्य चार्थस्य परस्परं सम्बन्धो व्याप्तृव्याप्यत्वलक्षणः स मानसप्रत्यक्षावगतो विज्ञानं कल्पयति, नह्यागन्तुककारण-मन्तरेणात्मनोऽर्थं प्रति व्याप्तृत्वमुत्पत्तुमर्हति। तच्च कारणं लोके ज्ञानशब्देनाभिधीयते। शास्त्रदीपिका, पृ०-56, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 1988
8. येऽपि स्वप्रकाशां संविदमातिष्ठन्ते तैरप्ययं सम्बन्धो मानसप्रत्यक्षगम्योऽवश्य-मभ्युपगमनीयः। अन्यथा 'ज्ञातो मया घटः' इति ज्ञानज्ञेयसम्बन्धो ज्ञातृज्ञेयसम्बन्धो वा न व्यवहर्तुं शक्यते। यन्मात्रं हि प्रकाशितं तन्मात्रमेव व्यवहर्तुं शक्यते नान्यत्। इह च

संविन्मात्रं स्वयं प्रकाशितं, अर्थोऽपि तद्वशात्, ज्ञानसम्बन्धस्तु केन प्रकाशितः। सोऽपि तयैव संविदा प्रकाशिता इति चेत्। न तदुत्पत्त्यवस्थायां सम्बन्धस्यानिष्पन्नत्वात्। प्रकाशकत्वमेव हि संविदा विषयेण-सम्बन्धो नान्यः, तेन जातायां संविदि विषये च प्रकाशिते निष्पद्यमानः सम्बन्धो न तया संविदा शक्यते विषयीकर्तुम्, विरम्यव्यपारासम्भवात्। न हि प्रथममर्थं प्रकाश्य पुनः सम्बन्धं प्रकाशयितुमर्हति क्षणिकत्वात्। अथ सम्बन्धोऽपि स्वयं प्रकाशत इति मन्येथाः नात्र प्रमाणमस्ति। तस्मान्मानप्रत्यक्षगम्योऽर्थेन सहात्मनः सम्बन्धो ज्ञानं कल्पयतीति रमणीयम्। वही, पृ०-56

9. अनुमितेऽपि चार्थे, ज्ञातो मयाऽग्निरिति अग्निं ज्ञातमनुसन्धत्तेऽस्तत्त्वं वक्तव्यं, ज्ञाने प्रमाणमुच्यते ज्ञानक्रियाजनितो ज्ञातुर्ज्ञेयेन सहाऽऽसत्वसंबन्ध.....।'' न्यायरत्नाकर-व्याख्या, मीमांसादर्शनम्, पृ०-263
10. अर्थगतो वा ज्ञानजन्योऽतिशयः कल्पयति ज्ञानम् शास्त्रदीपिका, पृ०-56-57
11. स च प्रकाश-पदार्थो घटसमानाधिकरणः। स एव ज्ञानस्य कल्पकः, ज्ञानाच्च भिन्नः। तस्य ज्ञानरूपत्वे घटसमानाधिकरण्यमनुपपन्नं स्यात्। ज्ञानं हि आत्मसमवेतमात्मसमानाधिकरणतयैव भासमानं कथं घटसमानाधिकरणं स्यात्? अन्य-सामवेतस्यान्यसमानधिकरणत्वेऽतिप्रसङ्गात्। शब्दप्रयोगबलादपि ज्ञानप्रकाशयोर्भेदो भवति। 'घटो भाति' इतिवन्न 'घटो जानाति' इति प्रयोगः। 'घटं जानाति' इतिवच्च न 'घटं भाति' इति प्रयोगः। ज्ञान-प्रकाशयोरेकरूपत्वे जानाति-पर्यायाणां भातिपर्यायाणाञ्च साङ्कर्यं भवेत्। न चैतदस्ति। अतश्च भानप्रकाशपदार्थो न ज्ञानपदार्थः। अतिरिक्तश्च प्रकाश-पदार्थः ज्ञानस्य कल्पक इति सिध्यति। मीमांसा-दर्शन-विमर्शः, पृ०-86, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 1976
12. सा च सङ्क्षेपतो द्विविधा। अनुभवः स्मरणञ्च। अनुभवोऽपि द्विविधो, यथार्थोऽयथार्थश्चेति। अयथार्थस्तु अर्थव्यभिचारी, अप्रमाणजः। स त्रिविधः। संशयस्तर्को विपर्ययश्चेति।'' तर्कभाषा, पृ०-547
13. प्रकरण-पञ्चिका, पृ०-48 से 62, काशी हिन्दू-वि०वि० प्रकाशन, वाराणसी
14. बुद्धिर्ज्ञानम्। सा द्विधा। अनुभवः स्मृतिश्च। अनुभवो द्विधा यथार्थोऽयथार्थश्च। आद्यःप्रमाणजन्यः सैव प्रमा। मीमांसाकुतूहलम्, पृ०-72, सम्पूर्णानन्द संस्कृत-विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1987
15. तस्माद् दृढः यदुत्पन्नं नापि संवादमृच्छति।
ज्ञानान्तरेण विज्ञानं तत् प्रमाणं प्रतीयताम्।। श्लोकवार्तिक 2.80, मीमांसादर्शनम् भारतीय विद्या-प्रकाशन, वाराणसी, 1979, पृ०-53
16. लक्षणलक्षितो गुणः रूपरसगन्धस्पर्शसङ्ख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्व-गुरुत्वद्रवत्वस्नेहबुद्धिसुखदुःखेच्छा-द्वेष-प्रयत्नसंस्कारध्वनिप्राकट्यशक्ति-

भेदाच्चतुर्विंशतिविध।'' – मानमेयोदय, पृ०–240, थियोसोफिकल पब्लिशिंग हाऊस, अड्यार मद्रास, 1933

17. बुद्धिसुखदु:खेच्छाद्वेषप्रयत्ना आत्मविशेषगुणाः। वही, पृ०–248
18. बुद्ध्यादयस्तु विशेषगुणाः। गुणत्वे सत्येकेन्द्रियमात्रग्राह्यत्वाद्, रूपवत् अतो न दिगादिगुणाः। तस्मादेभ्योऽसृभ्यो व्यतिरिक्तो बुद्ध्यादीनां गुणानामाश्रयो गुणी वक्तव्यः स एवात्मा। तर्कभाषा, पृ०–257
19. तेन जन्मैव विषये बुद्धेर्व्यापार इष्यते।
    तदेव च प्रमारूपं तद्वती करणं च धीः।।
    श्लोकवार्त्तिक, अ० 1, पा० 1, सू० 4, वा० 56
20. क्रियास्वभावत्वे तस्य प्रत्यक्षत्वमेव स्यात् न त्वनुमेयत्वम्। उत्क्षेपणादयः क्रियास्सर्वा अपि प्रत्यक्षाः ज्ञानक्रिया परमप्रत्यक्षमिति विभागो न मुक्तिसङ्गतः। – मीमांसा–दर्शन–विमर्शः पृ०–90
21. किञ्च यागादिनिष्ठं यत्करणत्वं तदप्यपूर्व–साधनत्वेनैवोपपादनीयम्। यागो व्यापारः कामं भवतु प्रत्यक्षः किन्तु तत्र विद्यमानमपूर्वसाधनत्वमतीन्द्रियमेव अतएव यागत्वेन यागो न धर्मः किन्त्वपूर्वसाधनत्वेनैव सो धर्मः। श्रेयस्साधनता ह्येषां नित्यं वेदात्प्रतीयते (श्लो०वा०इति)। एवञ्चोत्क्षेपणादीनां क्रियाणां प्रत्यक्षत्वेऽपि काश्चन क्रिया अप्रत्यक्षा अपि स्वीकर्तव्या एव।.......।

विक्लृत्तिरूपा च क्रिया न प्रत्यक्षेण सिध्यति, किन्तु फलेनौदनेन साऽनुमीयते अत्र स्थालीपुलाकन्यायोऽप्यानुकूल्यमावहति। अङ्गुलिभिः पुलाकं स्पृशन्तो लोका वदन्ति विक्लित्तर्न जाता पक्वमोदनञ्चानुभवन्तो जाता विक्लृत्तिरिति। एवञ्चानुमेया अपि क्रियायास्सत्वात् ज्ञानस्यापि क्रियास्वाभाव्येऽनुमेयत्वमव्याहतमिति। वही, पृ०–91, पंक्ति 6 से 23

22. 'यजेत स्वर्गकाम' इति वाक्यावबोधितस्य यागस्वर्गयोस्साध्यसाधन–भावस्योपपत्तयेऽर्थापत्तिप्रमाणेन मध्येऽपूर्वं कल्पयते। तच्चापूर्वं साध्यमपि भवति साधनमपि वही, पृ०–90, पं० 26, सं० पृ०–91, पं० 2
23. तस्माद्धर्मार्थिभिः पूर्वं प्रमाणैर्लोकसम्मतैः।
    अर्थस्य सदसद्भावे यत्नः कार्यः क्रियां प्रति।। श्लो०वा०अ० 1, पा० 1, सू० 5, वा० 4, मीमांसादर्शनम् पृ०–179
24. द्रष्टव्य न्यायरत्नाकर व्याख्या, मीमांसादर्शनम् पृ०–180 पं० 7 से 16

19
भाट्टमीमांसा में प्रमाण-लक्षण-विमर्श

विषय-प्रवेश-भारतीय चिन्तन की परिधि में समाविष्ट प्रायः सभी विचारधाराओं में प्रमाण-मीमांसा से परिपुष्ट तात्त्विक चिन्तन ही ग्राह्य माना गया है। दार्शनिक सम्प्रदायों में तात्त्विक चिन्तन तथा उनके परिपोषक प्रमाणों के स्वरूप तथा सङ्ख्या के विषय में मतभेद होने पर भी प्रमाणतत्त्व का प्राथम्य सभी को शिरोधार्य है।

भारतीय दार्शनिक चिन्तन की नास्तिक धारा में जैन दार्शनिक आचार्य समन्तभद्र ने 'स्वपराभासी ज्ञान' को प्रमाण के स्वरूप में स्थापित किया।[1] परवर्ती विद्वान् 'न्यायावतारकार' सिद्धसेन दिवाकर ने इसमें बाधरहित विशेषण की योजना की[2] तो आचार्य अकलङ्कदेव ने अनधिगतार्थक अविसंवादि-ज्ञान को प्रमाण के रूप में स्थापित किया।[3] बौद्ध दार्शनिकों ने भी 'प्रमाण' को अज्ञात अर्थ के प्रकाशक के रूप में प्रतिपादित किया है।[4]

आस्तिक दर्शन की श्रेणी में लब्धप्रतिष्ठ दर्शनों में न्यायवैशेषिक, साङ्ख्य योग, वेदान्त तथा प्राभाकरी मीमांसा में प्रतिपादित प्रमाण-लक्षण अनुभूति के साधन के रूप में या अनुभूति के रूप में अभिव्यक्त हुए हैं।

कुमारिल तथा पार्थसारथि के प्रमाणलक्षण-मात्र विधि-वाक्यात्मक वेद को निरपेक्षरूप से धर्मबोधक प्रमाण निरूपित करने वाले जैमिनि के चोदना-सूत्र की व्याख्या करते समय आचार्य कुमारिलभट्ट ने सर्वप्रथम 'ज्ञानान्तर से जिसका बाध नहीं होता तथा जो संशय से रहित होता है, ऐसे ज्ञान को प्रमा 'निरूपित कर'[5] इस प्रकार के 'अज्ञात अर्थ के प्रापक (ज्ञान) को 'प्रमाण' के रूप में अभिव्यक्त किया है।[6] कुमारिलभट्ट के अनुयायी पार्थसारथिमिश्र कारण दोष तथा बाधकज्ञान-रहित अगृहीत अर्थ के ग्राहक (बोधक) ज्ञान को प्रमाण निरूपित करते हैं।[7]

कमलाकर भट्टकृत प्रमाणलक्षण-कुमारिल तथा पार्थसारथि के

प्रमाण-लक्षणों के परिशीलन से 'प्रमाण' का लघु रूप '**अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम्**' इस रूप में रूढ़ हो गया है। यह लक्षण अज्ञात अर्थ के ग्राहक ज्ञान को प्रमा तथा उस प्रमा के करण के रूप में प्रमाण तत्त्व का प्रतिपादन करता है। तर्कभाषाकार नैयायिक केशवमिश्र ने इसी लक्षण को मीमांसकों द्वारा प्रतिपादित लक्षण मानकर पूर्वपक्ष के रूप में उद्धृत किया है।[8] सोलहवीं शताब्दी के मध्यकाल में विद्यमान वाराणसी के भट्टवंश के प्रसिद्ध विद्वान् कमलाकरभट्ट ने 'प्रमाण' का यही स्वरूप प्रतिपादित किया है। अपने ग्रन्थ 'मीमांसा कुतूहलम्' में बुद्धि-निरूपण के प्रसङ्ग में कमलाकरभट्ट ने सर्वप्रथम बुद्धि के 'अनुभव' तथा 'स्मृति' ये दो भेद प्रतिपादित करने के उपरान्त यथार्थ तथा अयथार्थ इन अनुभव के दो भेदों में से 'प्रमा' को यथार्थ अनुभव के रूप में स्थापित किया है। इस प्रमा के कारण प्रमाण को इन्होंने भी **अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम्** इस पङ्क्ति द्वारा ही अभिव्यक्त किया है। यद्यपि केशवमिश्र ने भी प्रमा को यथार्थ अनुभव के रूप में ही प्रतिपादित किया है परन्तु इसके कारण मात्र को वे '**प्रमाकरणं प्रमाणम्**' इस पङ्क्ति द्वारा लक्षण के रूप में स्थापित करते हैं। भाट्टमतावलम्बी मीमांसक कमलाकर भट्ट भी प्रमा को यथार्थ अनुभवात्मक ही मानते हैं परन्तु इनकी दृष्टि में यह यथार्थ अनुभव वह ज्ञान है जो पूर्व में कभी नहीं हुआ था अतः प्रमा अनधिगतार्थ यथार्थ अनुभवरूप होने से इसके करण प्रमाण को इन्होंने अनधिगार्थ गतार्थ रूप में प्रतिपादित किया है।[9]

वेदान्त्र-परिभाषा का समन्वितप्रमाण-लक्षण-अद्वैतवेदान्त के प्रकरण ग्रन्थों में तार्किक शैली में निबद्ध '**वेदान्तपरिभाषा**' नाम के ग्रन्थ में ग्रन्थकार धर्मराजध्वरीन्द्र ने '**प्रमाकरणं प्रमाणम्**' इस पङ्क्ति द्वारा केशवमिश्र के अनुरूप 'प्रमाण' के स्वरूप को अभिव्यक्त किया है परन्तु जिस 'प्रमा' के करण के रूप में प्रमाण की अभिव्यक्ति की गई है, उस प्रमा के दो लक्षण इन्होंने प्रस्तुत किये हैं। प्रथम लक्षण उन लोगों की दृष्टि से प्रतिपादित किया गया है जो स्मृति को प्रमा नहीं मानते। स्मृति-व्यावृत्त प्रमा के स्वरूप की अभिव्यक्ति इन्होंने '**अनधिगत-अबाधित-विषय ज्ञानत्व**' के रूप में की है। जो लोग स्मृति को भी प्रमा मानते हैं, उनकी दृष्टि से '**अबाधित विषय-ज्ञानत्व**' के रूप में इन्होंने प्रमा के स्वरूप को मान्य किया है। इन दोनों लक्षणों में प्रथम अनधिगत-अबाधित-विषय ज्ञानत्व-रूप प्रमा का लक्षण भाट्ट-मीमांसकों की दृष्टि से ही निरूपित किया गया है।[10]

धर्मराजाध्वरीन्द्र का 'प्रमाण-लक्षण' यद्यपि नैयायिक केशवमिश्र के लक्षण के अनुरूप है तथापि यह 'प्रमाण' जिस प्रमा का करण है उस प्रमा के स्वरूप के निर्धारण में इन्होंने भाट्टमीमांसकों का समर्थन किया है अतः प्रमाण लक्षण के निरूपण में न्यायमत तथा 'प्रमा' के स्वरुपनिर्धारण में मीमांसक मत के अवलम्बन से यद्यपि दोनों के समन्वय का इनका दृष्टिकोण प्रतीत होता है तथापि इनके द्वारा प्रतिपादित प्रमा का तात्त्विक चिन्तन, प्रमाण के दृष्टिकोण से भी इन्हें भाट्टमीमांसकों का ही पक्षधर सिद्ध करता है।

भाट्ट परम्परा के प्रमाणलक्षण का प्रयोजन–महर्षि जैमिनि ने **'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः'**[11] अपने इस द्वितीय सूत्र द्वारा धर्म को मात्र विधि द्वारा बोध्य माना है। यद्यपि वेद, विधि-मन्त्र-अर्थवाद-नामधेय तथा निषेध, इन पाँच भागों में विभक्त है तथापि इनमें निरपेक्ष भाव से धर्मबोधकत्त्व 'चोदना'-विधिवाक्य मात्र में अभिमत होने के कारण ही इन्होंने धर्म को चोदनालक्षण निरूपित किया है। यह चोदनापरपर्याय 'विधि' जिस अर्थ 'धर्म' का बोध कराती है वह धर्मरूप अर्थ अन्य किसी भी प्रमाण से ज्ञात न रहने के कारण अज्ञात अर्थ है। इस अज्ञात धर्म के प्रमाण के रूप में विधिवाक्यों के प्रतिपादन के लिए ही अज्ञातार्थ ग्राहकत्व या अनधिगतार्थगन्तृत्व को प्रमाण का स्वरूप माना गया है। इस 'प्रमाण-तत्त्व' का प्रामाण्य, अज्ञातार्थज्ञापकत्त्व पर ही निर्भर है। प्रामाण्य के अज्ञातार्थज्ञापकत्व के प्रतिपादनार्थ आचार्य कुमारिलभट्ट का कहना है कि 'पूर्वज्ञात' अर्थ स्मृति होने से उसके करण को प्रमाण नहीं कहा जा सकता है अपितु अग्रहीतग्राही ज्ञान 'प्रमा' होने के कारण ऐसे ज्ञान के करण को ही 'प्रमाण' कहा जा सकता है।[12]

मीमांसादर्शन की भाट्टपरम्परा में जिस प्रकार 'प्रमाण' का स्वरूप अनधिगतार्थगन्तृत्व रूप में अभिमत है उसी प्रकार प्रामाण के इस स्वरूप की सङ्गति के लिए प्रमाणजन्य प्रमात्मक ज्ञाननमान्त्र के 'स्वतः प्रामाण्य' का सिद्धान्त्र भी माना गया है। प्रमाणजन्य ज्ञान में अन्य प्रमाणों द्वारा दोष सिद्ध होने तक सभी अनुभवात्मक ज्ञानों को यथार्थ मानना ही स्वतः प्रामाण्य का अभिप्राय है।[13] प्रामाण्य के इस स्वतस्त्ववाद के सिद्धान्त का भी प्रमाणलक्षण के प्रयोजन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। विधिवाक्य द्वारा प्रतिपादित यागकर्तव्यतारूपी धर्म में किसी प्रकार का संशय उपस्थित न हो, यही धर्मज्ञान के साथ समस्त अनुभवात्मक

प्रमाणजन्य ज्ञानों में याथार्थ्यस्वरूप स्वतः प्रामाण्य मानने का प्रयोजन है। इस प्रकार स्वतः प्रामाण्यवाद से समन्वित भाट्टाभिमत अनधिगतार्थगन्तृत्वरूप प्रामाणलक्षण की चरितार्थता विधिवाक्यों के प्रमाण्य की निष्पत्ति में ही परिलक्षित हुई है।

भाट्टाभिमत प्रमाणलक्षण पर आपत्ति तथा समाधान-भाट्टमीमांसकों द्वारा स्वीकृत 'प्रमाण-लक्षण' पर नैयायिकों की यह आपत्ति है कि इस लक्षण की धारावाहिक ज्ञान-स्थल में अव्याप्ति हो जाती है। **'अयं घटः', 'अयं घटः'** यह **घट है, यह घट है**, इस प्रकार के धारावाहिक अनुभव में द्वितीय, तृतीय आदि ज्ञानों में पूर्वज्ञात घटादि की ही विषमता रहती है अतः पूर्वज्ञान-विषयक धारावाहिक ज्ञानस्थल में अनधिगत या अज्ञात विषय के ग्राहकत्व-रूप में स्वीकृत प्रमाणलक्षण सङ्गत न होने से भाट्टपरम्पराभिमत लक्षण अव्याप्ति दोष से दूषित है।[14]

समाधान-प्रस्तुत आपत्ति के निराकरणार्थ भाट्ट-प्रस्थान में द्वितीयादि ज्ञान-विषयों को द्वितीयादि क्षणों से विशिष्ट मानकर उनके अनधिगत-विषयत्व की उपपत्ति की गई है। प्रमाणलक्षण की भाट्टमीमांसकों की यह उपपत्ति काल तत्त्व की प्रत्यक्षवेद्यता पर प्रतिष्ठित है। 'काल' की प्रत्यक्षगम्यता न्याय-शास्त्र में अभिमत नहीं है। तर्कभाषाकार केशवमिश्र का कहना है कि क्षणरूप काल अत्यन्त सूक्ष्म होने से प्रत्यक्षगम्य नहीं है अतः इस कालभेद की प्रत्यक्षगम्यता पर अवलम्बित भाट्टमीमांसकों द्वारा अनधिगत-अर्थ-विषयक ज्ञान के करण रूप में प्रतिपादित प्रमाण-लक्षण भी निरस्त हो जाते हैं।[15]

जैन तथा बौद्ध आचार्य का समन्वित दृष्टिकोण-नास्तिक दार्शनिक चिन्तन में जैन तथा बौद्ध आचार्यों ने इस प्रसङ्ग में अपना समन्वित दृष्टिकोण, अभिव्यक्त किया है। जैनों की दिगम्बर-परम्परा में तथा बौद्ध आचार्य 'अर्चट' के चिन्तन में 'धारावाहिक ज्ञान' में 'सूक्ष्म काल-भेद का ग्रहण मात्र 'योगि प्रत्यक्ष' में माना गया है अतः योगियों की दृष्टि से 'धारावाहिक ज्ञान' का प्रामाण्य इन्हें अभिमत हैं। न्यायमत के अनुरूप काल (क्षण) का लौकिक प्रत्यक्ष इन्हें मान्य न होने से सर्वसाधारण की दृष्टि से 'धारावाहिक ज्ञान' का प्रामाण्य इन्हें अभिमत नहीं है।[16]

पार्थसारथि मिश्र-कृत समाधान-भाट्टभिमत प्रमाणलक्षण की सङ्गति के लिए अपेक्षित 'काल' की प्रत्यक्ष-गम्यता के उपाणदनार्थ पार्थसारथि मिश्र का कहना है कि 'क्षण रूप काल -भेद अतिसूक्ष्म होने से इसका बोध नहीं होगा यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि देवताओं को प्रिय (अवश्य ही) सूक्ष्मदर्शी हैं।[17]

'काल' के प्रत्यक्षवेद्यत्व की सङ्गति 'लोकानुभव' के बल पर सिद्ध करने हेतु पार्थसारथि मिश्र ने यह तर्क उपस्थित किया है कि-**किमत्र घटोऽवस्थितः?** क्या यहाँ घट है? इस प्रश्न का **अस्मिन् क्षणे मया उपलब्धः** अभी इस क्षण मैंने देखा या **प्रातरारभ्य एतावत् कालपर्यन्तं मया उपलब्धः** प्रातः काल से लेकर अब तक मैंने देखा। इन प्रश्नों के उत्तर, 'काल' के क्षण रूप भेद के प्रत्यक्षवेद्यत्व को सिद्ध कर देते हैं।[18]

रामकृष्ण-भट्ट-कृत समाधानः-नैयायिकों की यह आपत्ति है कि रूप-रहित द्रव्य-'काल' का प्रत्यक्ष कैसे होगा? इस आपत्ति के निराकरणार्थ शास्त्र दीपिका की 'युक्ति स्नेह प्रपूरणी-सिद्धान्तचन्द्रिका व्याख्या के रचनाकार श्रीरामकृष्ण भट्ट का कहना है कि **रूपि प्रत्यक्षम्** ऐसा नियम भाट्टमत में स्वीकार नहीं है। भाट्टमत में इन्द्रिय का अर्थ के साथ संयोग होने पर वस्तु का विशद रूप से अवभासित होना ही प्रत्यक्ष है। जब संवित् (ज्ञान) उत्पन्न होती है तब वही परोक्ष तथा अपरोक्ष दोनों को प्रकाशित करते हुए यह प्रत्यक्ष है तथा यह अप्रत्यक्ष है', ऐसा विभाजन करती है।[19] संवित् चूँकि क्षण रूप में विद्यमान काल के प्रत्यक्षत्व का भी प्रतिपादन कर रही है अतः काल का प्रत्यक्षवेद्यत्व सर्वथा समीचीन है।

चिदानन्द पण्डित का दृष्टिकोण-नीतितत्त्वाविर्भाव सञ्ज्ञक ग्रन्थ के रचयिता पण्डित चिदानन्द ने परत्वापरत्वादि ज्ञानात्मक हेतुओं से इनके कारण के रूप में 'काल' के अनुमानगम्यत्व का निराकरण करते हुए इसे प्रत्यक्षगम्य प्रतिपादित किया है। 'काल' की प्रत्यक्ष वेद्यता की सिद्धि के लिए इन्होंने निम्नलिखित 'अनुमान' प्रस्तुत किया है-

1. काल प्रत्यक्ष है (प्रतिज्ञा)
2. मन रहित होत हुए विभु होने से (हेतु)
3. आत्मवत् (उदाहरण)

इस अनुमान के बल पर काल को प्रत्यक्ष सिद्ध कर, क्षण रूप काल को प्रत्यक्षगम्य मानकर ये धारावाहिक ज्ञानस्थल में प्रमाण--लक्षण की सङ्गति प्रदर्शित करते हैं।[20]

कमलाकर-भट्ट कृत समाधान-धारावाहिक ज्ञानस्थल में प्रमाण-लक्षण की सङ्गति के लिए भट्ट ने दो तर्क उपस्थापित किये हैं। काल के प्रत्यक्ष के

सम्बन्ध में प्रथम तर्क इन्होंने यह उपस्थित किया है कि 'काल' षडिन्द्रियवेद्य होने से धारावाहिक ज्ञान स्थलों में विभिन्न क्षणों के प्रत्यक्षत्व की सङ्गति हो जाती है। षडिन्द्रिय से इनका क्या तात्पर्य है इसे इन्होंने स्पष्ट नहीं किया है। बाह्येन्द्रिय-सहकृत मन की 'काल' के प्रत्यक्ष में कारणता स्वीकार करना ही षडिन्द्रियवेद्यत्व से इनका अभिप्राय है। 'काल' बाह्य तथा आभ्यन्तर, उभयवर्ती द्रव्य है। जिस प्रकार 'इस क्षण, में घट देख रहा हूँ', यह बोध काल के बाह्य प्रत्यक्ष को सिद्ध करता है वैसे ही इस क्षण मैं सुखी हूँ, अभी, बड़ा कष्ट है ये अनुभव, काल की मानस-प्रत्यक्षगम्यता को भी सिद्ध करते हैं। 'मानस-प्रत्यक्ष' में रूप की स्थिति एवं अपेक्षा नहीं रहती अतः मन से संयुक्त इन्द्रिय द्वारा मन की महिमा से काल का रूप-रहित होने पर भी प्रत्यक्ष सम्भव है। कदाचित् इसी अभिप्राय से 'भट्ट' ने काल को षडिन्द्रियवेद्य कहा है।

प्रथम तर्क उपस्थित करने के पश्चात् भी न्यायदर्शन की प्रबलता के संस्कार के कारण इन्हें द्वितीय तथा तृतीय तर्कों को भी उपस्थित करने की आवश्यकता प्रतीत हुई है।

द्वितीय तर्क यह है कि पूरे धारावाहिक ज्ञान को अलग-अलग ज्ञान का समूह न मानकर एक ही माना जाय। इस स्थिति में द्वितीयादि 'ज्ञान' की स्थिति ही न होने से इस स्थल में प्रमाण के अनधिगतार्थगन्तृत्व रूपता की असङ्गति का प्रश्न स्वतः ही समाप्त हो जाता है।

तृतीय तर्क वेदान्त से आयातित है। धारावाहिक ज्ञान में प्रत्येक उत्तर ज्ञान, सम्बद्ध एकविषयक ज्ञान की धारा के रूप में माना जाय, ऐसी स्थिति में चित्तवृत्ति एकविषयक होने से ज्ञान की एकरूपता की उत्पत्ति कर यहाँ लक्षण-सङ्गति की गई है।[21]

वेदान्तपरिभाषाकार-कृत समाधान-धर्मराजाध्वरीन्द्र की **वेदान्तपरिभाषा** में धारावाहिक ज्ञान स्थल में 'अनधिगत-अबाधित-विषयज्ञानत्व के करण रूप में स्थापित प्रमाणलक्षण की सङ्गति मीमांसा की दृष्टि से उत्तरोत्तर ज्ञान-विषयों में क्षण के निवेश से की गई थी परन्तु काल के रूप-रहित 'द्रव्य' होने से उसके चाक्षुष प्रत्यक्ष में 'न्याय' द्वारा आपत्ति किये जाने पर द्वितीय समापत्ति वेदान्त की दिशा से की गई है। 'वेदान्त' में धारावाहिक ज्ञान-स्थल में ज्ञान-भेद नहीं है। जब तक घटस्फुरण होता रहता है तब तक घट के आकार से युक्त 'अन्तःकरण'

की वृत्ति एक ही रहती है अतः ज्ञानभेद न होने से यहाँ पर अनधिगत, अबाधित, विषय ज्ञानत्व रूप प्रमात्व की सङ्गति हो जाती है।[22]

वासुदेव दीक्षित कृत समाधान-18 वीं शताब्दी के वासुदेवदीक्षित ने अनधिगतार्थगन्तृत्व स्वरूप प्रमाण लक्षण की धारावाहिक ज्ञान स्थल में सङ्गति स्थापित करने के लिए दो तर्क प्रस्तुत किये हैं। प्रथम तर्क चिदानन्द पण्डित तथा वेदान्त-परिभाषाकार का ही अवलम्बन करता है। इनका कहना है कि-'मैं अनुभव करता हूँ यह प्रतीति केवल प्रत्यक्षज्ञान में ही हुआ करती है। अनुमिति आदि ज्ञान स्थलों में नहीं होती। मैं पर्वत पर वह्नि का अनुमान करता हूँ, यही प्रतीति निष्पन्न होती है अतः 'अनुभव करता हूँ' इस प्रतीति को 'अनुमान करता हूँ' 'उपमिति करता हूँ, इत्यादि प्रतीतियों से भिन्न मानना ही होगा। 'अनुभव' से अन्य प्रतीतियों की भिन्नता से यह सिद्ध हो जाता है कि 'अनधिगतार्थगन्तृत्व' का अगृहीत-ग्राहित्त्व ही अनुभवत्व है अतः अनुभव को अगृहीत ग्राहित्व से भिन्न नहीं माना जा सकता। धारावाहिक ज्ञानस्थल में इस धारावाहिक ज्ञान की स्थिति तक उतने पूरे समय तक व्याप्त रहने वाला ज्ञान एक ही रहता है। चूँकि उतने पूरे समय तक स्फुरित होने वाले 'घट-ज्ञान' की एक ही कारण-सामग्री रहती है तथा कारण सामग्री के भेद से ही कार्य का भेद हुआ करता है अतः यहाँ पर कारणभेद न होने से धारावाहिक ज्ञान-स्थल में अनेक ज्ञानों की कल्पना अप्रामाणिक होने के कारण एक ज्ञान मान लेने पर उक्त अव्याप्ति की आपत्ति स्वतः निरस्त हो जाती है।[23]

श्रीदीक्षित का दूसरा तर्क यह है कि यदि धारावाहिक ज्ञानस्थल में विद्यमान क्षणरूप काल के भेद का, सूक्ष्मता के कारण प्रत्यक्ष न भी मानें तो भी 'अनाधिगतार्थगन्तृत्व' रूप प्रमाण-लक्षण की यहाँ सङ्गति होने में कोई बाधा नहीं है। कारण यह है कि 'अपने समान विषय वाले ज्ञान की बिना अपेक्षा किये उत्पन्न होने वाला ज्ञान ही अनाधिगतार्थगन्तृ ज्ञान है। धारावाहिक ज्ञानस्थल में द्वितीयादि ज्ञान बिना प्रथमादि ज्ञानों की अपेक्षा किए उत्पन्न होते हैं अतः अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाण की उक्त परिभाषा कर दिये जाने पर 'क्षण' के प्रत्यक्ष न होने की स्थिति में भी प्रमा-लक्षण की सङ्गति हो जाती है।[24]

उपसंहार-महर्षि जैमिनि ने अपने 'सूत्रग्रन्थ' में धर्म को 'वेद' के पञ्चविध भागों में से एक मात्र विधिगम्य प्रतिपादित किया। कुमारिल भट्ट तथा उनके

अनुयायियों द्वारा अनधिगतार्थगन्तृत्व या अज्ञातार्थ-ग्राहकत्व रूप से प्रतिपादित 'प्रमाण-लक्षण' का प्रयोजन भी 'विधिवाक्यों' के निरपेक्ष स्वतःप्रामाण्य का ही प्रतिपादन करना है। इस प्रमाण-लक्षण की धारावाहिक-ज्ञानस्थल में सङ्गति स्थापित करने के लिए भाट्टमीमांसकों को अत्यधिक ऊहापोह करना पड़ा है। इस सङ्गति-स्थापन की प्रक्रिया में कमलाकरभट्ट, चिदानन्दपण्डित तथा वासुदेव दीक्षित को वेदान्त की प्रक्रिया का अवलम्बन करना पड़ा है। 'प्रमाण-लक्षण' की सङ्गति में दृष्टिगोचर वेदान्त का प्रभाव **'व्यवहारे भाट्टनयः'** इस उक्ति की चरितार्थता के साथ भाट्टमीमांसकों के वेदान्त-समन्वित दृष्टिकोण को भी स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त कर रहा है।

सन्दर्भ-निर्देश

1. स्वपराभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम्, स्वयम्भूस्तोत्र श्लोक 63।
2. प्रमाणं स्वपराभासिज्ञानं बाधविवर्जितम् ,न्यायावतार श्लोक 01, श्वेताम्बर जैन महासभा, बम्बई (वि० 1985)
3. प्रमाणमविसंवादिज्ञानं अनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात्। अष्टाशती कारिका, 36
4. अज्ञातार्थ-ज्ञापकं प्रमाणम्-प्रमाणसमुच्चय टीका, पृ०-11, दृष्टव्य तर्कभाषा की 'माधुरी' व्याख्या, पृ०-56। चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 1990
5. 'तस्माद् दृढं यदुत्पन्नं नापि संवादमृच्छति।
ज्ञानान्तरेण विज्ञानं तत् प्रमाणं प्रतीयताम्।। श्लोकवार्त्तिक 2.80, मीमांसादर्शनम्, भारतीय विद्या प्रकाशन वाराणसी, 1979, पृ०-53
6. सर्वस्यानुपलब्धेऽर्थे प्रामाण्यं स्मृतिरन्यथा।' श्लोकवार्तिक 5.10, पृ०-172
7. 'कारणदोषबाधकज्ञानरहितमगृहीतग्राहि ज्ञानं प्रमाणम्।'', शास्त्रदीपिका, पृ०-45, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 1988
8. 'यत्तु, अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणमिति लक्षणम्, तन्न, तर्कभाषा, पृ०-53, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 1990
9. तत्करणम्-अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम्। मीमांसाकुतूहलम् पृ०-72, पङ्क्ति 29, सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1987
10. 'तत्र प्रमाकरणं प्रमाणम्। तत्र स्मृतिव्यावृत्तं प्रमात्वं, 'अनधिगताबाधितविषयज्ञानत्वम्।' स्मृति साधारणं तु अबाधितविषयज्ञानत्वम्। वेदान्त-परिभाषा, पृ०-09, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, 1977
11. चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः जैमिनिसूत्र 1/1/02
12. द्रष्टव्य सन्दर्भ क्रमाङ्क 06
13. स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम्।

न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन शक्यते।।
श्लोकवार्तिक अ० 1, पा० 1, सू० 2, वार्तिक 47, मीमांसादर्शनम्, पृ०-46

14. एकस्मिन्नेव घटे घटोऽयं घटोऽयमिति धारावाहिकज्ञानानां गृहीतग्राहिणामप्रामाण्यप्रसङ्गात्। तर्कभाषा, पृ०-53
15. न चान्यान्यक्षणविशिष्टविषयीकरणादनधिगतार्थगन्तृता।
प्रत्यक्षेण सूक्ष्मकालभेदानाकलनात्। वही, पृ०-53
16. द्रष्टव्य तर्कभाषा, पृ०-57
17. सन्नपि कालभेदोऽतिसूक्ष्मत्वान्न परामृष्यत इति चेत् अहो सूक्ष्मदर्शीदेवानां प्रियःशास्त्रदीपिका, पृ०-46
18. तथाहि किमत्र घटोऽवस्थित इति पृष्टः कथयति अस्मिन्क्षणे मयोपलब्ध इति। तथा प्रातरारभ्य तावत्कालं मयोपलब्ध इति। कालभेदे त्वगृहीते कथमेवं वदेत्। शास्त्रदीपिका, पृ०-46
19. नहि रूपिप्रत्यक्षमित्यस्माकं प्रत्यक्षलक्षणं किन्तु संविदेव परोक्षापरोक्षनिर्भासा जायमाना इदं प्रत्यक्षमिदमप्रत्यक्षमिति विभजते। शास्त्रदीपिका-युक्तिस्नेह-प्रपूरणी सिद्धान्त चन्द्रिका-व्याख्या, पृ०-45
20. नीतितत्त्वाविर्भावे चिदानन्दः परत्वापरत्वयौगपद्यायौगपद्यचिरक्षिप्रादिप्रत्ययैर्लिङ्गैः कालास्यानुमेयत्वं निराकृत्य कालः प्रत्यक्षः, अमनस्त्वे सति विभुत्वाद् इत्यनुमानेन तस्य प्रत्यक्षत्वं प्रसाध्य धारावाहिकज्ञाने कालभेदस्याधिकस्य वेद्यत्वं व्यवस्थापयन्नव्याप्तिं परिहरति। नीतितत्त्वाविर्भावः पृ०-41 (काल-प्रत्यक्षतावादः) इत्युद्धृतिः- मीमांसादर्शनविमर्शः, पृ०-44, भारतीय विद्याप्रकाशन, वाराणसी, 1976
21. "धारावाहिकज्ञाने कालस्य षडिन्द्रियवेद्यत्वेन, क्षणादे प्रत्यक्षत्वात् आप्रहरं ज्ञानैक्येन धाराभावाद्वाऽनधिगतत्वम्। मीमांसा-कुतूहलम्, पृ०-72
22. "किञ्च सिद्धान्ते धारावाहिकबुद्धिस्थले न ज्ञान-भेदः किन्तु यावद्घटस्फुरणं, तावत् घटाकारान्तः करणवृत्तिरेकैव, न तु नाना।" वेदान्तपरिभाषा; पृ०-14
23. "अनुभवामि" इति प्रतीतिः साक्षात्कार एव भवति, नत्वनुमित्यादौ। 'पर्वते वह्निमनुभवामि' इत्यनुमितिस्थले न प्रतीतिः, किन्तु वह्निमनुमिनोमि इत्येव। अतोऽनुभवामीति प्रतीतिः नानुमित्युपमिति शब्दसाधारणी। एवञ्चानधिगतार्थगन्तृत्वापरपर्याया-गृहीतग्राहित्व-मेवानुभवत्वम्। न च धारावाहिकेऽव्याप्तिः, धारावाहिकस्थले तावत्कालव्यापिन्येकैव ज्ञानव्यक्तिः, कारणभेदाभावात् भेदकल्पने च मानाभावात्। अतो नाव्याप्तिरिति।
अध्वरमीमांसाकुतूहलवृत्ति पृ०-07 श्रीलालबहादुरशास्त्रिकेन्द्रीय-संस्कृत-विद्यापीठम् नवदिल्ली, 1968-69
24. "वस्तुतस्तु स्वसमानविषयकज्ञानानपेक्षत्वमेवानधिगतार्थगन्तृत्वम् अतः काल-भेदस्येन्द्रियवेद्यत्वाभावेऽपि न क्षतिः।", वही, पृ०-07

20
भाट्टमीमांसा में प्रमाण तथा उसका प्रयोजन

भारतीय दर्शनशास्त्र के आस्तिक तथा नास्तिक वर्ग में समाविष्ट समग्र दर्शनों ने स्वसम्प्रदायाभिमत तत्त्वमीमांसा के प्रकाशनार्थ प्रमाणमीमांसा की प्राथमिकता को मान्यताप्रदान है। प्रमाणों की सङ्ख्या तथा उनकें स्वरूप का निर्धारण दर्शनों ने अपनी तत्त्वमीमांसा के अनुरूप प्रतिपादित किया है। "प्रमेय-सिद्धिः प्रमाणाद्धि"[1] यह ईश्वरकृष्ण की उक्ति प्रमाण पदार्थ की इसी सार्थकता को अभिव्यक्त करती है।

आस्तिक दर्शनों में न्याय-वैशेषिक, सङ्ख्य तथा योगदर्शन, तत्त्वमीमांसा के माध्यम से "दु:खध्वंस" रूपी परम प्रयोजन को अभिव्यक्त करते हैं। मीमांसा की स्थिति विपरीत परिलक्षित होती है। इस दर्शन ने अपने प्रधान प्रयोजन वेदार्थरूपी कर्मकाण्ड का प्रतिपादन करने की प्रक्रिया में अपनी तत्त्वमीमांसा का विकास किया है। इस दर्शन का मूल उद्देश्य चूँकि धर्म (कर्मकाण्ड) का प्रतिपादन करते हुए आनुषङ्गिक रूप से अन्य तत्त्वों का कर्मकाण्ड के साधकरूप में प्रतिपादन करना है, अत: प्रमाण के प्रयोजन को भी मुख्य तथा गौण या आनुषङ्गिक रूप में विभाजित किया जा सकता है।

प्रमाण का मुख्य प्रयोजन तथा प्रमाण-लक्षण

महर्षि जैमिनि ने धर्म को "चोदनालक्षण" अर्थात् वेद के विधि, अर्थवाद, मन्त्र तथा नामधेय इन भागों में से मात्र विधि द्वारा बोध्य माना है। उनका यह स्पष्ट प्रतिपादन है कि "विधि जिसका प्रतिपादन करती है वह अर्थ ही धर्म है। धर्म में मात्र विधि की प्रामाणिकता है।[2] इसी अर्थ की निष्पत्ति हेतु इन्होंने औत्पत्तिक सूत्र[3] में अनुपलब्ध अर्थ का प्रापक होने से विधिवाक्यमात्र को धर्मज्ञान का साक्षात् प्रमाण प्रतिपादित किया है।

महर्षि जैमिनि के औत्पत्तिक सूत्र की दिशा के अनुरूप भाट्ट-सम्प्रदाय के

प्रवर्त्तक आचार्य कुमारिलभट्ट ने "अनुपलब्ध (अज्ञात) अर्थ के प्रतिपादक को "प्रमाण" निरूपित किया है।[4] भाट्टमतावलम्बी पार्थसारथि ने भी "कारणदोष तथा बाधकज्ञानरहित अग्रहीत अर्थ के ग्राहक (बोधक) ज्ञान को प्रमाण निरूपित किया है।[5] दोनों आचार्यों द्वारा प्रतिपादित लक्षणों ने भाट्टप्रस्थान में अज्ञातार्थज्ञापकत्व के रूप में प्रमाणतत्त्व को प्रतिष्ठित किया है।

महर्षि जेमिनि, कुमारिलभट्ट तथा उनके अनुयायियों द्वारा अज्ञात अर्थ के ज्ञापकत्व के रूप में या अग्रहीत अर्थ के ग्राहक के रूप में "प्रमाण" तत्त्व की प्रतिष्ठा का प्रयोजन विधि मात्र में धर्मबोधकत्व रूपी प्रामाणिकता का साक्षात् समन्वय करना है।

कर्मकाण्ड में अज्ञात मात्र अर्थ की प्रतिपादकता के लिए "**अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः**"[6] यह शब्द के अनन्यलभ्यत्व का सिद्धान्त इस प्रमाणलक्षण के आधार पर ही प्रतिष्ठित है। यह सिद्धान्त प्रमाण के अज्ञात अर्थ के ज्ञापकत्व की व्याख्या "**अदग्धदहनन्याय**" से करता है।[7] जिस प्रकार अग्नि में पड़ी हुई लकड़ियों में से जो लकड़ी जली नहीं है, उसे ही अग्नि दग्ध करता है, दग्ध (जली हुई) लकड़ी को नहीं, उसी प्रकार श्येन-याग में विधि द्वारा लौहित्य मात्र का विधान माना जाता है। "**सोमन यजेत**"[8] इस विधि द्वारा प्रतिपादित प्रकृति ज्योतिष्टोम-याग के '**श्यनेनाभिचरन् यजेत**"[9] इस विधि द्वारा प्रतिपादित विकृति-याग में "**लोहितोष्णीषाः ऋत्विजः प्रचरन्ति**"[10] इस वाक्य द्वारा यद्यपि लौहित्य, उष्णीष (पगड़ी) ऋत्विज् तथा प्रचरण, इन चारों का प्रतिपादन किया गया है, तथापि लौहित्य को छोड़कर शेष सभी का प्रकृति ज्योतिष्टोम में "**सोष्णीषा विनीतवसना ऋत्विजः प्रचरन्ति**"[11] इस वाक्य द्वारा वहाँ प्रतिपादन किया जा चुका है तथा "प्रकृति के अनुरूप ही विकृति का अनुष्ठान करना चाहिए (प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या) इस अतिदेशवाक्य द्वारा यहाँ भी प्राप्ति हो जाती है अतः 'लौहित्य' मात्र अज्ञात रहने से विधि-वाक्य का अर्थ माना जाता है। इस प्रकार कर्मकाण्डीय स्थलों में कर्त्तव्य कर्म की सङ्गति के लिए ही प्रमाण को अज्ञातार्थज्ञापकत्व के रूप में भाट्टमीमांसाकों ने प्रतिष्ठित किया है।

लौकिक प्रमाणों का मुख्य प्रयोजन

महर्षि जैमिनि ने विधिवाक्य द्वारा प्रतिपादित अर्थ को "धर्म" प्रतिपादित करने के साथ ही अन्य लौकिक प्रमाण किस प्रकार धर्म के प्रतिपादक नहीं हो

सकते, यह प्रदर्शित करने के उद्देश्य से ही उदाहरणार्थ प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण प्रदर्शित किया है–महर्षि जैमिनि कहते हैं "पुरुष की इन्द्रियों का अर्थ के साथ सम्बन्ध होने पर जो ज्ञान उत्पन्न होता है वही प्रत्यक्ष प्रमाण है। यह प्रत्यक्ष विद्यमान वस्तु का ही प्रकाशक होता है। धर्म चूँकि इन्द्रियों से सम्बद्ध नहीं हो सकता अतः प्रत्यक्ष उसके प्रकाशन में असमर्थ हैं।[12]

सर्वसाधारण मनुष्य जिसकी इन्द्रियों का भूत तथा भविष्यकालीन अर्थ के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता है, उसका प्रत्यक्ष भले ही धर्मज्ञान में प्रमाण नहीं हो परन्तु त्रैकालिक पदार्थ का योगज प्रतिभा के बल पर योगी तो प्रत्यक्ष कर ही सकते हैं, अतः धर्म का भी योगियों को प्रत्यक्ष से ही ज्ञान हो जाएगा, ऐसी आशङ्का को ध्यान में रखते हुए आचार्य कुमारिलभट्ट ने "योगियों का प्रत्यक्ष भी सर्वसाधारण को होने वाले लौकिक प्रत्यक्ष से भिन्न नहीं है"[13] यह कहते हुए योगजप्रत्यक्ष के भी धर्मज्ञान–बोधकत्व का निराकरण कर दिया है। भाट्टमतावलम्बी पार्थसारथि मिश्र ने भी "योगाभ्यास–जनित भावना (योगज ज्ञान) को स्मृति कहते हुए प्रमाण की कक्षा से निष्कासित कर दिया है।[14]

श्लोकवार्तिक में आचार्य कुमारिलभट्ट का कहना है कि व्रीहि आदि द्रव्य, यागादि क्रिया, आरुण्यादि गुण, ये सभी, मीमांसाशास्त्र में धर्म माने जाते हैं तथा इनका प्रत्यक्ष भी होता है तथापि जिस द्रव्यत्वादि रूप से इनमें प्रत्यक्षविषयता है, उस रूप से इनमें धर्मता नहीं है। इनमें जो धर्मता है वह इष्टसाधनत्वेन है तथा इस रूप से इनका ज्ञान, प्रत्यक्ष से नहीं अपितु, वेद के विधिवाक्य द्वारा ही हुआ करता है अतः धर्म प्रत्यक्षवेद्य नहीं है।[15]

प्रत्यक्ष के अनुरूप एक वस्तु को देखकर उससे व्याप्ति सम्बन्ध से सम्बद्ध दूसरी अप्रत्यक्ष वस्तु के ज्ञान (अनुमिति) के साधन के रूप में प्रतिपादित अनुमान[16] भी धर्म का ज्ञान कराने में असमर्थ है। आचार्य कुमारिलभट्ट का कहना है कि "धर्म–सामान्य या धर्मविशेष के साथ किसी भी लिङ्ग या व्याप्य का कोई सम्बन्ध नहीं है। धर्म का कोई व्याप्य नहीं है जिसके बल पर "अग्निहोत्र" आदि धर्म हैं, यह परिज्ञान हो सके" अतः अनुमान धर्म का ज्ञान कराने में समर्थ नहीं है।[17]

अनुमान जैसी ही स्थिति उपमान तथा अर्थापत्ति प्रमाण की भी है। गवय, (नील गाय) गाय के सदृश है "गोसदृशो गवयः" इस अतिदेश वाक्य के बल

पर सादृश्यविशिष्ट-पिण्डदर्शनात्मक उपमान से सादृश्यविशिष्ट अर्थ की निष्पत्ति को मीमांसक उपमिति मानते हैं। इसी प्रकार "प्रत्यक्ष या शब्द द्वारा ज्ञात अर्थ की अनुपपत्ति हो जाने की दशा में उस अनुपपत्ति को दूर करने के लिए उपदायक अर्थ की कल्पना को अर्थापत्ति माना गया है।

इनमें धर्म, विधि की प्रवृत्ति के पूर्व सर्वथा अज्ञात रहने से किसी भी सादृश्य के ज्ञान के आधार पर उसका परिज्ञान जिस प्रकार उपमान द्वारा सम्भव नहीं है उसी प्रकार अज्ञात धर्म के सन्दर्भ में किसी अनुपपत्ति का होना भी सम्भव नहीं है जिसके आधार पर किसी उपपादक अर्थ की कल्पना द्वारा उसका परिज्ञान किया जा सके, अतः धर्म अर्थापत्ति-प्रमाण का भी विषय नहीं बन सकता। धर्म भावात्मक पदार्थ होने के कारण अभावग्राहक अनुपलब्धि प्रमाण की धर्मग्राहकता तो विचार का भी विषय नहीं बन सकती। इस प्रकार प्रत्यक्षादि के धर्मज्ञान कराने में असामर्थ्य का प्रतिपादन करते हुए विधिमात्र के धर्मबोधकत्व की सिद्धि को इन लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाणों के विवेचन का मुख्य प्रयोजन प्रतिपादित किया गया है।

लौकिक प्रमाणों का आनुषङ्गिक प्रयोजन

धर्म के ज्ञान में यद्यपि लौकिक प्रमाणों की प्रामाणिकता का निराकरण किया गया है तथापि यह निराकरण उनकी धर्म के ज्ञान में साक्षात् प्रामाणिकता का है, गौण या आनुषङ्गिक प्रामाणिकता का नहीं। जैसे वेद में विधिभाग मात्र धर्म का प्रतापादक होने पर भी उससे समन्वित रूप से अर्थवाद, मन्त्र तथा नामधेय भागों की प्रामाणिकता परम्परया मानी गई है, वैसे ही विधि द्वारा धर्मरूपी कर्म का प्रतिपादन हो जाने के बाद उसके अनुष्ठान में उपयोगी होने से धर्मानुष्ठानसङ्गति-प्रतिपादकत्व रूप से लौकिक प्रमाणों की आनुषङ्गिक प्रामाणिकता या अर्थवत्ता स्पष्ट परिलक्षित होती है।

आचार्य कुमारिलभट्ट ने व्रीहि आदि द्रव्य, यागादिक्रिया तथा आरुण्यादि के प्रत्यक्ष से इनकी धर्मरूपता के परिज्ञान का निराकरण किया है। विधि द्वारा धर्मरूप में इनका बोध हो जाने के बाद कर्मानुष्ठान में इनके विनियोग में प्रत्यक्ष की उपयोगिता का निराकरण नहीं किया है। बिना प्रत्यक्ष के न तो द्रव्यादि हवि का ग्रहण हो सकता है और न ही "दर्शपूर्णमास" याग में "आज्यावेक्षण" सम्भव है। यागाधिकार के निमित्त अपेक्षित योग्यताओं में "सामर्थ्य" भी परिगणित होने से[18] अन्धे व्यक्ति को त्रैवर्णिक होने पर भी यागाधिकार नहीं है अतः प्रत्यक्ष

प्रमाण का प्रतिपादन, कर्मानुष्ठान-सङ्गति-प्रतिपादकत्व रूप से भी भाट्टमीमांसा में अभीप्सित ही है।

अनुमान प्रमाण भी धर्म में पुरुषप्रवृत्ति का जनक होने से धर्मानुष्ठान का एक समन्वित प्रमाण अवश्य है।

1. विधि द्वारा प्रतिपादित याग अनुष्ठेय है,
2. श्रेय का साधन होने से
3. लौकिक श्रेय के साधन लौकिक कर्मों के समान।

इस प्रकार लौकिक कर्मों का उनके फलों के साथ नियत सम्बन्ध का ज्ञान होने पर स्वर्गरूपी फल के साथ नियत सम्बन्ध वाले याग का विधि द्वारा जब प्रतिपादन होता है, तब इस याग के अनुष्ठान से स्वर्ग अवश्य मिलेगा, यह अनुमित पुरुष की विहित कर्म (याग) के अनुष्ठान में प्रवृत्ति को दृढ़ करते हुए अपने आनुषङ्गिक प्रामाण्य को प्रकाशित कर देती है।

वेदार्थ (कर्म) के अनुष्ठान में उपयोगी हो सके, इस उद्देश्य से मीमांसकों ने न्यायशास्त्र के अनुरूप संञ्ज्ञा-संञ्ज्ञि के परिज्ञान के रूप में उपमान प्रमाण को मानकर एक परिवर्तित रूप में स्वीकार किया है। इनके मत में "गवय गाय के समान होता है" इस आरण्यक के अतिदेश वाक्य को सुनकर अरण्य में प्रविष्ट मनुष्य को गवय दर्शन होने पर "यह गवय है" ऐसे संञ्ज्ञा-संञ्ज्ञि-ज्ञान के रूप में उपमिति स्वीकार नहीं है, अपितु गवयदर्शन होने पर गृहस्थित गाय के सादृश्य से विशिष्य गवय के ज्ञान को उपमान प्रमाण तथा "**अनेन सदृशी मदीया गौ**" इस गवय के समान मेरी गाय है, इस प्रकार गवय के सादृश्य से विशिष्ट गाय के ज्ञान को उपमिति माना गया है। जिस प्रकार उपमान प्रमाण से गवय-दर्शन होने पर गृहस्थित गौ का ज्ञान होता है। उसी प्रकार किसी "विकृति" याग को देखकर उसके सदृश प्रकृति याग का ज्ञान उपमिति प्रमा है। प्रकृति के अनुरूप विकृति का अनुष्ठान करना चाहिए यह अतिदेश वाक्य है तथा इस अतिदेश वाक्य से विकृति यागों में उनके प्रकृति यागों के अङ्गों के अनुष्ठान की "प्राप्ति" इस उपमान प्रमाण तथा उससे निष्पन्न उपमिति प्रमा का वास्तविक प्रयोजन है। यथा-"**सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चस्कामः**"[20] (जिसे ब्रह्मवर्चस् की कामना हो वह सूर्यदेवता के लिए चरु का निर्वाप करे) इस विधि द्वारा आग्नेय याग के इस विकृति रूप सौर्ययाग की प्राप्ति होने पर चूँकि यह याग, आग्नेय याग का विकृति याग है अतः इसमें अतिदेश वाक्य से आग्नेय याग के अङ्गों की प्राप्ति का बोध हो जाता है। परिणामस्वरूप आग्नेय याग में पढ़े गये "अग्नये त्वा जुष्टं

निर्वपामि''[21] इस मन्त्र की विभक्ति विपरिणाम ज्ञानस्वरूप'' ''ऊह'' के बल पर सौर्य याग में '**सूर्याय त्वा जुष्टं निर्वपामि**''[22] इस रूप में सङ्गति होना ही उक्त उपमान प्रमाण तथा तज्जन्य उपमिति प्रमा की सार्थकता है।[23]

उपमान के अनुरूप ''दिन में न खाने वाले मोटे देवदत्त के पीनत्त्व (मोटापे) की अन्यथानुपपत्ति (रात्रि में भोजन के बिना होने वाली असङ्गति) से प्रसूत (उत्पन्न उसके) रात्रि-भोजन की अर्थापत्ति इस प्रकार के लौकिक अर्थों की निष्पत्ति के उद्देश्य से प्रतिपादित नहीं की गई है, अपितु इस प्रकार के लौकिक उदाहरणों से अर्थापत्ति के स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर वैदिक कर्मकाण्ड में बिना फलज्ञान के किसी कार्य में प्रवृत्ति की अनुपपत्ति से प्रसूत अर्थापत्ति प्रमाण से अश्रुत फल वाले ''**विश्वजिता यजेत**'' इस विधि द्वारा प्राप्त ''विश्वजित्'' याग के फलरूप में स्वर्ग की कल्पना द्वारा याग में पुरुष की प्रवृत्ति कराना ही इस अर्थापत्ति की सार्थकता है।[24] इसी प्रकार क्रियात्मक याग तथा यागकर्ता दोनों के नष्ट हो जाने से फल-प्राप्ति की असङ्गति को रोकने के अपूर्व तथा उसके अधिकरण के रूप में आत्मतत्त्व के अस्तित्व का प्रतिपादन भी अर्थापत्ति प्रमाण का प्रयोजन है।

यद्यपि अनुपलब्धि या अभाव प्रमाण 'अभाव' के ज्ञान के लिए प्रतिपादित किया गया है, तथापि **यजतीषु येयजामहं करोति, नानुयाजेषु**[25] यहाँ पर नञर्थ अभाव का अनुपलब्धि द्वारा पहले ग्रहण होता है, पश्चात् नञर्थ अभाव को पर्युदास के रूप में माना जाता है। नञर्थ अभाव को पर्युदास मान लेने पर ही अनुयाज भिन्न यागों मे येयजामह के अनुष्ठान की कर्त्तव्यता का बोध हो पाता है। इस प्रकार "येयजामह" के अनुष्ठान की कर्त्तव्यता का परिज्ञान अभाव या अनुपलब्धि प्रमाण पर अवलम्बित होने से, उसकी प्रामाणिकता या अर्थवत्ता कर्मङ्गसङ्गति-प्रतिपादकत्व रूप से भी अभिव्यक्त हो जाती है।

उपसंहार

इस प्रकार भाट्टमीमांसा में विवेचित लौकिक प्रमाण, जहाँ अपने से भिन्न विधायक विधिवाक्य मात्र की धर्मबोधकता का प्रतिपादन करते हैं, वहीं विधि द्वारा धर्मरूपी कर्म का बोध हो जाने पर यजमान की प्रवृत्ति में भी उपादेयता को प्रदर्शित करते हुए अपनी अर्थवत्ता को प्रमाणित करते हैं।

सारांश

भारतीय चिन्तन के आस्तिक तथा नास्तिक, दोनों सम्प्रदायों में समाविष्ट

सभी दर्शनों में स्वाभिमत तत्त्वमीमांसा के प्रकाशनार्थ प्रमाणमीमांसा को प्राथमिकता के साथ प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है।

आस्तिक दर्शनों में न्याय-वैशेषिक, सङ्ख्य तथा योग, इन दर्शनों में तत्त्वमीमांसा के माध्यम से दुःखध्वंस रूपी अपवर्ग का परम प्रयोजन के रूप में प्रकाशन किया गया है। मीमांसादर्शन की स्थिति इस विधा के विपरीत है। इस शास्त्र में परम प्रयोजन कर्मकाण्ड को वेदार्थ के रूप में स्थापित करने की प्रक्रिया में तत्त्वमीमांसा तथा प्रमाणमीमांसा का विकास हुआ है। चूँकि इस दर्शन का प्रधान उद्देश्य कर्मकाण्ड का प्रतिपादन करना है, अतः प्रमाण के मुख्य तथा गौण दोनों प्रयोजनों का इस प्रधान लक्ष्य को ध्यान में रखकर प्रतिपादन किया गया है।

महर्षि जैमिनि द्वारा वेद के विधि भाग को धर्म का एकमात्र बोधक प्रमाण माना गया है अतः इस विधिरूप प्रमाण से अतिरिक्त प्रमाणों की धर्मबोधकता में असङ्गति को प्रदर्शित करना इनके प्रतिपादन का प्रधान प्रयोजन है। यद्यपि लौकिक प्रमाण, धर्म के साक्षात् बोधक नहीं हैं, तथापि धर्म का वेद (विधि) द्वारा बोध हो जाने पर वेदार्थ कर्म में इनका समन्वय प्रदर्शित करते हुए इनकी सार्थकता, प्रतिपादित की गई है।

सन्दर्भ

1. सङ्ख्यकारिका 04
2. चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः जैमिनि-सूत्र 1. 1. 2
3. औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्" जैमिनि-सूत्र 1. 1. 5
4. सर्वस्यानुपलब्धेऽर्थे प्रामाण्यं स्मृतिरन्यथा।"
   श्लोकवार्तिक पृ०-151, तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, 1978
5. "कारणदोषबाधकज्ञानरहितमगृहीतग्राहिज्ञानं प्रमाणम्"
   शास्त्रदीपिका, पृ०-45, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 1988
6. द्रष्टव्य काव्यप्रकाश की बालबोधिनी व्याख्या, काव्यप्रकाश, पृ०-227, भाण्डरकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, 1965
7. वही, पृ०-वही
8. तै० सं० 3. 2. 3
9. आप० श्रौ० 22. 4. 13
10. षड् वि० ब्रां० 3. 8

11. द्रष्टव्य-का०प्र० की झलकीकरकृत बाल० बो० टीका० का० प्र०, पृ०-227
12. "सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत् प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात्" जैमिनिसूत्र 1. 1. 4
13. "न लोकव्यतिरिक्तं हि प्रत्यक्ष योगिनामपि" श्लोकवार्तिक पृ०-102, तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, 1978
14. "भावनाबलजं तु योगिप्रत्यक्षं भविष्यत्यपि धर्मे समर्थमिति मनोरथमात्रम्। भावना ह्यनुभूतगोचर-नियतानुभूतेष्वेव निश्चयरूपां स्मृतिं जनयेत्। न च सात्र प्रमाणं स्मृतित्वादेव। शास्त्रदीपिका, पृ०-19, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 1988
15. द्रव्यक्रियागुणादीनां धर्मत्वं स्थापयिष्यते।
    तेषामैन्द्रियकत्वेऽपि न ताद्रूप्येण धर्मता।। श्लो० वा०, पृ०-37
    श्रेयः-साधनता ह्येषां नित्यं वेदात् प्रतीयते।
    ताद्रूप्येण च धर्मत्वं तस्मान्नेन्द्रियगोचरः।। वही, पृ०-37
16. अनुमानं ज्ञातसम्बन्धस्यैकदेशदर्शनाद् देशान्तरेऽसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिः।" शाबरभाष्य, मीमांसादर्शनम् पृ०-290, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 1979
17. न सामान्यविशेषाभ्यां धर्मसम्बन्धदर्शनम्।
    लिङ्गस्य कस्यचित्सिद्धं येन स्यादनुमानता।। श्लो० वा० पृ०-38
18. "एवं सामर्थ्यस्यापि अधिकारिविशेषणत्वम्। असमर्थं प्रति विध्यप्रवृत्तेः। मीमांसा न्यायप्रकाश, पृ०-190, श्रीलालबहादुरशास्त्रि-केन्द्रीय-संस्कृत विद्यापीठ, नयी दिल्ली, 1983
19. उपमानं पूर्वदृष्टेऽर्थे स्मर्यमाणे दृश्यमानार्थसादृश्यज्ञानम्। दृश्यमानगवय-निरूपित-सादृश्य-प्रकारक-गोविशेष्यकप्रमा उपमितिः। भाट्टचिन्तामणि, पृ०-45, चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी, ऑफिस, वाराणसी
20. मैत्रायणीसंहिता 2. 2. 2
21. तैत्तिरीयसंहिता 1. 1. 4. 2
22. द्रष्टव्य व्याकरण-महाभाष्य, पस्पशाह्निक की हिन्दी प्रकाश-व्याख्या, पृ०-09, व्याकरणमहाभाष्यम् चौखम्बा, विद्याभवन, वाराणसी, 1988
23. "एवं च प्रत्यक्ष-सौर्यविधिसादृश्यस्याग्नेयधानमुपमित्योपस्थिताग्नेयविधि-विहितेतिकर्तव्यताया अपेक्षितायाः सौर्याङ्गत्वबोधकफलमिति जीर्णाः।" भाट्टचिन्तामणि, पृ०-45
24. "तथा विश्वजिद्यागकरणकभावनाविषयकप्रवर्त्तना विधि-प्रमितेष्टोद्देश्यकत्वं विनाऽनुपपद्यमाना स्वर्गाद्युद्देश्यकत्वं कल्पयति।" भाट्टचिन्तामणि, पृ०-46
25. आपस्तम्बश्रौतसूत्र 24. 13. 06

21

भाट्टमीमांसा में प्रत्यक्ष की अवधारणा

भारतीय दर्शन की श्रेणी में आस्तिक वर्ग में परिणित मीमांसादर्शन मुख्य रूप से वेदार्थ-निष्पत्ति के लिए प्रवृत्त हुआ है। महर्षि जैमिनि ने सम्पूर्ण वेदार्थ को कर्म के रूप में प्रतिपादित किया है।[1] कर्मात्मक धर्म में प्रवृत्ति-सङ्गति के लिए इसमें फलभावना की समन्विति तथा स्वर्गादिफल की निष्पत्ति के लिए अपूर्व[2] एवं अपूर्व की सङ्गति के लिए आत्मतत्त्व के प्रतिपादन[3] की शृङ्खला, वैदिक मन्त्रों के कर्मकाण्डपरक व्याख्या के लिए प्रवृत्त मीमांसाशास्त्र के दार्शनिक स्वरूप को उद्घाटित कर देती है। दर्शनशास्त्र के प्रायः सभी दार्शनिक प्रस्थानों की तत्त्वनिष्पत्ति उसके प्रमाणप्रक्रिया पर अवलम्बित हुआ करती है।[4] मीमांसा के भाट्टप्रस्थान में भी उसके सम्पूर्ण स्वरूप एवं उद्देश्य की अभिव्यक्ति के लिए षड्विध प्रमाण प्रतिपादित किये गए हैं।[5] इनमें वेदातिरिक्त अन्य समस्त ज्ञान-साधक प्रमाणों के आधार रूप में प्रत्यक्ष प्रमाण को माना गया है। मीमांसादर्शन के भाट्ट सम्प्रदाय में भी कर्म=यज्ञ के अनुष्ठान में प्रयुक्त होने वाले पदार्थ के ज्ञान के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साधन के रूप में प्रत्यक्ष प्रमाण को स्वीकार किया गया है। महर्षि जैमिनि से लेकर परवर्तीकाल तक के आचार्यों ने इसके स्वरूप-निर्धारण के साथ इसकी प्रक्रिया को भी सफलतापूर्वक स्पष्ट किया है।

जैमिनि तथा परवर्ती भाट्टमीमांसकों के प्रत्यक्ष-लक्षण

सूत्रकार जैमिनि ने मीमांसा-शास्त्र के प्रतिपाद्य विषय के रूप में धर्मविचार का प्रतिपादन किया।[6] धर्म के रूप में वेदप्रतिपादित अर्थ प्रतिपादित[7] करने के अनन्तर प्रत्यक्ष प्रमाण के सामान्य स्वरूप के प्रकाशन के साथ धर्मावबोध में इस प्रत्यक्ष प्रमाण की अप्रामाणिकता के प्रतिपादनार्थ प्रत्यक्ष-सूत्र की रचना की गई है-

> सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात्।[8]

इस सूत्र के अनुसार इन्द्रियों का अर्थ के साथ सम्बन्ध होने पर जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह 'प्रत्यक्ष', धर्मावबोध में प्रमाण नहीं हो सकता क्योंकि वह विद्यमान पदार्थ का ही अवबोधक होता है। धर्म, वेदार्थ-पर्यालोचन से पूर्व सर्वथा अज्ञात होने से अविद्यमान है अतः प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष पर अवलम्बित अन्य सभी प्रमाण धर्मावबोध में प्रमाण नहीं हैं। केवल वेद ही एकमात्र धर्म का अवबोधक प्रमाण है। प्रत्यक्ष-सूत्र का यही निर्गलितार्थ पारम्परिक रूप से स्वीकार किया गया है।

वृत्तिकार भवदास ने यह कल्पना की है कि सूत्र में 'प्रत्यक्ष' अंश तक प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण किया गया है तथा अग्रिम अंश में धर्मावबोध में इसकी अप्रयोजकता निरूपित की गई है। सूत्र-भाष्य के वार्तिककार आचार्य कुमारिल भट्ट 'भवदास' की इस कल्पना से सहमत नहीं है। इनका कहना है कि इस कल्पना में पूरे सूत्र को दो भिन्न अर्थों का प्रतिपादक मानने पर 'मीमांसा-शास्त्र' के प्रमुख सिद्धान्त 'एकवाक्यता' का विनाश हो जाता है।[9] इसके अतिरिक्त इस सूत्र को प्रत्यक्ष का लक्षण मानने पर स्वप्न ज्ञान को छोड़कर भ्रान्त, अभ्रान्त सभी ज्ञानों में इसकी अतिव्याप्ति हो जाती है।[10] अतः कुमारिल इसे प्रत्यक्ष प्रमाण का प्रतिपादक न मानकर धर्म में प्रत्यक्ष तथा प्रत्यक्षमूलक सभी प्रमाणों के अप्रयोजनकत्व का प्रकाशक 'सूत्र' प्रतिपादित करते हैं।

आचार्य कुमारिलभट्ट ने प्रत्यक्ष सूत्र को प्रत्यक्ष प्रमाण के स्वरूप का प्रकाशक नहीं माना है। इस विवेचन की प्रक्रिया में इन्होंने यद्यपि किसी स्वाभिमत प्रत्यक्ष-लक्षण का प्रतिपादन नहीं किया है तथापि प्रत्यक्ष सूत्र के विवेचन की प्रक्रिया में उन्होंने अपने विचार भी प्रकट किए हैं। इन्होंने प्रत्यक्ष के निर्विकल्पक तथा सविकल्पक इन दोनों भेदों को स्वीकार किया है। इस सन्दर्भ में आचार्य कुमारिलभट्ट कहते हैं कि 'प्रत्यक्ष निर्विकल्पक तथा सविकल्पक इन दो भेदों में पूरा होता है। इनमें प्रथम निर्विकल्पक प्रत्यक्ष केवल वस्तुविषयक ज्ञान के रूप में उत्पन्न होता है। इस निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में विशेषण, नाम, जाति (सामान्य) तथा विशेष, इनमें से किसी का भी ग्रहण नहीं होता। इन सबका आधारभूत व्यक्ति ही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में भासित होता है।[11] आचार्य कुमारिल इसे वस्तु के शुद्ध स्वरूप का अवभासक तथा बालक एवं गूङ्गे व्यक्ति को होने वाले ज्ञान की तरह का ज्ञान मानते हैं।[12]

द्वितीय ज्ञान को आचार्य कुमारिलभट्ट ने सविकल्पक प्रत्यक्ष कहा है।

उनका कहना है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के बाद उसी वस्तु का नाम, जाति आदि के साथ सविकल्पक बुद्धि से ग्रहण होता है। इस सविकल्पक प्रत्यक्ष को उन्होंने प्रत्यक्ष ज्ञान माना है।[13] आचार्य पार्थसारथि मिश्र, विशद रूप से अवभासित होने को प्रत्यक्ष ज्ञान मानते हैं।[14] जिस प्रकार प्रत्यक्ष निर्विकल्पक होता है उसी प्रकार सामान्यविषयक ज्ञान भी परोक्ष के समान अपरोक्ष भी हुआ करता है। वे कहते हैं कि दूर से श्वेत अश्व को देखकर केवल स्वलक्षण का प्रत्यक्ष होता है तथा फिर उसकी हिनहिनाहट से उसकी अश्वत्व जाति (सामान्य) का जैसे परोक्ष ज्ञान होता है वैसे ही पास आने पर मैं जिसे पहले नहीं देख पाया था इसके उस अश्वत्व जाति को भी अब देख रहा हूँ।[15] यह अनुभव प्रत्यक्ष के निर्विकल्पक तथा सविकल्पक दोनों के अस्तित्व को प्रमाणित कर देता है।

भाट्टमतावलम्बी मीमांसक चिदानन्दपण्डित ने इन्द्रिय एवं अर्थ के सम्बन्ध से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष तथा उसके साधक इन्द्रिय को प्रत्यक्ष प्रमाण कहा है।[16] इनके अनुयायी विद्वान् नारायणपण्डित ने इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमा उसके कारण (इन्द्रिय) को प्रत्यक्ष प्रमाण निरूपित किया है।[17] 17 वीं शताब्दी के भाट्टमतावलम्बी मीमांसक कमलाकरभट्ट ने 'सदर्थ' (विद्यमान अर्थ) के साथ इन्द्रिय के संयोग से उत्पन्न ज्ञान को 'प्रत्यक्ष-प्रमा' निरूपित किया है।[18] भाट्ट-मतावलम्बी मीमासकों में प्रायः अन्तिम प्रसिद्ध विचारक विश्वेश्वरभट्ट (गागाभट्ट) ने अपने ग्रन्थ भाट्ट-चिन्तामणि में नैयायिकों के अनेक लक्षणों पर विचार करने के अनन्तर अपना प्रत्यक्षलक्षण लिखा है। इनके अनुसार-(व्याप्ति सादृश्यादि) जन्य ज्ञान से जन्य (अनुमिति, उपमिति आदि) मात्र में वृत्ति (अनुमितित्व, उपमितित्वादि) जातियों से शून्य ज्ञान ही प्रत्यक्ष ज्ञान है।[19]

भाट्टमीमांसाभिमत प्रत्यक्ष-विषय

नीतितत्त्वाविर्भावकर्ता चिदानन्दपण्डित ने प्रत्यक्ष प्रमा के द्रव्य, जाति, गुण तथा कर्म, ये चार विषय माने हैं।[20] इनके अनुसरणकर्त्ता नारायणपण्डित ने भी मानमेयोदय में ''इन्द्रियभिन्न द्रव्य, द्रव्यगत जातियाँ, गुण एवं कर्म को प्रत्यक्ष का विषय निरूपित किया है।[21] आचार्य कमलाकरभट्ट ने इन्द्रियमात्र को प्रत्यक्ष प्रमाण प्रतिपादित करते हुए हान, उपादान तथा उपेक्षाबुद्धि को सविकल्पक ज्ञान का भी फल निरूपित किया है।[22]

प्रत्यक्ष-विषय के रूप में परिगणित द्रव्य, जाति, गुण तथा कर्म, इनमें द्रव्य के "पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा, मनस्, शब्द तथा तम" इन एकादश द्रव्यों में "आकाश, काल, दिक् तथा तम, इन चार द्रव्यों की प्रत्यक्ष-विषयता में भाट्टमीमांसकों का न्यायमत से मतभेद है। न्यायशास्त्र में तम को प्रकाश का अभाव माना गया है।[23] शेष आकाश, काल तथा दिक्, इन तीन द्रव्यों को सिद्धि प्रत्यक्ष से न मानकर अनुमान प्रमाण से मानी गयी है।

आकाश, दिक्तथा काल की प्रत्यक्ष-विषयता

1. आकाश की प्रत्यक्षविषयता

न्यायमत में 'शब्दगुणकम् आकाशम्'[24] इस लक्षण के अनुसार शब्दरूपी विशेष गुण द्वारा आकाश को अनुमेय माना गया है। न्यायमत के विपरीत भाट्ट-मीमांसकों ने आकाश को प्रत्यक्ष का विषय निरूपित किया है। इस सन्दर्भ में "मीमांसाकुतूहल" के रचनाकार कमलाकरभट्ट का कहना है कि "शब्द एक पृथक् द्रव्य होने के कारण आकाश का गुण नहीं है।[25] आकाश चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय है। आकाश में पक्षी है, इस पक्षीविशिष्ट आकाश के प्रत्यक्षानुभव से ही आकाश की प्रत्यक्षगम्यता सिद्ध हो जाती है।[26]

1. दिक् तथा काल की प्रत्यक्ष-विषयता

भारतीयदर्शन के आस्तिक प्रस्थानों में 'दिक्' तथा 'काल' का ज्ञान से बाह्य अस्तित्व नैयायिक तथा मीमांसक दोनों को यद्यपि समान रूप से अभिमत है तथापि प्राभाकर मीमांसक एवं नैयायिक जहाँ हन दोनों की सत्ता अनुमान द्वारा स्थापित करते हैं वहाँ भाट्ट मीमांसक इन दोनों को प्रत्यक्ष का विषय निरूपित करते हैं।

न्यायशास्त्र के प्रारम्भिक परन्तु प्रसिद्ध ग्रन्थ 'तर्कभाषा' में काल-विपरीत परत्व तथा अपरत्वरूपी गुणात्मक हेतुओं द्वारा साधित 'दिक्' जिस प्रकार एक, विभु तथा नित्य मानी गई है[27] उसी प्रकार काल को भी दिक्-विपरीत परत्व तथा अपरत्वरूपी गुणात्मक हेतु द्वारा किए गए अनुमानों द्वारा सिद्ध करते हुए सङ्ख्या, परिणाम, पृथकत्व, संयोग तथा विभाग इन पाँच गुणों से युक्त एक नित्य तथा विभु द्रव्य के रूप में प्रतिपादित किया गया है।[28]

नैयायिकों के अनुरूप मीमांसा के प्राभाकरसम्प्रदाय में दिक् तथा काल को अनुमेय ही माना गया है। प्रभाकर-मत को दृष्टि में रखकर विरचित शालिकनाथ की 'प्रकरणपञ्चिका' पर श्रीजयपुरीनारायणभट्ट ने प्रत्यक्ष-परिच्छेद पर्यन्त 'न्यायसिद्धि' नामक व्याख्या लिखी है। इसमें उन्होंने '**दिक्कालावनुमेयावेव**'[29] इस पङ्क्त्यंश द्वारा न्यायमत के अनुरूप दिक् में सङ्ख्या, परिणाम, पृथक्त्व, संयोग तथा विभाग, ये पाँच गुण माने हैं। तथा काल में भी इसी प्रकार ये पाँच गुण प्रतिपादित किये हैं। प्रभाकर-मत के अनुसार 'इन दोनों के परिमाण, संयोग एवं विभाग, ये तीन गुण माने गए हैं।[30] इस प्रकार नैयायिक तथा प्रभाकर मीमांसकों की दृष्टि में दोनों अनुमेय द्रव्य होने पर भी गुणों की सङ्ख्या की दृष्टि में दोनों के मतों में आंशिक भेद भी दृष्टिगोचर होता है। मीमांसा की भाट्टशाखा के प्रवर्तक आचार्य कुमारिलभट्ट ने यद्यपि काल प्रत्यक्ष है? या अप्रत्यक्ष? इस विषय में स्पष्ट रूप से कुछ भी नहीं कहा है तथापि काल के सम्बन्ध में उन्होंने निम्न वार्तिक लिखा है-

कालश्चैको विभुर्नित्यः प्रविभक्तोऽपि गम्यते।
अर्थवत् सर्वभावेषु व्यज्यते केनचित् क्वचित्।।[31]

इसका अर्थ इस प्रकार है-"काल यद्यपि एक ही है एवं वर्ण के समान ही कूटस्थ नित्य है, तथापि सूर्य की गतिस्वरूप क्रियारूप उपाधियों के भेद से जिस प्रकार एक ही कूटस्थ नित्य वर्ण ध्वनिस्वरूप उपाधि के भेद से भिन्न-भिन्न भासित होते हैं वैसे ही काल भी एक तथा वर्ण के समान कूटस्थ नित्य होने पर भी सूर्य की गतिस्वरूप क्रियारूपी उपाधियों के भेद से पूर्व, पर इत्यादि भेदों से युक्त सा प्रतीत होता है।" यहाँ पर वर्णवत् काल के अभिव्यङ्ग्यत्व के प्रतिपादन से भट्टपाद कुमारिल को काल का प्रत्यक्ष-गम्यत्व अभिमत परिलक्षित होता है। पश्चाद्वर्ती भाट्टानुयायी मीमांसकों ने काल की प्रत्यक्षविषयता का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया है।

काल की प्रत्यक्ष-विषयता के सन्दर्भ में पार्थसारथिमिश्र का कहना है कि '**किमत्र घटोऽवस्थितः**? क्या यहाँ घट है? इस प्रश्न का यह उत्तर प्राप्त होता है-**अस्मिन् क्षणे मया उपलब्धः**, प्रातःकाल से लेकर अब तक मैंने देखा। इन प्रश्नों के उत्तरों से काल का प्रत्यक्ष-अवबोध अनुभव द्वारा सिद्ध हो जाता है।[32]

काल रूप-रहित द्रव्य होने से इसका प्रत्यक्ष कैसे होगा? यह प्रश्न उठाकर

शास्त्रदीपिका की सिद्धान्तचन्द्रिका व्याख्या के रचनाकार श्रीरामकृष्ण महोदय इसका यह समाधान प्रस्तुत करते हैं कि 'रूपी (रूप वाले द्रव्य) का ही प्रत्यक्ष हो ऐसा मीमांसकों का प्रत्यक्ष-लक्षण नहीं है। सर्वप्रथम संविद् उत्पन्न होता है, वही यह ज्ञान परोक्ष है या यह ज्ञान अपरोक्ष है, ऐसा अनुभव के आधार पर पदार्थ की प्रत्यक्ष विषयता या परोक्षता का निर्धारण करता है। कालविषयक ज्ञान प्रत्यक्ष है ऐसा अनुभव ही प्रत्यक्ष-विषयता में प्रमाण है।[33]

काल का रूपरहित होना भी उसकी प्रत्यक्षगम्यता में बाधक नहीं है। इस सन्दर्भ में मीमांसकुतूहलकार के काल 'षडिन्द्रियवेद्य' प्रतिपादित किया है।[34] जो द्रव्य मात्र चक्षु द्वारा ही प्रत्यक्षगम्य हो उनके प्रत्यक्ष के लिए रूपवान् होने की बाध्यता है। जिन पदार्थों का चक्षु के साथ अन्य चारों इन्दियों तथा उभयेन्द्रिय मन के द्वारा भी प्रत्यक्ष होता है, उस पदार्थ के प्रत्यक्ष में रूपवत्ता का नियम नहीं है। काल की सभी इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्षवेद्यता अनुभव प्रमाणसिद्ध है। जिस प्रकार इस क्षण मैं घट देख रहा हूँ यह बोध काल के बाह्यप्रत्यक्ष को सिद्ध करता है उसी प्रकार इस समय मैं सुखी हूँ, अभी बड़ा कष्ट है, ये अनुभव काल की मानस प्रत्यक्षगम्यता को भी सिद्ध करते हैं। 'मानमेयोदय' में जिस प्रकार नारायणभट्ट ने मान-प्रकरण में '**तस्य च सर्वेन्द्रियजन्यत्वात् सर्वैरपीन्द्रियैः संयोगात् ग्रहणम्**[35] (काल की प्रतीति इन्द्रियों द्वारा होने से सभी इन्द्रियों द्वारा उसका संयोग सन्निकर्ष से ग्रहण हो जाता है।) इस अंश द्वारा काल को प्रत्यक्षविषय सिद्ध किया है, उसी प्रकार मेय भाग में नारायणपण्डित ने भी ''**स च कालः षडिन्द्रियग्राह्य इति पूर्वमेवोक्तम्**''[36] कहते हुए इसकी षडिन्द्रियग्राह्यता का प्रतिपादन किया है।

इसी प्रकार नीतितत्त्वाविर्भावकर्ता चिदानन्दपण्डित ने आकाश की प्रत्यक्षगम्यता में निम्नलिखित अनुमान प्रस्तुत किया है-

1. आकाश प्रत्यक्ष है।
2. अमनस् (मन भिन्न होने हुए) विभु होने के कारण।
3. आत्मा के समान।[37]

इस प्रकार यहाँ पर मन-भिन्न विभुतारूपी हेतु से आकाश की प्रत्यक्षविषयता सिद्ध की गई है। यहाँ पर यह भी ज्ञातव्य है कि भाट्टमीमांसा में मन को द्रव्य माना गया है।[38]

नीतितत्त्वाविर्भावकर्ता चिदानन्दपण्डित का अनुसरण करते हुए

नारायणपण्डित भी दिक्, काल तथा आकाश की प्रत्यक्षविषयता की सिद्धि इसी अनुमान द्वारा प्रदर्शित करते हैं। अनुमान इस प्रकार है-दिक्, काल तथा आकाश प्रत्यक्ष है। मन-रहित आत्मा के समान, विभु द्रव्य होने से। इस अनुमान द्वारा आकाश, काल तथा दिक् तीनों की प्रत्यक्ष-विषयता नारायणभट्ट ने प्रतिपादित की है।[39]

भाट्टमीमांसाभिमत इन्द्रियार्थसन्निकर्ष

मीमांसा के भाट्टसम्प्रदाय में प्रत्यक्ष प्रमा के लिए आवश्यक इन्द्रिय एवं अर्थ के सम्बन्धरूप सन्निकर्ष में नैयायिक तथा प्राभाकरसम्प्रदाय में मतभेद है। स्वयं भाट्टसम्प्रदाय के विद्वानों में सन्निकर्षों की सङ्ख्या के सम्बन्ध में आंशिक मतभेद विद्यमान हैं।

न्यायशास्त्र में इन्द्रिय तथा घटादि के प्रत्यक्ष में इन्द्रिय चक्षु तथा घटादिविषयों के बीच संयोग सन्निकर्ष, घटनिष्ठ गुण, कर्म तथा घटत्व जाति के साथ संयुक्त समवाय सन्निकर्ष, गुण एवं कर्मवृत्ति गुणत्व तथा कर्मत्व के प्रत्यक्ष में इनके साथ संयुक्त-समवेत-समवाय सन्निकर्ष माना गया है। नैयायिक शब्द को आकाशामक श्रोत्र का गुण मानकर समवाय सन्निकर्ष से शब्द का प्रत्यक्ष प्रतिपादित करते हैं। शब्दनिष्ठ शब्दत्व जाति के लिए ये समवेत-समवाय सन्निकर्ष का प्रतिपादन करते हैं। इसी प्रकार से इनके मत मे भूतल में घट नहीं है (भूतले घटो नास्ति) इस प्रतीति में घटाभाव चक्षु से संयुक्त भूतल का विशेषण होने से तथा भूतल विशेष्य होने से चक्षु इन्द्रिय द्वारा विशेषण-विशेप्य-भाव से अभाव का प्रत्यक्ष माना गया है।[40]

मीमांसा के प्राभाकरसम्प्रदाय या गुरुमत में अभाव को अधिकरण (भूतल) स्वरूप माना जाता है। भूतल का प्रत्यक्ष, संयोग सन्निकर्ष से हो जाता है। अभाव का अस्तित्व अभिमत न होने के कारण विशेषण-विशेष्य भाव सन्निकर्ष को छोड़कर शेष पाँचों सन्निकर्ष नैयायिकों के अनुरूप प्राभाकरमीमांसा में भी अभिमत हैं।

मीमांसा की भाट्टशाखा में उक्त षड्विध सन्निकर्षों में से समवाय तथा समवेतसमवाय सन्निकर्ष का सभी मीमांसकों ने निराकरण किया है। कर्णशष्कुलीरूप आकाश में समवेत गुणात्मक शब्द के प्रत्यक्ष के लिए समवाय तथा शब्द में समवेत शब्दत्व जाति के प्रत्यक्ष के लिए समवेतसमवायसन्निकर्ष

माना गया है। इन दोनों सन्निकर्षों का भाट्टसम्प्रदाय द्वारा निम्नलिखित तर्कों द्वारा निराकरण किया गया है।

1. शब्द नैयायिकों की मान्यता के अनुसार आकाशात्मक श्रोत्र का गुण नहीं है अपितु द्रव्य है अतः श्रोत्रेन्द्रियरूप द्रव्य द्वारा शब्दरूपी द्रव्य का संयोग सन्निकर्ष से ही प्रत्यक्ष हो जाने से समवाय सन्निकर्ष निरस्त हो जाता है।
2. शब्द द्रव्य होने से शब्दनिष्ठ शब्दत्व-जाति का भी संयुक्त तादात्म्य सन्निकर्ष द्वारा प्रत्यक्ष हो जाता है अतः शब्दत्व के प्रत्यक्ष के लिए 'समवेत सन्निकर्ष' की भी आवश्यकता नहीं रहती है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि भाट्टमीमांसा समवाय 'पदार्थ' स्वीकार नहीं करती अतः समवाय के स्थान पर 'तादात्म्य' शब्द का प्रयोग किया गया है। मानमेयोदयकार नारायणभट्ट ने संयोग एवं संयुक्ततादात्म्य, ये दो सन्निकर्ष मुख्य रूप से प्रतिपादित किए हैं। इनके अनुसार पृथिवी, जल तथा तेज का चक्षु तथा त्वक् इन्द्रिय-द्वारा अर्थ के साथ संयोग-सन्निकर्ष से दिक्, आकाश तथा अन्धकार का नेत्र संयोग से शब्द का श्रोत्र-संयोग से तथा आत्मा का मन एवं आत्मसंयोग ज्ञान उत्पन्न होता है। काल का प्रत्यक्ष नारायण ने सभी इन्दियों के संयोग से प्रतिपादित किया है।[41]

नारायणपण्डित द्रव्याश्रित गुण, कर्म एवं जाति के प्रत्यक्ष, इन्द्रिय का इनके साथ होने वाले संयुक्त्रतादात्म्य सन्निकर्ष द्वारा जिस प्रकार प्रतिपादित करते हैं, उसी प्रकार गुण तथा कर्मनिष्ठ जाति गुणत्व तथा कर्मत्व का भी प्रत्यक्ष ये चक्षु इन्द्रियों द्वारा परम्परा सम्बन्ध से इस संयुक्ततादात्म्यसन्निकर्ष द्वारा ही प्रतिपादित करते हैं। यद्यपि मुख्य रूप से इन्होंने ये दो ही सन्निकर्ष माने हैं परन्तु गुणत्व तथा कर्मत्व के साथ इन्द्रिय के न्यायमत में स्वीकृत संयुक्तसमवेतसमवाय के अनुरूप संयुक्तातादात्म्यतादात्म्य सन्निकर्ष मानने में (इसे मानने में भी हमारी कोई हानि नहीं है यह कहते हुए) इन्होंने अपनी स्वीकृति प्रदान की है।[42]

विशेषण-विशेष्यभाव-सन्निकर्ष तथा अनुपलब्धिप्रमाण

न्यायशास्त्र के छठे सम्बन्ध में रूप के विशेषण-विशेष्यभाव-सन्निकर्ष का प्रतिपादन किया गया है। इस विशेषण-विशेष्यभाव से वे समवाय तथा अभाव का ग्रहण प्रतिपादित करते हैं।[43] भाट्ट-मीमांसक 'समवाय' नामक पदार्थ का

अस्तित्व स्वीकार नहीं करते हैं। नैयायिकों ने अवयव-अवयवी, गुण-गुणी, क्रिया तथा क्रियावान्, द्रव्य, जाति तथा व्यक्ति एवं नित्य द्रव्य एवं विशेष, इन पाँच स्थानों में 'समवाय' सम्बन्ध स्वीकार किया है। इनमें प्रथम चार स्थितियों में भाट्टमीमांसकों द्वारा भेद तथा अभेद दोनों की प्रतीति के आधार पर 'अयुतसिद्ध समवाय' के स्थान पर 'भेदाऽभेद सम्बन्ध' के रूप में 'तादात्म्य' सम्बन्ध का प्रतिपादन किया गया है।[44] विशेष पदार्थ-मीमांसादर्शन में स्वीकृत नहीं है। विशेष जो नित्य द्रव्य परमाणुरूप में प्रतिपादित किये गए हैं, वे 'परमाणु' भी मीमांसा में अभिमत नहीं हैं। इस प्रकार इनके सम्बन्ध के रूप में भी 'समवाय' पदार्थ इन्हें अभिमत नहीं है। इस प्रकार-'समवाय' के प्रत्यक्ष के लिए इन्हें विशेषण-विशेष्य-भाव सन्निकर्ष मानने की आवश्यकता नहीं है।

नैयायिकों ने अभाव पदार्थ के ग्रहण के लिए भी विशेषण-विशेष्य-भाव-सन्निकर्ष को स्वीकार किया है। इस सन्दर्भ में भाट्ट-मीमांसकों में दो विचारधाराएँ प्रकट हुई हैं। एक के अनुसार अभाव का ग्रहण इन्द्रिय द्वारा सम्भव न होने से 'अभाव' प्रत्यक्ष का विषय ही नहीं है। 'यदि यहाँ घट होता तो अवश्य उपलब्ध होता', चूँकि उपलब्ध होने योग्य होने पर भी घट की उपलब्धि नहीं हो रही है, अतः घट यहाँ नहीं है इस तर्क से संस्कृत अनुपलब्धि या 'अभाव' नामक प्रमाण से भाट्ट-मीमांसक अभाव का ज्ञान प्रतिपादित करते हैं, इस विचारधारा में विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष नहीं माना गया है। आचार्य कुमारिल यह कहते हैं कि किसी वस्तु के अभावात्मक पदार्थ के अस्तित्व में प्रत्यक्षादि पाँचों प्रमाणों की गति नहीं होती अतः इस अभावात्मक वस्तु की सत्ता के अवबोध के लिए अभाव (अनुपलब्धि) की प्रमाणता है।

प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते।
वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता।।[45]

अभाव पदार्थ के ग्रहणार्थ 'अभाव' नामक प्रमाण को ही स्वीकार किये जाने के भट्ट-कुमारिल ने इस सिद्धान्त से निरपेक्ष एक दूसरा सिद्धान्त इनके ही अनुयायी विद्वान् कमलाकरभट्ट ने 'मीमांसाकुतूहल' में अभिव्यक्त किया है। इनका कहना है कि 'अनुपलब्धि' या 'अभाव' प्रमाण से अभाव का ग्रहण किसी विशेष स्थल में ही हुआ करता है, सर्वत्र नहीं।[46] सर्वसाधारण रूप से अभाव ज्ञान के लिए इन्होंने विशेषणविशेष्य-भाव सन्निकर्ष से प्रत्यक्ष प्रमाण को ही अभावाग्राहक

प्रमाण के रूप में स्थापित किया है। वे स्थल-विशेष जहाँ विशेषण-विशेष्य-भाव सम्बन्ध सम्भव नहीं है, उन्हें कमलाकर भट्ट ने निम्नलिखित दो बिन्दुओं में प्रस्तुत किया है-

1. आत्मा में धर्मादि के अभाव तथा देशान्तरीय घटादि पदार्थों के अभाव-ज्ञान में अनुपलब्धि की प्रामाणिकता
2. घट वाले भूतल में भ्रामक घटाभाव के ज्ञान में अनुपलब्धि की प्रामाणिकता। इन दोनों विचार स्थलों में से प्रथम स्थल के सन्दर्भ में कमलाकरभट्ट लिखते हैं कि-'आत्मा में धर्मादि के अभाव तथा देशान्तरीय घटादि पदार्थों के अभाव के साथ इन्द्रियों का सन्निकर्ष (सम्बन्ध) सम्भव नहीं है। धर्मादि पदार्थ अतीन्द्रिय पदार्थ है अतः उनके साथ इन्द्रिय का जैसे विशेषण-विशेष्य-भाव सन्निकर्ष नहीं हो सकता, उसी प्रकार अन्य देश में विद्यमान घटादि पदार्थों के समान उनके अभाव के साथ भी इन्द्रियों का विशेषण-विशेष्य-भाव सन्निकर्ष सम्भव नहीं है। इन स्थलों में अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा सम्भव न हो पाने के कारण इन अभावों के ज्ञानार्थ अनुपलब्धि प्रमाण की प्रामाणिकता इन्होंने प्रदर्शित की है।[47]

इसी प्रकार प्रागभावस्वरूप-विवेचन के प्रसङ्ग में अनुपलब्धि प्रमाण के विषय-रूप में द्वितीय स्थल को प्रदर्शित किया है। यहाँ वे यह लिखते हैं कि किसी को घट जहाँ पर विद्यमान है वहाँ यदि घटाभाव का ज्ञान होता है, वहाँ 'अभाव-ज्ञान' केवल अनुपलब्धि प्रमाण से ही सम्भव है। यद्यपि घट वाले स्थल पर होने वाला घटाभाव ज्ञान भ्रमज्ञान है तथापि यहाँ पर 'अभाव', अत्यन्ताभाव के रूप में, सर्वत्र विद्यमान रहने से, इस घटप्रकारक अभाव में, केवल विशेषण 'घटत्व' अंश में ही भ्रम विद्यमान है। विशेष्य अभाव में नहीं।[48] यहाँ अभाव का प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञान सम्भव नहीं है। प्रतियोगी घट यहाँ पर विद्यमान होने से तद्घटप्रतियोगिक अभाव विद्यमान ही नहीं है। ऐसी स्थिति में उसके साथ इन्द्रिय का विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष सम्भव नहीं है।[49] ऐसे स्थल में भी अभाव के ज्ञानार्थ इन्होंने अनुपलब्धि प्रमाण की आवश्यकता निरूपित की है। इस प्रकार सर्वत्र विशेषण-विशेष्य-भाव सन्निकर्ष द्वारा प्रत्यक्ष से तथा स्थलविशेषों में अभाव का ज्ञान इन्होंने अनुपलब्धि प्रमाण द्वारा प्रतिपादित किया है।

परामर्श

भाट्टमीमांसा की दृष्टि से प्रत्यक्ष, जहाँ एक ओर धर्म में प्रत्यक्ष तथा तन्मूलक अन्य सभी प्रमाणों की अप्रामाणिकता के प्रतिपादन द्वारा वेदमात्र की प्रमाणिकता का प्रातिपादन करता है। वहीं धर्मात्मक यागादि कर्मों का ज्ञान हो जाने पर यजमान तथा यजमान की पत्नी द्वारा सम्पाद्य 'याज्यावेक्षणादि' के सम्पादन में भी अपनी आनुष्ठानिक उपयोगिता को भी अभिव्यक्त करता है। भाट्टमीमांसा की प्रत्यक्ष-प्रक्रिया के विवेचन में ये दोनों प्रत्यक्षप्रमाण के प्रयोजन जहाँ अभिव्यक्त होते हैं वहीं भारतीय दार्शनिक चिन्तन में विद्यमान समन्वयात्मिका दृष्टि भी इस विवेचन में अभिव्यक्त को प्राप्त हुई। कुमारिलभट्ट के अनुयायी होने पर भी कमलाकरभट्ट द्वारा विशेषण-विशेष्यभाव सन्निकर्ष मानने का सिद्धान्त जहाँ भाट्टमीमांसा में एक वैचारिक स्वातन्त्र्य की भावना को अभिव्यक्त करता है, वहीं इनके भ्रातृव्य गागाभट्ट भी अपने सन्निकर्ष-विचार में सैद्धान्तिक समन्वय की भावना को अभिव्यक्त करते हैं। श्रीविश्वेश्वरभट्ट (गागाभट्ट) ने भाट्टचिन्तामणि ग्रन्थ से सन्निकर्ष-स्थल में नैयायिकों द्वारा प्रतिपादित 'संयुक्त समवाय' यथावत् स्वीकार किए हैं। यद्यपि गागाभट्ट ने 'समवाय' शब्द का प्रयोग किया है तथापि वे समवाय को अयुतसिद्ध न मानकर भेदाऽभेद सम्बन्ध तादात्म्य के अर्थ में प्रतिपादित करते हैं।[50] इस प्रकार मीमांसा का अर्थ तथा न्याय की शब्दावली के सामञ्जस्य से गागाभट्ट ने भी प्रत्यक्ष-प्रमाण की प्रक्रिया में एक सैद्धान्तिक समन्वय की भावना अभिव्यक्त की है।

सन्दर्भ

1. आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानां तस्मादनित्यमुच्यते।। जैमिनिसूत्र 1. 2. 1
2. फलाय विहितं कर्म क्षणिकं चिरभाविने।
   तत्सिद्धेर्नान्यथेत्येवमपूर्वं प्रति गम्यते।। तन्त्रवार्तिक, अजिता, पृ०-36, गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, प्रयाग, 1990 ई०
3. आत्मा ज्ञातव्य इत्येतन्मोक्षार्थं न च चोदितम्।
   कर्मप्रवृत्तिहेतुत्त्वादात्मज्ञानस्य लक्ष्यते।।
   श्लोकवार्तिकम्, पृ० 474 तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, 1978
4. 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि'-साङ्ख्याकारिका, कारिका, 04
5. तानि च प्रमाणानि षट्। प्रत्यक्षानुमानोपमानार्थापत्त्यभावशब्दाख्यानि।।
   -मीमांसाकुतूहलम्, पृ०-72 सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1987

6. 'अथाऽतो धर्म जिज्ञासा' जैमिनिसूत्र, 1. 1. 1
7. चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः जैमिनि सूत्र 1. 1. 2
8. सत्सम्प्रयोगे जैमिनिसूत्र, 1. 1. 4
9. न त्वेकं लक्षयेदेषु बुद्धिपूर्वं कथञ्चन।
सम्भवत्येकवाक्यत्वे वाक्यभेदश्च नेष्यते।।
-जैमिनिसूत्र 1. 1. 4 का श्लोकवार्तिक, वार्तिक सङ्ख्या-09
10. न चाप्येतेने सूत्रेण प्रत्यक्षं लक्ष्यते स्फुटम्।
तदाभासेऽपि तुल्यत्वात् स्वप्नाज्ञानैकवर्जनात्।। जै० सू० 1. 1. 4 श्लोकवार्तिक, वार्तिक सङ्ख्या-10
11. न विशेषो न सामान्यं तदानीमनुभूयते।
तयोराधारभूता तु व्यक्तिरेवावसीयते।। जै० सू० 1. 1. 4 का श्लोकवार्तिक, वार्तिक सङ्ख्या-113
12. अस्ति ह्यालोचनं ज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम्।
बालमूकादिसदृशं विज्ञानं शुद्धवस्तुजम्।। जै०सू० 1. 1. 4 का श्लोकवार्तिक, वार्तिक सङ्ख्या-112
13. 'तत परं पुनर्वस्तु धर्मो जात्यादिभिर्यया।
बुद्ध्यावासीयते सापि प्रत्यक्षत्वेन सम्मता।। जै०सू० 1. 1. 4 का श्लोकवार्तिक, वार्तिक सङ्ख्या-120
14. अतोऽस्ति विकल्पस्यापि विशदावभासित्वमिति प्रत्यक्षत्वोपपत्तिः
-शास्त्रदीपिका, पृ०-39, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 1988
15. 'सामान्याकारस्यापि परोक्षापरोक्ष-विभागदर्शनात्। तथाहि दूराच्छ्वेतं स्वलक्षणं पश्यन्ननिर्धारितगवाश्वजातिविशेषो हेषाशब्दश्रवणादश्वत्वं तस्मिन्नेव स्वलक्षणेऽनुमिमानोऽपि परोक्षं बुध्यते। वदन्ति हि अश्वोप्ययं न चक्षुषा तथावभासत इति-प्रत्यासन्नस्तु वदति-सम्प्रत्यश्वत्वमप्यस्य चक्षुषा पश्यति न पूर्वमिति।'' शा०दी०पृ०-39
16. मानमिन्द्रिययोगोत्थमिह प्रत्यक्षमुच्यते। नीति, पृ०-57, उद्धृत मा०मे०पृ०-30
17. तत्र इन्द्रियार्थसन्निकर्षजं प्रमाणं प्रत्यक्षम्, मानमेयोदयः, पृ०-10,
चौखम्बा, विद्याभवन, वाराणसी, 1996
18. तत्र सदर्थेन्द्रियसंयोगजं ज्ञानं प्रत्यक्षम्।'' मीमांसाकुतूहलम्, पृ०-37
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालय, वाराणसी, 1987
19. ''जन्यज्ञानजन्यमात्रवृत्तिजातशून्यत्वम्। भाट्टचिन्तामणि, पृ०-15
20. द्रव्यं जातिर्गुणः - चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, सं०1933 कर्म विषयश्चतुर्विधः (नीति पृ०-57) मान०मे०पृ०-1933
21. इन्द्रियव्यतिरिक्तानि द्रव्याण्येषां च जातयः।
प्रायश्च गुणकर्माणि प्रत्यक्षाणीति वक्ष्यते।। मान०मे०कारिका, 09 पृ०-30

22. "तत्करणमिन्द्रियं न सन्निकर्षादि। सविकल्पस्यापि हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः फलम्।" -मीमांसा-कुतूहलम्, पृ०-73
23. न आवश्यकतेजोऽभावेनैवोपपत्तौ द्रव्यान्तरकल्पनाया अन्याय्यत्वात्। -न्यायसिद्धान्तमुक्तावली पृ०-38, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1983
24. 'शब्दगुणकमाकाशम्' तर्कभाषा, पृ०-354, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 1990
25. 'न च शब्दोऽप्यस्य गुणः तस्य द्रव्यान्तरत्वोक्तेः।' मीमांसाकुतूहलम्, पृ०-65
26. 'इह पक्षीति विशिष्टप्रतीत्या हि व्योम चाक्षुषम्।' वही, पृ०-65
27. कालविपरीतपरत्वापरत्वानुमेया दिक्। एका नित्या विभ्वी च। तर्कभाषा', पृ०-370
28. 'कालोऽपि दिग्विपरीतपरत्वापरत्वानुमेयः। सङ्ख्या-परिमाण-पृथक्त्वसंयोगविभागवान्। एको नित्यो विभुश्च।' तर्कभाषा', पृ०-360
29. 'दिक्कालावनुमेयावेव, प्रकरण-पञ्चिका, पृ०-81, का०हि०वि०वि०वाराणसी, 1961
30. 'परिमाणसंयोगविभागवन्तौ दिक्कालौ' प्रकरणपञ्चिका, पृ०-78
31. श्लोकवार्तिक, शब्दनित्यताधिकरण, वार्तिक सङ्ख्या, 303 पृ०-571
32. किमत्र घटोऽवस्थित इति पृष्टः कथयति-अस्मिन्क्षणे मयोपलब्ध इति। तथा प्रातरारभ्यैतावत्काल मयोपलब्ध इति। कालभेदेत्वगृहीते कथमेवं वदेत्? तस्मादस्ति कालभेदपरामर्शः। शास्त्रदीपिका, पृ०-46
33. नहि रूपिप्रत्यक्षमित्यस्माकं प्रत्यक्षलक्षणं किन्तु संविदेव परोक्षापरोक्षनिर्भासा जायमाना इदं प्रत्यक्षमिदमप्रत्यक्षमिति विभजते। शास्त्रदीपिका पृ०-46, पंङ्क्ति 10, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 1988
34. अतः षडिन्द्रियवेद्य इत्युक्तम्, मीमांसाकुतूहलम्, पृ०-65
35. तस्य च सर्वेन्द्रियजन्यत्वात् सर्वैरपीन्द्रियैः संयोगाद्ग्रहणम्-मानमेयोदयः, पृ०-16
36. स च कालः षडिन्द्रियग्राह्य इति पूर्वमेवोक्तम् कहते हुए इसके षडिन्द्रियग्राह्यता का प्रतिपादन किया है। मानमेयोदय, पृ०-181
37. 'आकाशं प्रत्यक्षम्, अमनस्त्वे सति विभुत्वाद् आत्मवदिति' नीति पृ०-41
38. मनो विभुः मानमेयोदयः, पृ०-203
39. दिक्कालाकाशाः प्रत्यक्षाः अमनस्त्वे सति विभुत्वाद् आत्मवत्। मानमेयोदयः, पृ०-203
40. तर्कभाषा, पृ०-77 से 82
41. मानमेयोदयः, पृ०-17 से 16
42. 'यथापरे रूपत्वादिग्रहणाय संयुक्तसमवेतसमवायमाश्रयन्ते तथास्माकमपि संयुक्तादात्म्यतादात्म्यं नाम तृतीयः सन्निकर्षोऽस्तु का हानिः?-मानमेयोदयः, पृ०-16
43. 'अभावसमवायौ च ग्राह्याः सम्बन्धषट्कतः' तर्कभाषा, पृ०-85
44. तेन भेदाऽभेदौ तादात्म्यमिति, न्यायरत्नाकरः, मीमांसाकुतूहलम्, पृ०-12

45. प्रमाणंपञ्चकं श्लोकवार्तिक, अभावप्रामाण्यवाद, वा०सं०-01, पृ०-335
46. तेन आत्मनि धर्मादेर्देशान्तरीयघटादेश्चातीन्द्रियत्वेनोपलम्भापादानामभावादनु-लब्ध्याऽभावग्रहः। मीमांसाकुतूहलम्, पृ०-75
47. घटवति इह घट्याभाव इत्यभावविशेष्यको भ्रमस्त्ववदस्ति। तत्र च प्रकार एवं भ्रमत्वं धर्म्यंन्शे बाधाभावात्। मीमांसाकुतूहलम्, पृ०-20
48. घटवति इह घट्याभाव इत्यभावविशेष्यको भ्रमस्तावदस्ति। तत्र च प्रकार एवं भ्रमत्वं धर्म्यन्शे बाधाभावात्। मीमांसाकुतूहलम्, पृ० 20।
49. स च संसर्गांशे भ्रमो न संसर्ग्यंशे तस्यैव बाधात्। संसर्गिणोश्चबाधात्।
स च भ्रमो नाभावांशे प्रत्यक्षः, तत्र तस्याविद्यमानतया सन्निकर्षाभावात् ।
50. न त्वयुतसिद्धसम्बन्धो समवायः-भाट्टचिन्तामणि, पृ०-18, पंङ्क्ति 20 से 21
"अतो भेदाऽभेदः।"-भाट्टचिन्तामणि, पृ०-18, पंङ्क्ति 21

22

मीमांसा दर्शन में इन्द्रियों की प्राप्यप्रकाशकारिता

भारतीय दर्शनशास्त्र में इन्द्रियवेद्य तथा अनिन्द्रियवेद्य पदार्थों के ज्ञान की विधा को स्पष्ट करने की प्रक्रिया में इन्द्रियवेद्य पदार्थों के ज्ञान को प्रायः सभी दार्शनिकों ने 'प्रत्यक्ष' माना है।

प्रमाणों में प्रथम स्थान पर परिगणित प्रत्यक्ष-प्रमाण में इन्द्रियों के सन्निकर्ष के स्वरूप तथा सङ्ख्या के विषय में जिस प्रकार दार्शनिक एकमत नहीं हैं वैसे ही, इन्द्रियाँ अर्थ को प्राप्त करके प्रकाशित करती हैं या बिना अर्थ को प्राप्त किए ही उससे अर्थ प्रकाशित हो जाता है। इस सन्दर्भ में भी दार्शनिक एक मत नहीं है। अर्थ को प्राप्त करके इन्द्रियों द्वारा उनके प्रकाशन को **'प्राप्यप्रकाशकारित्व'** तथा बिना अर्थ को प्राप्त किए उन्हें प्रकाशित करने के सिद्धान्त को **अप्राप्यप्रकाशकारित्व** का सिद्धान्त माना जाता है।

भारतीय दर्शन के आस्तिक वर्ग में परिगणित सम्प्रदायों में साङ्ख्य, योग तथा वेदान्त दर्शन में सभी इन्द्रियों को प्राप्यप्रकाशकारी माना गया है। न्याय तथा वैशेषिक प्रस्थानों में सभी बाह्येन्द्रियों को प्राप्यप्रकाशकारी माना गया है। मन के विषय में इनमें आन्तरिक मतभेद हैं। कुछ विद्वान् मन को भी संस्कार-लक्षण-प्रत्यासत्ति के बल पर प्राप्यप्रकाशकारी मानते हैं। इसके विपरीत अन्य वैशेषिक विद्वान् मन को अप्राप्यप्रकाशकारी ही निरूपित करते हैं।[1] मीमांसा-शास्त्र में मन को छोड़कर सभी इन्द्रियों को प्राप्यप्रकाशकारी माना गया है।[2]

भारतीय दर्शन के नास्तिक वर्ग में विद्यमान बौद्ध दार्शनिक जहाँ चक्षु, श्रोत्र एवं मन को प्राप्यप्रकाशकारी मानने के विरुद्ध हैं[3] वहीं जैन दार्शनिक भी मन एवं चक्षु को प्राप्यप्रकाशकारी नहीं मानते।[4]

इन्द्रियों की प्राप्यप्रकाशकारिता तथा अप्राप्यप्रकाशकारिता का विवाद बाह्येन्द्रियों के सन्दर्भ में 'चक्षु' तथा 'श्रोत्र' तक परिसीमित है। घ्राण, त्वग्, एवं

रसना को सभी ने प्राप्यप्रकाशकारी माना है। पञ्च ज्ञानेन्द्रियों में 'चक्षु' तथा श्रोत्र' को प्राप्यप्रकाशकारी मानने के पक्ष पर बौद्ध-दार्शनिकों का यह आक्षेप है कि यदि इन दोनों को प्राप्यप्रकाशकारी माना जाए तो इनके प्राप्यप्रकाशकारित्व की सङ्गति दो ही स्थितियों में सम्भव है-

1. चक्षु तथा श्रोत्र, ये दोनों इन्द्रियाँ अपने स्थानों से चलकर विषय देश में जाएँ तथा उनसे सम्बद्ध हों।
2. विषय ही स्वयं चलकर इन्द्रियों से सम्बद्ध हो जाएँ।

इनमें से प्रथम पक्ष का अनुभव से ही निराकरण हो जाता है। दूसरे पक्ष की स्वीकृति में 'अग्नि' को देखने पर आँख के जल जाने का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता है। इन तर्कों के आधार पर बौद्ध दार्शनिकों ने इन्द्रियों को प्राप्यप्रकाशकारी मानने वाले दार्शनिकों के समक्ष अपना आक्षेप उपस्थित किया है।

बौद्धों के आक्षेप के निराकरण के लिए जिस प्रकार न्याय-वैशेषिक, साङ्ख्य तथा योगमतावलम्बी दार्शनिकों ने विचार किया है। इसी प्रकार मीमांसा में भी इस पर विचार उपलब्ध होता है। इस परिप्रेक्ष्य में मीमांसा के अभिमत विचार का निम्न बिन्दुओं के माध्यम से परिशीलन किया जा सकता है।

सूत्रकार तथा भाष्यकार का दृष्टिकोण

मीमांसाशास्त्र के प्रवर्तक महर्षि जैमिनि ने धर्म में प्रत्यक्षादि प्रमाणों की अप्रवर्तकता (अप्रामाण्य) प्रदर्शित करने के उद्देश्य से **''सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात्''**[5] इस प्रत्यक्ष सूत्र की रचना की है। इस सूत्र के अनुसार विद्यमान विषयों के साथ इन्द्रियों के सम्बन्ध से पुरुष में जिस ज्ञान की उत्पत्ति होती है, उस ज्ञान का साधन प्रत्यक्षप्रमाण है। सूत्र के आधे भाग के इस अर्थ के परिशीलन से यह स्पष्ट है कि महर्षि जैमिनि को इन्द्रियों की प्राप्यप्रकाशकारिता ही अभिमत है।

इस सूत्र की व्याख्या में आचार्य भवदास ने 'सत्सम्प्रयोगे' इस पद का सता सम्प्रयोग अर्थ माना है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार वर्तमान पदार्थ के साथ इन्द्रिय के संयोग से उत्पन्न सभी ज्ञान सम्प्रयोगज प्रत्यक्ष हैं। वर्तमान मेघ के साथ इन्द्रिय के संयोग से उत्पन्न मेघ के प्रत्यक्ष से भावी वृष्टि के अनुमिति ज्ञान में सत्सम्प्रयोगजत्व होने पर भी विद्यमानोपलम्भनत्व नहीं है अतः प्रत्यक्षं सत्सम्प्रयोगजं

विद्यमानोपलम्भनत्वात्' यह हेतु बाधित होने के कारण 'सत्सम्प्रयोग' शब्द की व्याख्या 'सता सम्प्रयोग' इस प्रकार तृतीयासमासघटित न मानकर 'संश्चासौ प्रयोगश्च' इस प्रकार अभेदगर्भित कर्मधारय समास के आधार पर मानने की स्थिति में सम्प्रयोग से केवल मेघ का ज्ञान निष्पन्न होता है। भावी वृष्टि के अनुमान में विद्यमान मेघ के साथ इन्द्रिय के सम्प्रयोग की उपयोगिता नहीं है अतः उक्त अनुमान में विद्यमानोपलम्भनत्व का व्यभिचार नहीं है।[6] विवेचित दोनों मतों में किसी अन्य आधार पर भले ही मतभेद हो परन्तु इन्द्रियों की प्राप्यप्रकाशकारिता दोनों ही मतों में समान रूप से ग्राह्य है।

भाष्यकार शबरस्वामी उक्त प्रत्यक्ष सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखते हैं "**सतीन्द्रियार्थसम्बन्धे या पुरुषस्य बुद्धिर्जायते तत्प्रत्यक्षम्। भविष्यंश्चैषोऽर्थो न ज्ञानकालेऽस्तीति। सतश्चैतदुपलम्भनं नासतः।**" किसी वस्तु के सत् (वर्तमान) रहने पर ही उसका ग्रहण होता है। असत् (भविष्यत्) अर्थ ज्ञानकाल में नहीं रहता। किसी वस्तु के वर्तमान में रहने पर ही उसका ग्रहण होता है, असत् का नहीं।[7]

भाष्यकार शबरस्वामी की इन पङ्क्तियों के समालोचन से इन्द्रियों का प्राप्यप्रकाशकारित्व ही इन्हें अभिमत है, यही अर्थ परिलक्षित हो रहा है।

इन्द्रियों की प्राप्यप्रकाशकारिता विषयक गुरुमत

भाष्यकार शबरस्वामी के अनन्तर मीमांसाशास्त्र का चिन्तन, कुमारिल भट्ट, प्रभाकर तथा मुरारि मिश्र, इन विद्वानों के द्वारा प्रवर्तित त्रिवेणी में प्रवाहित होता रहा है। इनमें गुरु प्रभाकर के अनुयायी विद्वान् शालिकनाथ मिश्र ने 'प्रकरणपञ्चिका' में साक्षात् प्रतीति को प्रत्यक्षलक्षण[8] के रूप में स्थापित किया है-"**साक्षात्प्रतीतिः प्रत्यक्षम्**" प्रत्यक्ष की प्रक्रिया में आचार्य शालिकनाथ ने आचार्य गौतम द्वारा प्रतिपादित चक्षु के 'प्राप्यप्रकाशकारित्व' का समर्थन किया है। श्रीशालिकनाथ ने गौतम सम्मत चक्षु के प्राप्यप्रकाशकारित्व-साधक अनुमान को प्रदर्शित किया है-

1. चक्षु प्राप्यप्रकाशकारी है
2. बहिरिन्द्रिय के होने से
3. त्वगिन्द्रिय के समान।

प्राप्यकारि चक्षुः बहिरिन्द्रियत्वात्, त्वगिन्द्रियवत्[9]

इस अनुमान में बहिरिन्द्रियत्व हेतु से चक्षु इन्द्रिय के न्यायशास्त्राभिमत प्राप्यप्रकाशकारित्व का समर्थन किया है। श्रीशालिकनाथ ने सर्वप्रथम गौतम के प्रत्यक्षलक्षण को उद्धृत किया है- 'इन्द्रिय एवं अर्थ के सन्निकर्ष (सम्बन्ध) से उत्पन्न, जो अव्यपदेश्य, अव्यभिचारी तथा व्यवसायात्मक ज्ञान है, वह प्रत्यक्ष है।

''इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्।''[10] इस प्रत्यक्ष लक्षण में शाब्दबोध में प्रत्यक्षलक्षण की प्रसृति रोकने के लिए अव्यपदेश्य, भ्रमात्मक ज्ञान में प्रसृति न हो इसलिए अव्यभिचारी तथा संशयात्मक ज्ञान में प्रसृति के निवारणार्थ व्यवसायात्मक पद की योजना की गई है। श्रीशालिकनाथ ने इस प्रत्यक्ष लक्षण को उद्घृत करने के बाद सर्वप्रथम चक्षु को प्राप्यप्रकाशकारी सिद्ध करने के लिए उक्त अनुमान को प्रदर्शित किया तथा इस चक्षु इन्द्रिय की विषय के साथ प्राप्ति सिद्ध करने के लिए इसे न्यायमतानुसार तैजस पदार्थ माना है। इनका कहना है कि चक्षु भी रूप के ज्ञान में दीप के समान कारण होने से तैजस पदार्थ है। चक्षु की भी रश्मियाँ प्रसृत होकर द्रव्य से संयुक्त हो जाती हैं अर्थात् जुड़ जाती हैं तथा फैल जाने के अपने स्वभाव (पृथ्वग्रता) के कारण बड़े से बड़े पर्वतादि द्रव्यों के साथ इस चक्षु की रश्मियों के माध्यम से प्राप्ति हो जाती है।[11]

चक्षु इन्द्रिय को प्राप्यप्रकाशकारी मानने के पक्ष में श्रीशालिकनाथ ने बौद्धों की दृष्टि से तीन आपत्तियों को उत्थापित कर न्यायमतानुरूप इन तीनों आपत्तियों के समाधान भी प्रस्तुत किए हैं। बौद्धों द्वारा उत्थापित आपत्तियाँ निम्नलिखित हैं-

1. चक्षु इन्द्रिय को प्राप्यप्रकाशकारी मानने पर जिस प्रकार त्वगिन्द्रिय से समीप में विद्यमान पदार्थ का अवबोध होता है उसी प्रकार चक्षु इन्द्रिय द्वारा भी समीप के ही विषय का प्रकाशन होगा। दूरवर्ती वस्तु का भी जो इसके द्वारा प्रकाशन होता है, वह चक्षु इन्द्रिय को प्राप्यप्रकाशकारी मानने पर असङ्गत हो जाता है।
2. चक्षु इन्द्रिय द्वारा काँच, स्फटिक, अभ्रकादि पदार्थों से अन्तरित पदार्थ का प्रत्यक्ष, अनुभवसिद्ध है, परन्तु इसे प्राप्यप्रकाशकारी मानने पर अन्तरित पदार्थ के साथ सम्बन्ध न होने से इनका (अन्तरित पदार्थों का) प्रत्यक्ष अनुपपन्न हो जाता है।

3. इसी प्रकार चक्षु इन्द्रिय को प्राप्यप्रकाशकारी मानने की स्थिति में इसके द्वारा एक ही समय में पास तथा दूर के पदार्थों का जो इसके द्वारा प्रत्यक्ष होता है उसकी भी असङ्गति हो जाती है।

इन तीन अनुपपत्तियों को प्रदर्शित करने के अनन्तर श्रीशालिकनाथ ने इनके स्वसमर्थित न्यायदर्शनाभिमत समाधान भी प्रदर्शित किए हैं।

1. एक काल में समीप तथा दूरवर्ती सभी पदार्थों के प्रत्यक्ष की सङ्गति के लिए उनका प्रथम समाधान यह है कि समस्त अर्थों के साथ विद्यमान रहने वाले बाह्य तेज के साथ चक्षु की रश्मियों का एकीभाव हो जाने से तेज के इस एकीभाव की ही चक्षु द्वारा एक काल में समीप तथा दूरस्थ पदार्थों के एक साथ ग्रहण में कारणता है।[12]

समीपवर्ती तथा दूरवर्ती पदार्थों के चक्षु को प्राप्यप्रकाशकारी मानने पर एक काल में ग्रहण होने की आपत्ति[13] का न्यायदर्शनाभिमत समाधान श्रीशालिकनाथ ने प्रदर्शित किया है। इनका कहना है कि चक्षु इन्द्रिय की रश्मियाँ अत्यन्त शीघ्रगामी हैं अतः सूक्ष्म होने से 'शतपत्र' भेदन में एक पत्र से दूसरे पत्र के बीच में काल का ग्रहण न हो पाने से सभी पत्रों में एक साथ सूई द्वारा छेद किए जाने का जैसे भान होता है वैसे ही, चक्षु इन्द्रिय की रश्मियाँ यद्यपि बारी-बारी से समीप तथा दूरवर्ती पदार्थों के साथ संयुक्त होती हैं लेकिन इनकी गति अत्यन्त शीघ्र होने के कारण ही उनसे हम पास तथा दूरस्थ पदार्थों को एक साथ देख रहे हैं, ऐसा मिथ्या यौगपद्याभिमान होता है।[14]

चक्षु इन्द्रिय के रश्मियों की तीव्रगामिता के आधार पर समीप तथा दूर की वस्तुओं के समकालावबोध की सङ्गति के लिए नारायणभट्ट द्वारा प्रतिपादित इस तर्क को स्वीकार करते हैं कि पास तथा दूर में स्थित पदार्थों के ग्रहण में चक्षु की रश्मियों के भेद में अत्यधिक गति होने के कारण कमल के शतदल के भेदन में विद्यमान काल के समान उस गति का बोध न होने से यद्यपि यौगपद्याभिमान माना जा सकता है परन्तु इसके आधार पर पृथ्वी पर विद्यमान वृक्षादि पदार्थ तथा अनेक योजन-सहस्र का जिसमें अन्तराल है, ऐसे ध्रुवादि के समकालिक अवबोध में इन्द्रिय की गति की कारणता का सिद्धान्त बुद्धिरञ्जक नहीं है।[15]

इन्द्रिय तेज का बाह्य तेज के साथ एकीभाव मानने पर सर्वदर्शिता की आपत्ति उठती है। चक्षु द्वारा अत्यन्त दूरस्थ सभी पदार्थों का प्रत्यक्ष होना चाहिए

परन्तु ऐसा होना अनुभवविरुद्ध है। इस आशङ्का का समाधान, श्रीशालिकनाथ, 'अदृष्ट' की योजना द्वारा प्रदान करते हैं। इस सन्दर्भ में इनका कहना है कि चक्षु इन्द्रिय के तेज का बाह्य तेज के साथ एकीभाव होने पर भी जितने बाह्य पदार्थों की 'अदृष्ट' द्वारा अवलोकनार्थ प्राप्ति होती है, केवल उतने ही पदार्थों का प्रत्यक्ष हुआ करता है। इस प्रकार चक्षु इन्द्रिय के तेज (रश्मियों) का बाह्य तेज के साथ एकीभाव हो जाने पर भी प्रत्यक्ष में 'अदृष्ट' की भी कारणता होने से न तो समस्त विश्व की प्रत्यक्षता का प्रसङ्ग उपस्थित होता है और न ही पास तथा दूर के पदार्थों के युगपत् प्रत्यक्ष (सहोपलम्भ) की असङ्गति होती है। पास तथा दूर के पदार्थों का प्रत्यक्ष युगपत् हो, ऐसे अदृष्ट के अस्तित्व के बल पर इनके सहोपलम्भ-प्रत्यक्ष की सङ्गति हो जाती है।[16]

चक्षु इन्द्रिय को प्राप्यप्रकाशकारी मानने पर उसके द्वारा काँच, अभ्रपटल, स्फटिकादि से व्यवहित पदार्थ के प्रत्यक्ष की असङ्गति का जो पक्ष उठाया गया है, उसके समाधान को प्रदर्शित करते हुए श्रीशालिकनाथ लिखते हैं कि 'काँच' अभ्रक, स्फटिकादि पदार्थ अत्यन्त स्वच्छ रहने के कारण वे चक्षुरूपी इन्द्रिय की किरणों (रश्मियों) के उनसे व्यवहित पदार्थों के साथ सम्बद्ध होने में प्रतिबन्धक नहीं बनते अतः चक्षु (विषय को प्राप्त करके ही उसे प्रकाशित करता है, इस प्रकार) की प्राप्यप्रकाशकारिता के सिद्धान्त को मानने के पक्ष में चक्षु द्वारा काँच आदि से व्यवहित पदार्थ के प्रत्यक्ष की सङ्गति अक्षुण्ण ही रहती है।[17]

उक्त विवेचन तक चक्षु इन्द्रिय की प्राप्यप्रकाशकारिता के न्यायदर्शनाभिमत सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के अनन्तर चक्षु इन्द्रिय को प्राप्यप्रकाशकारी न मानने वाले बौद्धों के पक्ष में दोष प्रदर्शित करते हुए श्रीशालिकनाथ न्यायदर्शन के पक्ष की ओर से कहते हैं कि "जो (चक्षु इन्द्रिय को) प्राप्यप्रकाशकारी नहीं मानते उन बौद्धों के मत में व्यवहित पदार्थ चाहे वो दीवार आदि से भी व्यवहित क्यों न हो उसका प्रत्यक्ष होना चाहिए क्योंकि इनके मत में प्रत्यक्षता के लिए इन्द्रिय को अर्थ-प्राप्ति अपेक्षित नहीं है। इसी प्रकार अत्यन्त दूरस्थ पदार्थ का भी प्रत्यक्ष होना चाहिए क्योंकि, उनके मत में प्रत्यक्षता के लिए इन्द्रिय को अर्थप्राप्ति अपेक्षित नहीं है। अनुभव में न तो व्यवहित पदार्थ का प्रत्यक्ष सङ्गत हो पाता है और विप्रकृष्ट दूरस्थ पदार्थ का प्रत्यक्ष। इसी प्रकार इन्द्रिय द्वारा अप्राप्त अर्थ का ग्रहण मानने की स्थिति में पास के अर्थ के समान दूरस्थ अर्थ का तथा अणु

पदार्थों का भी प्रत्यक्ष होना चाहिए था क्योंकि इनके साथ भी इन्द्रिय (चक्षु) का सम्बन्ध (प्राप्ति) नहीं है।[18]

इस प्रकार चक्षु इन्द्रिय की अप्राप्यप्रकाशकारिता के पक्ष में दोषों को प्रदर्शित करने के अनन्तर फिर से चक्षु इन्द्रिय की प्राप्यप्रकाशकारिता के पक्ष में सङ्गति प्रदर्शित करते हुए श्रीशालिकनाथ लिखते हैं कि चक्षु इन्द्रिय विषय (अर्थ) को प्राप्त करके ही उसे प्रकाशित करती है, इस सिद्धान्त को मानने में यह समाधान विद्यमान है कि दूरस्थ पदार्थों के साथ चक्षु इन्द्रिय का जब सम्बन्ध होता है तब दूरी के कारण तेज के अवयवों की कमी होने के कारण ही दूरस्थ पदार्थों के अस्फुट दर्शन (साफ-साफ न दीखने की) भी सङ्गति हो जाती है। इसी प्रकार अत्यन्त सूक्ष्म अण्वादि पदार्थों में तथा आकाश, काल, दिग् तथा आत्मा के प्रत्यक्ष में अपेक्षित कारण-सामग्री न होने से इनके प्रत्यक्ष न होने की भी सङ्गति हो जाती है। प्रत्यक्ष में जिस प्रकार इन्द्रिय एवं अर्थ के सन्निकर्ष की कारणता है, उसी प्रकार महत्त्व, अनेकद्रव्यत्व, तथा रूपविशेष की भी कारणता मानी गई है। अणु पार्थिव होने पर भी उनमें महत्त्व (महत् परिमाण) न होने से उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। आकाश, काल, दिग् तथा आत्मा ये द्रव्य परममहत्परिमाण के माने गए हैं। इनमें प्रत्यक्ष के लिए अपेक्षित महत् परिमाण तथा रूप विशेष दोनों नहीं है अतः इनका भी चाक्षुष प्रत्यक्ष न होना सर्वथा समीचीन है।[19]

श्रीशालिकनाथ ने प्रकरणपञ्चिका में यद्यपि स्वयं अपने पक्ष के रूप में चक्षु इन्द्रिय की प्राप्यप्रकाशकारिता का प्रतिपादन नहीं किया है तथापि दो आधारों पर इन्हें यह सिद्धान्त अभिमत है, यह तथ्य स्पष्ट रूप से प्रकाशित हो रहा है।

प्रथम आधार यह है कि इन्द्रियों की प्राप्यप्रकाशकारिता के सिद्धान्त को इन्होंने न्यायदर्शनानुसार प्रदर्शित किया है तथापि, महर्षि गौतम के 'प्रत्यक्षलक्षण' का इन्होंने प्रतिपद निराकरण किया है परन्तु इसी प्रत्यक्षलक्षण की प्रक्रिया में इन्द्रिय की प्राप्यप्रकाशकारिता का सिद्धान्त होने पर भी इसका श्रीशालिकनाथ ने निराकरण नहीं किया है। अन्यवादिसम्मत अविरूद्ध सिद्धान्त निराकृत न होने पर अभिमत ही माना जाता है।

दूसरा आधार यह है कि न्यायदर्शनाभिमत-चक्षु इन्द्रिय की प्राप्यप्रकाशकारिता पर उठी हुई सर्वदर्शिता की उक्त आपत्ति के निराकरणार्थ इन्होंने स्वयं अदृष्ट-सापेक्षत्व का सिद्धान्त प्रस्तुत किया है अतः इन्द्रिय के प्राप्यप्रकाशकारिता का सिद्धान्त इन्हें अभिमत है, ऐसा सप्रमाण कहा जा सकता है।[20]

इन्द्रियों की प्राप्यप्रकाशकारिता विषयक भट्टमत

जैमिनि महर्षि के प्रत्यक्ष सूत्र के 'सत्सम्प्रयोग' शब्द का अर्थ इन्द्रियों की 'अर्थप्राप्ति' मानकर इस प्रत्यक्ष-लक्षण की 'श्रोत्र' तथा चक्षु में, इनकी अर्थ-प्राप्ति न होने से, इनसे होने वाले प्रत्यक्ष में अव्याप्ति है, ऐसा बौद्धों का आक्षेप है। इस आक्षेप से जैमिनि के प्रत्यक्ष-सूत्र को अव्याप्ति-दोष-रहित सिद्ध करने के लिए आचार्य कुमारिलभट्ट ने श्लोकवार्तिक के प्रत्यक्ष-सूत्र के वार्तिक में वार्तिक सङ्ख्या 40 से 51 तक 12 वार्तिकों द्वारा बौद्धोक्त 'अव्याप्ति' से प्रत्यक्षसूत्र के राहित्य-सिद्धि के लिए इन्द्रियों की प्राप्यप्रकाशकारिता पर विचार किया है।

बौद्धों द्वारा 'चक्षु' तथा 'श्रोत्र' में सम्प्रयोग रूपी प्राप्ति न होने से लक्षण की इनमें अव्याप्ति होने के आक्षेप के निराकरणार्थ चार समाधान प्रस्तुत किए हैं। इनमें से प्रथम तीन समाधान इन्द्रिय के प्राप्यप्रकाशकारित्व या अप्राप्यप्रकाशकारित्व, इन दोनों स्थितियों में सङ्गत होने से इस विषय में इनके औदासीन्य को ही प्रकट करते हैं। इन तीनों समाधानों का स्वरूप इस प्रकार है-

1. सामान्यव्यापार मात्र का सम्प्रयोगार्थ के रूप में प्रतिपादन

कुमारिलभट्ट का कहना है कि बौद्धों द्वारा 'चक्षु' तथा 'श्रोत्र' इन्द्रिय में विषय के साथ सम्प्रयोग रूपी 'प्राप्ति' न होने से जो प्रत्यक्षलक्षण में अव्याप्ति दोष उत्थापित किया गया है वह समीचीन नहीं है। कारण यह है कि जैमिनि के सूत्र में स्थित सम्प्रयोग शब्द का अर्थ प्राप्ति नहीं है, अपितु इन्द्रियों का अर्थ के साथ एक 'सामान्य व्यापार मात्र' सम्प्रयोग शब्द का अर्थ है। इन्द्रिय तथा अर्थ (विषय) के मध्य एक सामान्यव्यापार उन्हें भी मानना होगा जो इन्द्रियों को प्राप्यप्रकाशकारी नहीं मानते। यदि इन्द्रिय के अर्थ के साथ किसी सामान्य व्यापार के बिना इन्द्रिय द्वारा अप्राप्त अर्थ का प्रकाशन माना जाएगा तो ऐसी स्थिति में जिनके साथ इन्द्रियों का कोई सम्बन्ध नहीं है, ऐसे अनन्त विषयों का सार्वकालिक प्रकाशन मानना होगा, जो सर्वथा अनुभव के विरूद्ध है। इसलिए सूत्रस्थ सम्प्रयोग शब्द का अर्थ व्यापार सामान्य मानना नितान्त आवश्यक है। व्यापार सामान्य को सम्प्रयोग शब्द का अर्थ मान लेने पर इन्द्रियों की प्राप्यप्रकाशकारिता मानी जाए या अप्राप्यप्रकाशकारिता, दोनों ही स्थितियों में बौद्धों द्वारा उत्थापित अव्याप्ति का निराकरण हो जाता है।[21]

2. आर्जव (आभिमुख्य) का सम्प्रयोगार्थ के रूप में प्रतिपादन

आचार्य कुमारिलभट्ट ने आर्जव-स्थिति का सम्प्रयोग शब्द के अर्थ के रूप में प्रतिपादन करते हुए द्वितीय समाधान प्रस्तुत किया है। **'ऋजोः भावः आर्जवम्'** इस व्युत्पत्ति के आधार पर इन्द्रिय (चक्षु) के सीधे सामने विषय के रहने की स्थिति को 'आर्जव' कहते हैं। इन्द्रियाँ विषय को प्राप्त करके प्रकाशित करें या उन्हें बिना प्राप्त किए, दोनों ही स्थितियों में प्रत्यक्ष के लिए इन्द्रिय तथा विषय की आर्जव-स्थिति अनिवार्य है। जो लोग इन्द्रियों को प्राप्यप्रकाशकारी नहीं मानते, उनके मत में भी, इन्द्रिय की स्थिति के विपरीत स्थित विषय का प्रत्यक्ष अभिमत नहीं है। इस प्रकार उभयवादिसम्मत 'आर्जव' को 'सम्प्रयोग' शब्द का अर्थ मान लेने पर जैमिनि के प्रत्यक्ष सूत्र पर बौद्धों द्वारा उत्थापित अव्याप्तिदोष का परिहार हो जाता है।[22]

3. योग्यता (शक्ति) का सम्प्रयोगार्थ के रूप में प्रतिपादन

आचार्य कुमारिलभट्ट तीसरा समाधान, योग्यता या शक्ति को सम्प्रयोग शब्द के अर्थ के रूप में उपस्थित करते हुए प्रतिपादित करते हैं। इनका इस सन्दर्भ में कहना है कि इन्द्रियाँ चाहें विषय को प्राप्त करके प्रकाशित करें, चाहें उन्हें बिना प्राप्त किए, दोनों ही स्थितियों में एक तथ्य समान है। वह यह है कि सभी इन्द्रियों द्वारा न तो सभी विषयों का प्रत्यक्ष होता है, और न ही कोई विशेष इन्द्रिय किसी विशेष पदार्थ का सदा तथा सभी स्थितियों में प्रत्यक्ष करने में समर्थ है। विशेष परिस्थिति में विशेष इन्द्रिय द्वारा अर्थ विशेष का प्रत्यक्ष हुआ करता है। किस इन्द्रिय में किस समय, किस परिस्थिति में किस अर्थ के प्रकाशन की सामर्थ्य-रूपिणी योग्यता या 'शक्ति' है, इसका अनुमान उस इन्द्रिय के अर्थप्रकाशन रूपी कार्य द्वारा ही लगाया जा सकता है। प्रत्यक्षरूपी कार्य द्वारा अनुमित इस 'शक्ति' या योग्यता को ही 'सम्प्रयोग' शब्द का अर्थ मान लेने से भी इन्द्रिय की प्राप्यप्रकाशकारिता का पक्ष हो चाहे अप्राप्यप्रकाशकारिता का, दोनों मतों की दृष्टि से सूत्र में उत्थापित अव्याप्ति निरस्त हो जाती है।[23]

साङ्ख्यमतानुरूप समाधान

जैमिनि के प्रत्यक्ष सूत्र पर बौद्धों द्वारा उत्थापित अव्याप्ति दोष के निराकरणार्थ उक्त तीनों समाधानों के प्रतिपादन के बाद कुमारिलभट्ट का कहना है कि इन

समाधानों के रहते हुए भी यदि बौद्ध 'सम्प्रयोग' शब्द का प्राप्तिरूप अर्थ मानते हुए सूत्र पर अव्याप्ति दोष स्थापित करने पर ही यदि अड़े रहते हैं तो, ऐसी स्थिति में 'चक्षु' तथा 'श्रोत्र' की अप्राप्यप्रकाशकारिता सिद्ध करने के लिए उन्हें इन्द्रियों की 'प्राप्यप्रकाशकारिता' मानने वालें साङ्ख्यों के पक्ष का खण्डन करना होगा। इस उपालम्भ के साथ इन दोनों इन्द्रियों के विषय में बौद्धों के अप्राप्यप्रकाशकारित्व के सिद्धान्त के निराकरणार्थ 'मन' के अतिरिक्त सभी इन्द्रियों के, साङ्ख्यशास्त्राभिमत, प्राप्यप्रकाशकारित्व को सिद्धान्त को कुमारिल भट्ट ने निम्न अनुमान द्वारा प्रदर्शित किया है-

1. 'श्रोत्र' तथा 'चक्षु' भी प्राप्यप्रकाशकारी हैं।
2. इन्द्रिय होने से,
3. 'त्वग्' इन्द्रिय के समान

बौद्ध इस अनुमान को प्रत्यक्ष-विरूद्ध मानकर इसका निराकरण करते हैं। उनका कहना है कि चक्षु तथा श्रोत्र ये दोनों शरीर के चक्षुगोलक तथा कर्णशष्कुली में ही विद्यमान रहते हैं। न तो चक्षु इन्द्रिय घटादि विषयों के पास पहुँचती है और न ही श्रोत्रेन्द्रिय शब्द के देश में जा पाती है, यह तथ्य तो प्रत्यक्ष अनुभवसिद्ध है। इस प्रबल प्रमाण-अनुभव के विरूद्ध होने से इन्द्रियों की प्राप्यप्रकाशकारिता का साधक अनुमान असिद्ध है।

बौद्धों द्वारा उत्थापित प्रत्यक्षानुभव विरोध रूपी आक्षेप का समाधान आचार्य कुमारिलभट्ट साङ्ख्यों के वृत्ति-सिद्धान्त द्वारा करते हैं। साङ्ख्यशास्त्र के अनुसार 'चक्षु' तथा 'श्रोत्र' अपने स्थान को बिना छोड़े भी प्रदीप के समान शरीर से निकलकर घटादि विषयों के आकारों में परिणत हो जाते हैं। घटादि विषयों के आकार में परिणाम को प्राप्त करना ही इन्द्रियों की वृत्ति कही जाती है। इस वृत्ति के माध्यम से अपना स्थान छोड़े बिना भी विषय के साथ उनके प्राप्तिरूप सम्बन्ध को सङ्गति हो जाती है।[24]

इस समाधान पर भी बौद्धों की यह आपत्ति है कि यदि चक्षु एवं श्रोत्र अपने स्थान से बाहर जाकर विषय से प्राप्ति-सम्बन्ध स्थापित कर पाते तो ऐसी स्थिति में कभी उनमें दोष आने पर उनके स्थान में चिकित्सा न कर अन्यत्र भी उनकी चिकित्सा का होना सम्भव हो पाता परन्तु ऐसा होता नहीं है अतः यही सिद्ध होता है कि ये चक्षु तथा श्रोत्र अपने अधिष्ठान 'चक्षुगोलक' तथा 'कर्णशष्कुली' से भिन्न नहीं हैं।[25]

बौद्धों द्वारा उत्थापित इस आक्षेप के समाधानार्थ कुमारिलभट्ट का कहना है कि 'चक्षुगोलक' तथा 'कर्णशष्कुली' में जो चिकित्सा की जाती है वह उनमें रहने वाली इन्द्रियों के लिए ही की जाती है अतः इस आधार पर इन्द्रियाँ अपने स्थानों से अभिन्न हैं ऐसा तथ्य सिद्ध नहीं होता। इसके अतिरिक्त 'चक्षु' के उपकार के लिए पाँव में भी तैलमर्दन किया जाता है जो 'चक्षु' इन्द्रिय की उसके अधिष्ठान से भिन्नता को ही सिद्ध करता है, अत: 'चक्षु' तथा 'श्रोत्र' अपने स्थानों को छोड़कर घटादि विषयदेश में नहीं जा सकते, ऐसा नहीं कहा जा सकता।[26]

सान्तराग्रहण एवं दूरग्रहण की अनुपपत्तियों का समाधान

बौद्धों ने इन्द्रियों की प्राप्यप्रकाशकारिता पर 'सान्तराग्रहण' तथा दूरग्रहण की अनुपपत्ति का आक्षेप किया है। इन दोनों आक्षेपों में से प्रथम 'सान्तराग्रहण' का आक्षेप यह है कि इन्द्रियों को प्राप्यप्रकाशकारी मानने पर समीप तथा दूर दोनों प्रकार के विषयों के साथ इन्द्रियों का समान रूप से सम्बन्ध होने पर यह विषय पास है तथा यह विषय दूर है, ऐसा जो (सान्तराग्रहण) भान होता है उसकी अनुपपत्ति हो जाती है।

दूसरा आक्षेप यह है कि इन्द्रियों को प्राप्यप्रकाशकारी मानने पर इन्द्रिय के अधिष्ठान चक्षुगोलक से बड़े आकार के पर्वतादि पदार्थों का प्रत्यक्ष नहीं हो पाएगा। जो होता है उसकी अनुपपत्ति हो जाती है।[27]

प्रथम आपत्ति का समाधान

सान्तराग्रहण के आक्षेप पर कुमारिलभट्ट साङ्ख्यानुसार यह समाधान देते हैं कि जिस प्रकार आत्मा सर्वगत होने पर भी शरीर में समझी जाती है तथा इसीलिए मृतावस्था में शरीर से इसकी विच्छेद बुद्धि की उपपत्ति हो जाती है। इसी प्रकार इन्द्रियाँ वृत्ति के माध्यम से सर्वगामी होने पर भी उन्हें उनके अधिष्ठान में ही मानने की रूढ़ि होने से उनसे यह पदार्थ समीप, तथा यह पदार्थ दूर, ऐसी बुद्धि उत्पन्न हुआ करती है। यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि यह स्थिति 'चक्षु' तथा 'श्रोत्र' इनमें केवल 'चक्षु' तक ही सीमित है। श्रोत्र के सन्दर्भ में मीमांसा का मत यह है कि चूँकि केवल श्रोत्र में ही शब्द का ग्रहण होता है अतः शब्दज्ञान में दूरत्व एवं समीपत्व की जो प्रतीति होती है, वह वास्तविक नहीं है, अपितु भ्रामक है।[28]

द्वितीय आपत्ति का समाधान

इन्द्रियों को प्राप्यप्रकाशकारी मानने पर उनसे अधिक विस्तृत तथा दूरस्थ विषय के प्रत्यक्ष पर बौद्धों द्वारा जो आपत्ति उत्थापित की गई थी उसके निराकरणार्थ 'चक्षु' इन्द्रिय के सन्दर्भ में साङ्ख्यमत का अवलम्बन करते हुए कुमारिलभट्ट कहते हैं कि इन्द्रिय (चक्षु) दीपप्रभा के समान काम करती है। जिस प्रकार दीपप्रभा पदार्थ की दीर्घता तथा विस्तार के अनुरूप ही उसे प्रकाशित करती है, अपनी दीर्घता तथा विस्तृति से नहीं, उसी प्रकार चक्षु इन्द्रिय भी (वृत्ति के माध्यम से) पदार्थ की दीर्घता तथा विस्तार के अनुरूप ही उसे प्रकाशित करती है। इन्द्रिय की यह वृत्ति जिस प्रकार दूरस्थ पदार्थ तक फैलती है वैसे ही पदार्थ के स्वरूप के समान भी इसके फैलने के कारण इन्द्रिय की इस वृत्ति के माध्यम से दूरस्थ पदार्थ तथा इन्द्रियाकार से अधिक आकार के पदार्थों के भी प्रत्यक्ष होने की सङ्गति बन जाती है।[29]

वृत्ति के माध्यम से चक्षु इन्द्रिय का दूरस्थ विषय के साथ सम्बन्ध मानने पर बौद्धों की यह आपत्ति है कि ऐसी स्थिति में इन्द्रियाँ अत्यधिक दूर के अर्थ को प्रकाशित क्यों नहीं करतीं? इस प्रश्न का समाधान भी श्लोकवार्तिक की न्यायरत्नाकर व्याख्याकार पार्थसारथि मिश्र दीपप्रभा के दृष्टान्त के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं। इनका कहना है कि इन्द्रिय (चक्षु) से जितने दूर के अर्थ का ग्रहण होता है, इस कार्य से इन्द्रियवृत्ति की दूर गति (रूप कारण) का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। जैसे दीपप्रभा अपने स्थान पर रहते हुए एक निश्चित दूरी तक ही जा सकती है, वैसे ही इन्द्रियवृत्ति भी इन्द्रिय-स्थान पर रहते हुए उससे एक निश्चित दूरी तक ही जा सकती है। अपने इस समाधान के प्रदर्शन के बाद पार्थ सारथि मिश्र प्रतिपक्षी बौद्धों पर ही उलटकर यह आक्षेप करते हैं कि इन्द्रियों को अप्राप्यप्रकाशकारी मानने पर इन्द्रिय के संयोग का अभाव जिस प्रकार समीपस्थ वस्तु के साथ है वैसा ही दूरस्थ पदार्थ के साथ भी है अतः दूरस्थ तथा व्यवहित पदार्थ के प्रत्यक्षत्व की आपत्ति इन्हीं के मत में अधिक प्रभावी है।[30]

बौद्धों के पक्ष से आचार्य कुमारिलभट्ट ने यह प्रश्न भी उत्थापित किया है कि यदि इन्द्रियों की वृत्तियाँ विषय में जाकर उन्हें प्रकाशित करती हैं तो ऐसी स्थिति में इन्द्रियों के अधिष्ठान गोलकादि के नष्ट हो जाने पर भी उन्हें विषय का प्रकाशन करना चाहिए था। परन्तु ऐसा नहीं होता।

आचार्य कुमारिलभट्ट इस आपत्ति का समाधान भी दीपप्रभा के दृष्टान्त द्वारा प्रदान करते हैं। इनका कहना है कि जैसे तैलवर्तिका आदि का नाश हो जाने पर दीपप्रभा भी नष्ट हो जाती है उसी प्रकार इन्द्रिय से बाहर जाने वाली इन्द्रिय की वृत्ति भी उस इन्द्रिय में अधिष्ठान गोलकादि के नष्ट हो जाने पर नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार अधिष्ठान के नष्ट हो जाने से या उसके आच्छादित होने की स्थिति में भी चक्षु इन्द्रिय की रश्मियाँ, पुरुष के प्रयत्न से रहित हो जाने के कारण आत्मा को अर्थ का समर्पण नहीं करा पातीं।[31]

विमर्श

मीमांसादर्शन, धर्मरूपी विषय के प्रतिपादनार्थ प्रवृत्त हुआ है। धर्म में एकमात्र वेद की प्रामाणिकता प्रतिपादित की गई है। वेदातिरिक्त प्रत्यक्षादि प्रमाण धर्मप्रमा के प्रतिपादन में असमर्थ हैं, इस तथ्य के प्रतिपादन के लिए ही महर्षि जैमिनि ने प्रत्यक्षसूत्र की रचना की है। इस सूत्र में विद्यमान 'सम्प्रयोग' शब्द का प्राप्तिरूप अर्थ मानकर 'चक्षु' तथा 'श्रोत्र' में सूत्रस्थ सम्प्रयोग शब्द के अर्थविषयप्राप्ति की असङ्गति दिखाकर बौद्धों ने प्रत्यक्ष सूत्र की समीचीनता पर प्रश्न उपस्थित किया था। इस असमीचीनता के आक्षेप से ही यह विषय मीमांसा में विचारार्थ उपस्थित हुआ है। सूत्र की समीचीनता प्रतिपादित करने के उद्देश्य से ही मीमांसा-दर्शन के गुरु तथा भाट्ट, दोनों सम्प्रदायों ने इस पर विचार किया है।

प्रभाकर-मतावलम्बी मीमांसक शालिकनाथ ने इन्द्रिय द्वारा अर्थ की प्राप्ति को 'सम्प्रयोग' शब्द का अर्थ मानकर बौद्धों द्वारा उत्थापित आक्षेप के परिप्रेक्ष्य में इन्द्रिय (चक्षु) की प्राप्यप्रकाशकारिता की सिद्धि में न्यायदर्शन में दिए गए सिद्धान्तों का समर्थन करते हुए इस सिद्धान्त के साथ अपनी सहमति प्रकट की तथा इन्द्रिय के प्राप्यप्रकाशकारिता के सिद्धान्त को मानने पर सभी पदार्थों के प्रत्यक्षत्व की आपत्ति के समाधान में 'अदृष्ट' की सहकारिता का सिद्धान्त अपनी तरफ से संयोजित करके भी इस सिद्धान्त में अपनी सहमति प्रदर्शित कर दी है।

मीमांसा में भट्टमत के प्रवर्तक कुमारिलभट्ट ने इस सन्दर्भ में प्रथमतया अपने पक्ष को जैमिनि के प्रत्यक्षसूत्र पर उत्थापित आपत्ति के निराकरण पर्यन्त सीमित रखकर दोनों मतों में स्वीकार्य (इन्द्रिय की प्राप्यप्रकाशकारिता तथा अप्राप्यप्रकाशकारिता, इन दोनों मतों में समान रूप से समन्वित) तीन समाधान

प्रदर्शित किए हैं। इसके बाद साङ्ख्यमत का अवलम्बन करते हुए इन्द्रिय (चक्षु) की प्राप्यप्रकाशकारिता के सिद्धान्त को प्रदर्शित किया है। यदि कुमारिलभट्ट को इन्द्रिय की प्राप्यप्रकाशकारिता अभिमत न होती तो वे अपने तीनों समाधानों के प्रदर्शन के साथ ही अपने विचार को यहीं विराम दे सकते थे परन्तु, इन्होंने अपने पक्ष के प्रतिपादन के अनन्तर बौद्धों को साङ्ख्याभिमत इन्द्रियों की प्राप्यप्रकाशकारिता के खण्डन की चुनौती देते हुए[32] साङ्ख्यदर्शन की दृष्टि से चक्षु इन्द्रिय की 'वृत्ति' के माध्यम से प्राप्यप्रकाशकारिता के सिद्धान्त को प्रदर्शित करते हुए इस सिद्धान्त में अपनी अभिरूचि को भी प्रदर्शित किया है। इस सन्दर्भ में इतना अवश्य ध्यान देने योग्य है कि 'चक्षु' इन्द्रिय की विषय के साथ वृत्ति के माध्यम से प्राप्ति का सिद्धान्त साङ्ख्य-दर्शन की दृष्टि से ही कुमारिलभट्ट ने प्रदर्शित किया है। मीमांसा-दर्शन में वृत्ति का सिद्धान्त अभिमत नहीं है अतः इनके मत में 'चक्षु' को भौतिक तेजस पदार्थ मानकर ही इसमें विषय की प्राप्यप्रकाशकारिता मानी गई है। यद्यपि इस सन्दर्भ में स्वयं कुमारिलभट्ट ने कुछ नहीं लिखा है तथापि, इनके अनुयायी विद्वान् नारायणभट्ट ने 'मानमेयोदय' में 'चक्षु' को भौतिक तेजस पदार्थ मानकर ही उसकी (विषय की) प्राप्यप्रकाशकारिता प्रदर्शित की है। न्यायमतानुरूप इनका भी यही कथन है कि चक्षु तैजस होने से (तैजस पदार्थ के) स्वभाव के कारण इसके द्वारा अपने से बड़े तथा दूरवर्ती पदार्थ के प्रत्यक्षत्व की भी सङ्गति हो जाती है।[33] 'श्रोत्र' इन्द्रिय के सन्दर्भ में श्लोकवार्तिक में ही दूर तथा पास की अनुभूति को भ्रामक निरूपित किया गया है। मीमांसा में सभी शब्दों का श्रोत्र में ही प्रत्यक्ष माना गया है।

इस प्रकार 'न्याय' तथा 'साङ्ख्य' के सिद्धान्तों का अवलम्बन करते हुए, इन्द्रियों की प्राप्यप्रकाशकारिता के विषय में, शालिकनाथ, कुमारिलभट्ट तथा नारायणभट्ट के प्रतिपादन, मीमांसा को इन्द्रियों के प्राप्यप्रकाशकारित्ववादियों की श्रेणी में स्थापित कर देते हैं।

सन्दर्भ

1. द्रष्टव्य-तर्कभाषा की म०म०गजाननशास्त्री मुंसलगाँवकर कृत माधुरी व्याख्या, पृ०-216
2. बहिर्मनोऽस्वतन्त्रत्वात्। विधिविवेक, पृ०-85, तारा बुक एजेन्सी वाराणसी, 1978
3. अप्राप्तान्यक्षिसमनः श्रोत्राणि त्रयमन्यथा, अभिधर्मकाश 2/42
4. द्रष्टव्य, तर्कभाषा, माधुरी, पृ०-215

5. सत्सम्प्रयोगे०, जैमिनिसूत्र, 01. 01. 04
6. द्रष्टव्य, मीमांसाश्लोकवार्तिक, पृ०-237
   कामेश्वरसिंह दरभङ्गा संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभङ्गा, 1972
7. मीमांसादर्शन, शाबरभाष्य, पृ०-17
   चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 1977
8. 'साक्षात् प्रतीतिः प्रत्यक्षम्'' प्रकरणपञ्चिका पृ०-146, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1961
9. प्राप्यकारि० प्रकरणपञ्चिका, पृ०-129
10. ''इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि
    व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्'' न्यायसूत्र 01. 01. 04
11. प्राप्यकारि चक्षुः बहिरिन्द्रियत्वात् त्वगिन्द्रियवत्।
    तैजसं तद् रूपप्रतीतिहेतुत्वात् दीपवत्। तस्य रश्मयः प्रसरन्तो द्रव्येण संयुज्यन्ते। ते च पृथ्वग्रा इति पृथून्यपि द्रव्याणि प्राप्नुवन्ति। प्रकरणपञ्चिका पृ०-129
12. सकलानर्थान् प्राप्य युगपदुपस्थितेन बाह्येन तेजसा सहैकीभूतास्ते
    चक्षुषा रश्मयो युगपद्ग्रहण हेतव इति। प्रकरण पञ्चिका पृ०-130
13. तदन्ये दूषयन्ति-इत्थं प्राप्तावभ्युपगम्यमानायातिदूरव्यवहितानामप्यर्थानां ग्रहणं दुर्निवारम्, प्रकरपञ्चिका पृ०-130
14. अन्ये त्वाहुः- क्षेपीयस्तया तेषां रश्मीनां कालभेदानवग्रहाद्यौगपद्याभिमान इति। प्रकरणपञ्चिका, पृ०-130
15. तदपरे नानुमन्यन्ते। अतिसन्निकृष्टेषु वस्तुषु गतिकालभेदः पद्मपत्रशतभेदवत् मा नाम अवसायि। अनेकयोजनसहस्रान्तरितेषु भूमिष्ठेष्वर्थेषु ध्रुवे च सदैव कालभेदानवसायो न बुद्धिमनुरञ्जयति। प्रकरणपञ्चिका, पृ०-130
16. वयन्तु वदामः- अदृष्टसापेक्षत्वाददोषः। नयनरश्मिभिरेकीभूतेऽपि बाह्ये तेजसि यावानेव तस्य भागोऽदृष्टवशेनोपलब्धिहेतुतयोपात्तः। तावानेवोपलब्धये प्रभवति, न सर्व इति, न सर्वोपलम्भो युगपत् भौमध्रुवादि सिद्धिश्च। प्रकरणपञ्चिका पृ०-130
17. ननु प्राप्यकाकारिणि नायने तेजसि कायाभ्रपटलतिमिरान्तरितेषु कथमुपलब्धिः। तैर्नयनरश्मेरप्रतिघातात्। प्रकरणप्रञ्चिका पृ०-131
18. ये पुनरप्राप्यकारि चक्षुराहुस्तेषां व्यवहितविप्रकृष्टार्थग्रहणं दुर्निर्वारम्। सन्निधान इव विप्रकर्षेऽपि स्फुटतरमणीयांसोऽप्यर्था गृह्येरन्। प्रकरणपञ्चिका, पृ०-131
19. प्राप्यग्रहणे तु तेजोवयवानामप्रचुरतया युक्तमस्फुटदर्शनं दवीयसाम्, क्षोदिष्ठानामदर्शनम्। अथ कस्मादणुपार्थिवादि आकाशकालदिगात्मनश्च न प्रत्यक्षेण गृह्यन्ते। उच्यते महत्त्व मनेकद्रव्यत्वं रूपविशेषश्च सन्निकर्ष इव प्रत्यक्षहेतुः।
20. द्रष्टव्य बिन्दुक्रमाङ्क 16 का सन्दर्भ।

21. ततश्चाप्राप्यकारित्वाद् यद् बौद्धैः श्रोत्रचक्षुषोः।
लक्षणाव्याप्तिसिद्ध्यर्थं संयोगो नेति कीर्त्यते।।
व्यापारमात्रवाचित्वादविरुद्धं तदत्र नः।।
मीमांसाश्लोकवार्तिक, पृ०-247-249
22. ''यदि वार्जवस्थानं सम्प्रयोगोऽत्र वर्ण्यते।''
मीमांसाश्लोकवार्तिक, पृ०-249
23. योग्यतालक्षणो वाच्यः संयोगः कार्यलक्षितः।
मीमांसाश्लोकवार्तिक, पृ०-249
24. तयोश्च प्राप्यकारित्वमिन्द्रियत्वात् त्वगादिवत्।
केचित् तयोः शरीराच्च बहिर्वृत्तिं प्रचक्षते।।
मीमांसाश्लोकवार्तिक, पृ०-250
25. चिकित्सादिप्रयोगश्च योऽधिष्ठाने प्रयुज्यते।
मीमांसाश्लोकवार्तिक, पृ०-251
26. सोऽपि तस्यैव संस्कार आधेयस्योपकारकः।
तद्देशश्चापि संस्कारः सर्वव्याप्त्यर्थ उच्यते।
चक्षुराद्युपकारश्च पादादावपि दृश्यते।
तस्मान्नैकान्ततः शक्यं संस्कारात्तत्र वर्त्तनम्।।
मीमांसाश्लोकवार्तिक, पृ०-251
27. प्राप्यग्रहणपक्षे सान्तराग्रहणं किल।
अधिष्ठानाधिकश्चार्थो न गृह्येत त्वगादिवत्।।
मीमांसाश्लोकवार्तिक, पृ०-248
28. विच्छिन्न इति बुद्धिस्यादधिष्ठानमपेक्ष्य च।
शब्दे त्वाधिक्यविच्छेदौ भ्रान्तैवोक्तावसम्भवात्।।
मीमांसाश्लोकवार्तिक, पृ०-253
29. बहिर्वृत्तितस्तयोश्चेष्य पृथ्वग्रा सन्ततापि च।
अधिष्ठानाधिकं तेन गृह्यते यत्र यादृशम्।।
पृथुत्वं वृत्तिभागे स्याद् दूरेऽपि ग्रहणं तथा।।
मीमांसाश्लोकवार्तिक, पृ०-252
30. दीपप्रभैवात्र दृष्टान्तः। तेन यादृशं पार्थवं पृथुत्वं तत्र तावदधिकं गृह्यत इति। न च वाच्यम्-यदि वृत्तिर्गत्वार्थं प्रकाशयति, किमतिदूरं न गच्छतीति, कार्यगम्या हि तद्गतिः, अतो यथाकायमवतिष्ठत इति नातिदूरगमनम्। तत्रापि दीपप्रभैव निदर्शनम्, प्रत्युताप्राप्यकारित्ववादिनामेवातिदूरव्यवहितार्थग्रहणप्रसङ्ग इति। न्यायरत्नाकरव्याख्या, श्लोकवार्तिकम्, पृ०-107, तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, 1978

31. दीपप्रभा यथा तस्मिन् विनश्यति विनश्यति।
तथा बहिर्गताप्येषा मूलच्छेदाद् विनश्यति।।
अधिष्ठानपिधाने तु सत्यप्युच्छिन्नयत्नया।
तयाथोऽनुपनीतत्वादात्मना नानुभूयते।।
मीमांसाश्लोकवार्तिक, पृ०-253
32. साङ्ख्यादीन् वा विनिर्जित्य प्राप्तिपक्षोऽत्र दूष्यताम्
मीमांसाश्लोकवार्तिक, पृ०-249
33. ततश्च चक्षुषः पृथुतरपृथिवीघटादिदर्शनात् पृथ्वग्रत्वमपि तेजः स्वभावसिद्धमाश्रयणीयम्।''
मानमेयोदय, पृ०-14, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, 1996

मीमांसादर्शन की पदार्थमीमांसा

23. मीमांसादर्शन में ईश्वरास्तित्व
24. भाट्टमीमांसा में कालतत्त्व की अवधारणा
25. मीमांसादर्शन में सम्बन्ध की अवधारणा
26. भाट्टमीमांसा में अभाव तथा उसका प्रयोजन

23
मीमांसा–दर्शन में ईश्वरास्तित्व

ईश्वरास्तित्ववादी भारतीय दर्शनों में ईश्वर का अस्तित्व साधारण रूप से शब्दार्थ सम्बन्धकर्तृत्व, वेदनिर्मातृत्व, कर्मफलप्रदातृत्व, सृष्टिप्रलय-कर्तृत्व तथा कैवल्य साधनत्व रूप में माना गया है। न्यायवैशेषिक परम्परा में ईश्वर उक्त सभी रूपों में स्वीकार किया गया है।[1] योगदर्शन में ईश्वर का स्मरण, मात्र समाधि के एक साधनरूप में किया गया है।[2]

न्यायवैशेषिक तथा योगदर्शन के विपरीत मीमांसादर्शन में किसी भी रूप में ईश्वर का अस्तित्व मान्य नहीं है। अत: दार्शनिक जगत् में मीमांसादर्शन एक निरीश्वरवादी दर्शन के रूप में परिलक्षित होता है।

मीमांसादर्शन के आदि आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित सूत्रकार जैमिनि तथा भाष्यकार शबरस्वामी ने यद्यपि ईश्वर के विषय में सर्वथा तूष्णीभाव धारण कर लिया है, तथापि इनके सिद्धान्तों का परिशीलन इन्हें निरीश्वरवाद की ही श्रेणी में स्थापित करता है।

सूत्रकार जैमिनि एवं ईश्वर

ईश्वर के अस्तित्व के खण्डन-मण्डन से तटस्थ भाव धारण करने वाले सूत्रकार के **'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेनसम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत् प्रमाण बादरायणस्याऽन-पेक्षत्वात्।'**[3] इन सूत्रों के परामर्श से यही प्रतीत होता है कि जैमिनि को ईश्वर का अस्तित्व अभिमत नहीं है।

उपर्युक्त चोदना सूत्र में दो प्रतिज्ञाएँ हैं।

चोदना ही जिसका लक्षण=प्रमाण है। **'चोदनैव लक्षणं प्रमाणं यस्मिन्'** यहाँ पर चोदना अर्थात् विधि से अन्य किसी तत्त्व की धर्म-प्रमाण के रूप में व्यावृत्ति करने वाली यह प्रथम प्रतिज्ञा है।

'चोदना लक्षणं प्रमाणमेव'-चोदना=विधि प्रमाण ही है जिसमें, यह दूसरी प्रतिज्ञा धर्म में प्रमाण के अयोग की व्यावृत्ति करती है। यदि ईश्वर का अस्तित्व माना जाय तो सर्वज्ञ होने के कारण धर्म को ईश्वर के ज्ञान का ही विषय मानना होगा एवं ऐसी स्थिति में धर्म का चोदना=विधिमात्र से बोध्य होने का सिद्धान्त खण्डित हो जाता है। यदि ईश्वर को धर्माधर्म के ज्ञान से रहित मानते हैं, तो उसके सर्वज्ञत्व की अनुपपत्ति हो जाती है।

'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः' इस सूत्र में शब्द एवं शब्दार्थ का सम्बन्ध जैमिनि ने नित्य, स्वाभाविक माना है। फलतः शब्दार्थ सम्बन्धकर्त्ता के रूप में भी ईश्वर का अस्तित्व इन्हें मान्य नहीं हो सकता।

वेदापौरुषेयाधिकरण में **'वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्याः'** इस सूत्र के अनुसार वेद को अपौरुषेय मानते हुए जैमिनि ने वेदकर्तृत्व रूप में ही ईश्वर के अस्तित्व की सम्भावना समाप्त कर दी है।

अपूर्वाधिकरण में अपूर्व द्वारा यागादि कर्मों में फलोत्पादकता मानी गई है। फलतः यागरूपी कर्म के फलप्रदायकत्व रूप में भी ईश्वर का अस्तित्व जैमिनि को अभिमत नहीं है।

वेदान्तदर्शन में भी साधनाध्याय में **'फलमत उपपत्तेरिति'** इस सूत्र द्वारा ईश्वर के कर्मफल-प्रदातृत्व की स्थापना करने के पश्चात् **'धर्मं जैमिनि रत एव'** इस सूत्र द्वारा यागादि धर्म का फल-प्रदातृत्व जैमिनि के अनुसार अपूर्व में माना गया है, ईश्वर में नहीं। इस जैमिनि के मत का उत्थापन भी जैमिनि के ईश्वरनिरपेक्षतावाद की परिपुष्टि करता है।

इस प्रकार यद्यपि जैमिनि ने ईश्वर के विषय में कुछ कहा नहीं है, तथापि उपर्युक्त सूत्रों के परिशीलन से यही प्रतीत होता है कि उन्हें अपने शास्त्र की प्रक्रिया में ईश्वरास्तित्व अभिमत नहीं है।

2. भाष्यकार कृत ईश्वर-विचार

सूत्रकार के अनुरूप भाष्यकार शबरस्वामी भी शब्द तथा शब्दार्थ के सम्बन्ध को नित्य तथा अपौरुषेय मानते हैं, अतः शब्दार्थ सम्बन्धकर्त्ता के रूप में ईश्वर का अस्तित्व भाष्यकार को भी स्वीकार नहीं है। इस सन्दर्भ में इनका कहना है कि-

''शब्द का अपने अर्थ के साथ सम्बन्ध का कोई कर्त्ता नहीं हो सकता, क्योंकि कोई भी आत्मा सम्बन्धकर्त्ता के रूप में किसी भी प्रमाण द्वारा प्रमाणित नहीं है। यदि शब्दार्थ-सम्बन्ध को स्थापित करने वाला कोई होता तो वह विदित होता। हिमालयादि प्रसिद्ध पदार्थों की तरह उसे भी लोग याद रखते। उसे भुला नहीं दिया जाता। इसी प्रकार वैदिक शब्दों का प्रयोग करने वाले विद्वान् अवश्य ही ऐसे कर्त्ता को जानते होते। यदि यह माना जाय कि किसी तरह लोग उसे भूल गये हैं, तो भी शब्दार्थ सम्बन्धकर्त्ता को सिद्ध कर सके, ऐसा कोई प्रमाण भी नहीं है। अर्थापत्ति द्वारा भी हमें ऐसे किसी कर्त्ता के अस्तित्व का बोध नहीं हो पाता। इसके अतिरिक्त बिना सम्बन्धकर्त्ता के शब्द से उसके अर्थ का बोध नहीं हो सकता, यह बात भी नहीं कही जा सकती, अपितु शब्द अपनी स्वाभाविक शक्ति से ही अपने अर्थ के बोधक होते हैं। जिस प्रकार वृद्धव्यवहार से आज का युवा शब्दार्थ ग्रहण करता है, वैसे ही वृद्धों ने भी किया था। इस प्रकार यह परम्परा अनादिकालीन होने से इस शब्दार्थ सम्बन्ध का कोई कर्त्ता है, यह बात नहीं कही जा सकती।

अतः मानना होगा कि सम्बन्ध का निर्णय करके किसी ने वेदों का निर्माण नहीं किया है। यद्यपि शब्दार्थ सम्बन्धकर्ता का विस्मरण हो सकता है, तथापि इस पौरुषेय सम्बन्ध को बिना किसी प्रमाण के नहीं माना जा सकता। यदि यह कहा जाय कि विद्यमान वस्तु की भी कभी अनुपलब्धि हो सकती है, तो भी बिना प्रमाण के जैसे शश-विषाण नहीं माना जाता, वैसे ही प्रमाण न होने के कारण शब्दार्थ सम्बन्धकर्त्ता का अस्तित्व भी स्वीकार नहीं किया जा सकता है। इसलिए शब्द का अर्थ के साथ अपौरुषेय सम्बन्ध मानना ही समीचीन है।

3. प्रभाकर-मत में ईश्वर

भाष्यकार के समान गुरु प्रभाकर को भी शब्दार्थ सम्बन्धकर्त्ता के रूप में ईश्वर का अस्तित्व अभिमत नहीं है। शब्द तथा अर्थ का इन्होंने स्वाभाविक रूप से नित्य सम्बन्ध माना है। इस सन्दर्भ में प्रभाकर मतावलम्बी शालिकनाथ का कहना है कि-

यदि शब्दों का अपने अर्थों के साथ सम्बन्ध पौरुषेय माना जाएगा तो अन्य प्रमाणों द्वारा ज्ञात अर्थ में ही अर्थबोधक शक्ति की कारणता पुरुष में ही सकेगी तथा फिर ऐसी स्थिति में अपूर्व के कार्यत्व के प्रतिपादक वेदवाक्यों के अर्थ-निष्पत्ति

में कोई अन्य प्रमाण न होने के कारण वेद में स्वार्थबोधक सङ्केत शक्ति नहीं हो पायेगी एवं च असङ्केतित अर्थ के प्रतिपादक होने पर वेद वाक्यों का प्रामाण्य ही विनष्ट हो जाएगा।[5] अतः इनके मत में वेद अपौरुषेय होने के कारण वेद-कर्तृत्त्व रूप में ईश्वर का अस्तित्व इन्हें मान्य नहीं है।

इसी प्रकार शब्द का अर्थावबोध अनादिवृद्ध व्यवहार-परम्परा से निष्पक्ष होने के कारण[6] शब्दार्थ सम्बन्ध अपौरुषेय है, अतः शब्दार्थ सम्बन्ध-कर्तृत्व रूप से भी ईश्वर के अस्तित्व की प्रभाकर-सम्प्रदाय में सङ्गति नहीं हो पाती।

धर्माधर्म के अधिष्ठान के रूप में भी ईश्वर का अस्तित्व प्रभाकरमत में स्वीकार नहीं है। धर्माधर्म जिस व्यक्ति के होते हैं, उसी को इनका अधिष्ठान मानना समीचीन है। ईश्वर को जीव के धर्माधर्मों का अधिष्ठान मानने के पक्ष का प्रभाकर मतानुयायी शालिकनाथ ने युक्तिपूर्वक खण्डन कर दिया है।[7]

गुरुमत में यज्ञादि कर्मों का फल-प्रदायकत्व, देश, काल, अवस्था आदि सहकारी कारणों से सहकृत अपूर्व में माना गया है, फलतः कर्मफल प्रदायकत्व-रूप से भी ईश्वर, गुरुमत में अभिमत नहीं है।

यद्यपि प्रभाकर ने न्याय-वैशेषियक सम्प्रदाय के अनुरूप जगत् को परमाणुओं द्वारा निर्मित माना है, तथापि इनके मतानुसार सम्पूर्ण संसार की न तो एक निश्चित समय पर उत्पत्ति होती है, और न ही एक निश्चित समय पर इस सम्पूर्ण जगत् का विनाश ही हो सकता है। विश्व के तत्त्वों की अलग-अलग उत्पत्ति होती है, तथा इसी प्रकार अलग-अलग उनका विनाश भी होता रहता है। इस प्रकार आदिसृष्टि तथा महाप्रलय इन्हें मान्य नहीं है, अतः ईश्वर सृष्टि का कर्त्ता या संहर्त्ता के रूप में भी प्रभाकर-सम्मत नहीं है।

यदि परमाणुओं की प्रवृत्ति में ईश्वर की इच्छा कारण होने से ईश्वर का जगत्कर्तृत्त्व उपपन्न हो जाएगा, ऐसा कहा जाए, तो यह मत भी प्रभाकर-सम्प्रदाय-सम्मत नहीं है। इस सन्दर्भ में प्रभाकर मतावलम्बी शालिकनाथ कहते हैं कि ऐसा कोई अधिष्ठान नहीं दीखता जहाँ पर ईश्वर की इच्छा से परमाणुओं में प्रवृत्ति हो रही हो। जीव के शरीर में होने वाली परमाणु-प्रवृत्ति के प्रति इन्होंने क्षेत्रज्ञ जीव के धर्माधर्म को ही कारण माना है,[8] अतः इच्छा द्वारा परमाणु प्रवृत्ति-घटित जगत्-कर्तृत्त्व-रूप से भी ईश्वर का अस्तित्त्व इन्हें मान्य नहीं है।

शब्दार्थ सम्बन्धकर्त्ता, वेदकर्त्ता, धर्माधर्माधिष्ठाता, कर्मफल-प्रदाता तथा

सृष्टिकर्त्ता एवं संहर्त्ता, इनमें से किसी भी रूप में ईश्वर प्रभाकर को मान्य नहीं है, अतः समीक्षकों ने इन्हें निरीश्वरवादियों की श्रेणी में ही स्थापित किया है।

4. कुमारिल मत में ईश्वर

कुमारिलभट्ट भी उपर्युक्त किसी भी रूप में ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते। सृष्टि अनादि होने से[8] ईश्वर सृष्टिकर्त्ता के रूप में, शब्दार्थ सम्बन्ध नित्य[10] होने से सम्बन्धकर्त्ता के रूप में, कर्मफल की सङ्गति अपूर्व द्वारा हो जाने से[11] कर्मफल-प्रदातृत्व रूप में तथा वेद अपौरुषेय होने से वेद-कर्तृत्त्व रूप में भी ईश्वर का अस्तित्व इन्हें मान्य नहीं है। इनका कहना है कि-

यदि यह मान लिया जाय कि सृष्टि एक निश्चित समय पर प्रारम्भ हुई है, एवं ईश्वर द्वारा रचना से पूर्व उस समय शब्द का अस्तित्व नहीं था, तो ऐसी स्थिति में सृष्टि के प्रारम्भ में वस्तुओं की क्या स्थिति थी? इस सृष्टि का कर्त्ता किस रूप में एवं कहाँ था?

इसके अतिरिक्त ऐसा कौन था जो इस कर्त्ता को जानता हो तथा बाद में लोगों के लिए जिसने इसका वर्णन किया हो। यदि कोई सृष्टिकर्त्ता माना जाय तो वह या तो शरीरी होगा या फिर उसे अशरीरी मानना होगा। सृष्टि के आदिकाल में जब शरीर का निर्माण नहीं हुआ हो, ऐसी स्थिति में कर्त्ता शरीरी हो नहीं सकता एवं यदि उसे अशरीरी माना जाए तो अशरीरी में सृष्टि निर्माण की इच्छा कैसे हो सकती है।

यदि यह कहा जाए कि उसका शरीर था, तब तो सृष्टि के आदिकाल में विद्यमान उसका शरीर उसी के द्वारा निर्मित नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त सृष्टि के आदिकाल में पञ्चभूतों का अस्तित्व न होने के काण इसके शरीर का निर्माण किस तरह हुआ? इस प्रकार अनेक अनुपत्तियाँ सृष्टिकर्त्ता के अस्तित्व में प्रश्नचिह्न लगाती है।

यदि यह सृष्टि ईश्वरकृत है, तो दुःख से व्याप्त क्यों है? यदि सुख-दुःख की कारणता धर्माधर्म में मानी जाए जो सृष्टि से पूर्व धर्माधर्म भी तो नहीं थे। यदि ईश्वर ने विश्व की रचना की है, तो किन तत्त्वों से की? सृष्टि के प्रारम्भ में तो कुछ भी नहीं रहा होगा, न ही कोई आधार, जहाँ रचना की जा सके।

ईश्वर ने करुणा से द्रवित होकर सृष्टि का निर्माण किया है, ऐसा कहा जाए

तो यह विचार भी सङ्गत नहीं हो पाता। सृष्टि के पूर्व तो कोई जीव था ही नहीं, जिस पर अनुकम्पा की जाए। फिर भी यदि ईश्वर ने अनुकम्पा के कारण जगत् की रचना की है, तो यह कैसी अनुकम्पा है, जिससे निर्मित जगत् में इतने दुःख ही दुःख हैं। यदि बिना दुःख के सुख की प्रतीति नहीं होती, अतः सृष्टि के लिये दुःख की अपेक्षा आवश्यक है, ऐसा कहा जाए तो, फिर ईश्वर में स्वातन्त्रतापूर्वक सृष्टि का स्वातन्त्र्य ही कहाँ रहा? मूल प्रश्न तो यह है कि यदि यह जगत् ईश्वर की रचना है, तो इस जगद्र रचना में ईश्वर का उद्देश्य क्या है? यदि इसकी विश्व रचना निरुद्देश्य है तो ऐसी स्थिति में उसे एक बुद्धिमान् सर्वज्ञकर्ता कैसे कहा जा सकता है? बिना प्रयोजन के तो मन्द व्यक्ति भी प्रवृत्त नहीं होता है।

यदि ईश्वर अपनी क्रीडा (लीला) के लिए विश्व का निर्माण करता है, ऐसा माना जाए तो क्रीडारूपी लीला के लिए विश्वसर्जन करने वाला ईश्वर पूर्ण, आप्तकाम या कृतार्थ नहीं कहा जा सकेगा। कृतार्थ, पूर्णकाम को क्रीडा की क्या आवश्यकता है?

इसके अतिरिक्त यदि सम्पूर्ण विश्व की सृष्टि ईश्वर की इच्छा पर आधारित है तो ऐसी स्थिति में कर्म के सिद्धान्त का आधार ही क्या रह जाता है? इस प्रकार अनेक तर्कों द्वारा कुमारिलभट्ट ने ईश्वर की सिद्धि में प्रयुक्त सभी तर्कों का निराकरण कर दिया है।

5. आधुनिक विद्वानों का दृष्टिकोण

मीमांसादर्शन में ईश्वर का अस्तित्व अभिमत नहीं है। यही विचार प्रायः सभी आधुनिक विद्वानों ने प्रकट किया है।

डॉ० दासगुप्त कहते हैं कि सृष्टिकर्त्ता या प्रलयकर्त्ता के रूप में किसी भी ईश्वर का अस्तित्व मीमांसा को मान्य नहीं है। इसलिए न ईश्वर है, न सृष्टि है, न प्रलय है। यह संसार बिना किसी नये प्रारम्भ के लगातार चल रहा है।[12]

सर जदुनाथ सिन्हा का कहना है कि-"जैमिनि ने ईश्वर का उल्लेख नहीं किया है। प्रभाकर तथा कुमारिल को भी ईश्वर का अस्तित्व मान्य नहीं।"[13]

ए०बी० कीथ महोदय कहते हैं कि-'यद्यपि मीमांसा का यज्ञ में पूर्ण विश्वास है, तथापि मीमांसा न तो उन देवताओं को, जिन्हें यज्ञ में हवि दी गई है, कर्मफल का दाता मानती है और न ही ऐसे किसी ईश्वर का अस्तित्व उसे मान्य है, जो सृजक या अच्छे-बुरे कर्म के फल के रूप में पुरस्कार या दण्ड देता हो।[14]

इसी प्रकार लगभग सभी आधुनिक दार्शनिक मीमांसा-दर्शन को एक निरीश्वरवादी दर्शन मानते हैं।

6. मीमांसकों की ईश्वर-विषयक आस्था

यद्यपि जैमिनि तथा शबरस्वामी ने ईश्वर के अस्तित्व की मान्यता के सन्दर्भ में मौनावलम्बन किया है एवं आचार्य कुमारिल, प्रभाकर तथा पार्थसारथि सदृश मीमांसकों ने अपनी प्रबल युक्तियों से ईश्वर-साधक युक्तियों का निर्ममतापूर्वक निराकरण कर दिया है, तथापि स्वयं कुमारिलभट्ट तथा दोनों प्रमुख सम्प्रदायों के अनेक आचार्यों के ग्रन्थों में ऐसे सन्दर्भ भी विद्यमान हैं, जो इनकी ईश्वर-विषयक आस्था को प्रमाणित करते हैं।

स्वयं कुमारिलभट्ट ने यद्यपि सम्बन्धाक्षेप प्रकरण में ईश्वर-साधक तर्कों का निराकरण कर दिया है, तथापि प्रत्येक जीव के साथ साक्षी रूप से विद्यमान अन्तर्यामी परमात्मा का अस्तित्व भी इन्हें मान्य नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। आत्मवाद का उपसंहार करते हुए इन्होंने कहा है-कि 'नास्तिक मत का निराकरण करते हुए नित्य आत्मा का अस्तित्व भाष्यकार के अनुसार प्रतिपादित किया गया है। इस (आत्मा) में दृढ़ता प्राप्त करने के लिए वेदान्त-श्रवण करना चाहिए।[15] वेदान्त के उल्लेख से साक्षी चैतन्य इन्हें व्यक्तिगत रूप में मान्य है, ऐसा कहा जा सकता है।

इसी प्रकार श्लोकवार्तिक का मङ्गलाचरण[16] 'यज्ञ' के अतिरिक्त शिव के प्रति नमस्कारात्मक अर्थ का भी प्रतिपादन करता है। इस मङ्गलाचरण से कुमारिल भट्ट की ईश्वर के प्रति आस्था स्पष्ट रूप से प्रकट होती है।

गुरु मतावलम्बी दशम शताब्दी मध्यकाल के मीमांसक भवनाथमिश्र के अनुसार प्रकारणपञ्चिकाकार ने ईश्वर का निराकरण नहीं किया है, अपितु तार्किकों द्वारा किये गये अनुमान का ही निराकरण किया है। यह कहते हैं कि-"इस प्रकार ईश्वर के विषय में दूसरों द्वारा प्रदर्शित अनुमान का ही निराकरण किया गया है न कि ईश्वर का।[17]

1220 ई० के प्रभाकर-विजयकार नन्दीश्वर ने भी इसी मत का अनुसरण किया है। ये कहते हैं कि-"ईश्वर का निराकरण नहीं किया गया है, अपितु अनुमान द्वारा उसके अस्तित्व की सिद्धि का जो प्रयास है, उसका ही निराकरण

किया गया है। इसलिए गुरु प्रभाकर द्वारा ईश्वर का निराकरण नहीं किया गया है। उस ईश्वर का समर्थन वेदान्त-मीमांसा में किया गया है, यही (प्रभाकर के ईश्वर निराकरण का) अभिप्राय है।''[18]

भाट्ट-मतावलम्बी मीमांसकों में 16 वीं शताब्दी उत्तरार्द्ध के लौगाक्षिभास्कर, 17 वीं शताब्दी प्रारम्भ के आपदेव तथा 17 वीं शताब्दी मध्यकाल के गागाभट्ट ने भी इसी सरणि का अनुसरण करते हुए वेदबोधित ईश्वरतत्त्व को स्वीकार किया है। तर्कों के आधार पर स्थापित ईश्वर की सत्ता का ही इन्होंने विरोध किया है।

7. निष्कर्ष

सूत्रकार से लेकर अद्यतन मीमांसकों की विचारधारा का परिशीलन करने से यह तथ्य निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाता है कि कर्मकाण्ड में प्रवृत्ति हेतु विरचित 'मीमांसाशास्त्र' की दार्शनिक प्रक्रिया में ईश्वर का अस्तित्व अनावश्यक है। आचार्य कुमारिलभट्ट के मङ्गलाचरण से यद्यपि उनकी ईश्वर के प्रति आस्था अवश्य प्रकट होती है, परन्तु यह आस्था उनकी व्यक्तिगत है। इसीलिए इन्होंने ऐसी शब्दावली का आश्रय लिया है, जिससे मङ्गलाचरण का यज्ञपरक अर्थ भी निष्पन्न हो जाता है। अतः व्यक्तिगत रूप से ईश्वर इन्हें मान्य है, मात्र इतना ही अर्थ प्रमाणित हो पाया है।

भवनाथ, नन्दीश्वर, लौगाक्षिभास्कर, आपदेव तथा गागाभट्ट, समाजिक परिवेश तथा अन्य दर्शनों विशेषतः वेदान्त-प्रभाव के कारण अपनी व्यक्तिगत आस्था एवं साम्प्रदायिक दृष्टि में विद्यमान भेद को स्पष्ट नहीं कर पाये हैं। 17 वीं शताब्दी मध्यकाल के भाट्टकौस्तुभकार खण्डदेव देवता के विग्रहयुक्त होने का निराकरण करते हुए कहते हैं, ''ऐसा कहते हुए मेरी वाणी दूषित हो रही है, इसलिए हरि-स्मरण ही केवल शरण-स्थल है।'' खण्डदेव के इन शब्दों ने व्यक्तिगत आस्था तथा शास्त्रमर्यादा का भेद स्पष्ट कर दिया है।

यद्यपि व्यक्तिगत रूप में कुमारिल से लेकर अनेक मीमांसकों ने ईश्वर के प्रति आस्था प्रकट की है, तथापि यह उनका व्यक्तिगत दृष्टिकोण है। मीमांसाशास्त्र की प्रक्रिया में ईश्वर की कोई भी भूमिका न होने के कारण इस विषय में मीमांसा शास्त्र को यदि कोई सर्वोच्च नियन्त्रक तत्त्व मान्य है, तो वह कर्म है। 'कर्मेति मीमांसकाः' यह उक्ति विश्रुत है।

सन्दर्भ

1. न्यायकुसुमाञ्जलि, 5 स्तबक, प्रथम कारिका
2. ईश्वरप्रणिधानाद्वा ....पातञ्जलयोगसूत्र, 1/23
3. जैमिनिसूत्र, अ० 1, पा० 1, सू० सङ्ख्या-5
4. जैमिनिसूत्र, अ० 1, पा० 1, सू० सङ्ख्या-27
5. द्रष्टव्य-प्रकरण पञ्चिका, विमलाञ्जन, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1961, पृ०-301
6. वही, पृ०-309
7. वही, पृ०-306-307
8. वही, पृ०-308
9. श्लोक वा० सम्बन्धाक्षेप परिहार, श्लोक सं०-67
10. वही, श्लोक सङ्ख्या-03
11. तन्त्रवार्तिक, अध्याय-2, अपूर्ताधिकरण, कारिका सङ्ख्या-22
12. A History of Indian Philosophy. Surendranath Dasgupta, Volume-I, Motilal Banarasidas, 1975.
13. A History of Indian Philosophy, Jadunath Sinha, Volume-I, p.-854.
14. The Karma Mimamsa-Keith, A.B.Kanti Publication, Delhi, p.-61.
15. श्लो० वा० आत्मवाद, श्लोक सङ्ख्या-148
16. विशुद्धज्ञानदेहाय त्रिवेदीदिव्यचक्षुषे।
श्रेयः प्राप्तिनिमित्ताय नमः सोमार्धधारिणे।।
श्लो०वा०, मङ्गलाचरण (कीलक मन्त्र-सप्तशती)
17. ''एवं चेश्वरे परोक्तमेवानुमानं निराकृतम्।।''<br>'नयविवेक', पृ०-199, युनिवर्सिटी ऑफ मद्रास, 1937
18. प्रभाकरविजय, पृ०-82, 83, संस्कृत साहित्य परिषद्, कलकत्ता, 1926

24
भाट्टमीमांसा में कालतत्त्व की अवधारणा

भारतीय वाङ्मय में विशेष रूप से दर्शनशास्त्र की लगभग सभी शाखाओं में काल को एक नित्य एवं सर्वव्यापक तत्त्व के रूप में प्रकाशित किया गया है। दर्शन के विविध सम्प्रदायों में काल के स्वरूप तथा उसके परिज्ञान की प्रक्रिया को लेकर भले ही यथा कथञ्चित् मतभेद हों परन्तु उसकी नित्यता तथा सर्वव्यापकता के विषय में सभी आस्तिक सम्प्रदाय लगभग एक मत हैं।

भारतीय वाङ्मय में सर्वविधशास्त्र-विवेचित 'कालतत्त्व', दिव्य दैवी स्वरूप में, क्रियात्मकता के रूप में तथा 'क्रम' के रूप में अभिव्यक्त हुआ है। पुराणों में इसे दिव्य या ईश्वरीय स्वरूप में चित्रित किया गया है। विष्णु-पुराण में इसे -'परब्रह्म का रूप, प्रथम पुरुष, व्यक्त, अव्यक्त तथा अन्य अनेक रूपों में विद्यमान एक तत्त्व के रूप में प्रदर्शित किया गया है।[1] भगवद्गीता में भगवान् ने भी' समस्त उत्पन्न तत्त्वों के आयु की सङ्ख्या कराने वालों के मध्य मैं काल हूँ' कहते हुए[2] काल के दैवी स्वरूप को अभिव्यक्त किया है।

काल का क्रियात्मक स्वरूप, **'मुखं व्याकरणम्'**[3] की परिभाषानुसार समग्र शास्त्रों के प्रवेश-द्वाररूपी पदशास्त्र की अभिख्या से मण्डित 'व्याकरणशास्त्र' में विशेषरूप से अभिव्यक्त हुआ है। व्याकरणशास्त्र में लकारों की कल्पना काल पर ही अवलम्बित है। क्रिया में विद्यमान क्रमरूपता का निष्पादन काल के ही माध्यम से होता है। 'क्रिया के एक होने पर भी उसके विविध रूपों को पानी के रहट की आवर्तनगति के अनुसार काल ही परिभ्रमित करता रहता है।[4] विविध क्रियाओं का खण्डित रूप दिखाई देने पर भी उनके एकत्व के अवलोकन की शक्ति इस काल से ही प्राप्त होती है, अत: इसे अखण्ड माना गया है। पदशास्त्र के अनुरूप सङ्गीतशास्त्र की भी सम्पूर्ण आधारशिला काल पर ही परिस्थित है। मात्राव्यवहार में होने वाले 'ताली' तथा 'खाली' का व्यवहार बिना काल के केवल खाली ही रह जाता है।

भाट्टमीमांसा में कालतत्त्व

मीमांसाशास्त्र, प्राचीन भारतीय वाङ्मय के पद, वाक्य तथा प्रमाण इन तीन प्रमुख शास्त्रों में वाक्यशास्त्र के रूप में प्रतिष्ठित है। इस शास्त्र का प्रमुख कार्य धर्म रूपी 'कर्म' की सङ्गति हेतु वैदिक वाक्यों का विश्लेषण करना है। कर्म के प्रधान तथा अङ्ग कर्मों के समग्र क्रियाकलाप, वैदिक वाक्यों के विश्लेषण के माध्यम से अभिव्यक्त होने से, यह शास्त्र, अपने वाक्य शास्त्र के स्वरूप को भी अभिव्यक्त करता है। वैदिक वाक्यों के विश्लेषण में कर्म की सङ्गति हेतु अदृष्ट की कल्पना करनी पड़ी है[5] तथा अदृष्ट की सङ्गति हेतु देहेन्द्रियादिकों से भिन्न आत्मतत्त्व की परिकल्पना की गई है।[6] आत्मतत्त्व के अवलम्बन के पश्चात् उसका जगत् से सम्बन्ध तथा जागतिक पदार्थों का भी इसी शृङ्खला में विवेचन आवश्यक होने से मीमांसा का स्वरूप एक दर्शनशास्त्र के रूप में भी स्थापित हो गया है।

भाट्टमीमांसा में कर्मकाण्ड-सङ्गति, वाक्यार्थनिष्पत्ति तथा दार्शनिक स्वरूप, इन तीनों पक्षों में 'कालतत्त्व' की एक विशिष्ट भूमिका परिलक्षित होती है।

कर्मकाण्ड की सङ्गति में कालतत्त्व

जिस प्रकार पुराण वाङ्मय में काल का दैवी रूप तथा पदशास्त्र में क्रियात्मक पक्ष अभिव्यक्त हुआ है उसी प्रकार काल के 'क्रम' स्वरूप के आधार पर मीमांसाशास्त्र में विविध प्रधान तथा अङ्गकर्मों के अनुष्ठान में साहित्य की सङ्गति प्रदर्शित की गयी है।

कर्मकाण्ड की निष्पत्ति हेतु वेद के विधि, अर्थवाद, मन्त्र, नामधेय तथा निषेध, इन पञ्च विभागों में कर्म का साक्षात् प्रतिपादक होने से विधिवाक्यों का सर्वोपरि महत्त्व स्वीकार किया गया है। इस विधि के प्रथम भेद अपूर्व विधि के उत्पत्तिविधि, विनियोग विधि तथा प्रयोगविधि ये तीन भेद साक्षात् रूप से कर्म की निष्पत्ति से सम्बद्ध हैं। इनमें सभी कर्मों के एक साथ अनुष्ठान का सम्पादन रूप साहित्य प्रयोगविधि का विषय है।[7] इस सहभावात्मक साहित्य का प्रतिपादन क्रम के आधार पर किया जाता है।[8] इस क्रम का अस्तित्व काल के पूर्वापर रूप 'उपाधि' पर ही अवलम्बित है। यह काल ही है, जो कर्म के भेद को स्वयं अपने पर लेकर एक के पश्चात् एक क्रमानुसार किए जाने वाली याज्ञिक क्रियाओं में एकात्मता रूपी साहित्य की अन्यथानुपपत्तिप्रसूता अर्थापत्ति-प्रमाण द्वारा कर्मकाण्ड की दृष्टि से 'कालतत्त्व' के वैशिष्ट्य को प्रकट कर देता है।

'दर्श पूर्णमास याग' में दर्शपद-लक्षित अमावास्या में दधि एवं पय से किये जाने वाले दो ऐन्द्र तथा आग्नेय, इन तीन यागों का प्रतिपादन किया गया है।

पूर्णमासी में आग्नेय, अग्नीषोमीय एवं उपांशु ये तीन प्रतिपादित किये गये हैं। इस प्रसङ्ग में '**य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते**'[9] तथा '**य एवं विद्वानमावस्यां यजते**'[10] इन विद्वद्वाक्यों से 'दर्श' तथा पौर्णमासी शब्दों से कालपरक दो तिथियों में सम्पाद्य यागों के दो समुदाय मानने पर ही '**दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत् स्वर्गकामः**' तन्त्रवार्तिक के 'पौर्णमास्यधिकरण' में आचार्य कुमारिलभट्ट कहते हैं कि 'पौर्णमास्य' तथा 'आमावस्य' शब्दों को कर्मपरक मानने पर इन छहों यागों के दोनों समूहों के एकत्व के विरोध का परिहार नहीं हो सकता परन्तु इनको कालपरक मान लेने पर सम्पूर्ण याग के एकत्व में उपस्थित विरोध का परिहार हो जाता है। सर्वसाधारण रूप से अविरोध पक्ष का ही अवलम्बन समीचीन है।[12] प्रकृत स्थल में उक्त शब्दों से प्रथम काल का ही ग्रहण होता है। बाद में काल से सम्बद्ध कर्म का[13], 'कालतत्त्व' के माध्यम से ही सारे यागसमुदाय के एकत्व की सङ्गति प्रदर्शित की गई है।

वाक्यार्थ-निष्पत्ति में कालतत्त्व

भाट्टमीमांसा द्वारा प्रतिपाद्य शब्दार्थ-निष्पत्ति में भी काल का अपना एक विशिष्ट योगदान है। आचार्य कुमारिलभट्ट शब्दार्थनिष्पत्ति-प्रक्रिया के विवेचन के प्रसङ्ग में वर्णों की नित्यता का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि 'जैसे नित्य परमाणुओं से घटादि की रचना की जाती है वैसे ही (भाषा के आधारभूत) वर्ण नित्य होने पर भी क्रिया-प्रयोगरूपी व्यवहार के आधार पर क्रमविशेष का निष्पादन किया जाता है।[14]

एक वर्ण के बाद दूसरा, इस आनुपूर्वी का आधार यह कालरूप क्रम ही भाषाव्यवहार का आधार बनता है। भाषाव्यवहार में वर्णों की आनुपूर्वी में पौर्वापर्य का क्रम, वर्णों के पूर्वापर में विद्यमान दीर्घ ह्रस्वादिरूप काल पर ही अवलम्बित है। वर्णों के उच्चारणात्मक ध्वनि के पूर्वापर में स्थित काल ही क्रम है।[15]

मीमांसादर्शन के वाक्यार्थ-निष्पत्ति में अन्विताभिधानवाद तथा अभिहितान्व यवाद ये दोनों सिद्धान्त अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इनमें भाट्टमीमांसक अभिहितान्वयवाद तथा गुरुमतावलम्बी मीमांसक अन्विताभिधानवाद के पक्षधर हैं। इन दोनों सिद्धान्तों में भाट्टमीमांसा-सम्मत अभिहितान्वयवाद क्रम पर आधारित होने से सर्वथा

कालसापेक्ष है। अभिहितान्वयवाद में प्रथम पद (शब्द), अभिहित होते हैं तदनन्तर पदों द्वारा अभिहित पदार्थों से लक्षणावृत्ति के माध्यम से वाक्यार्थ की निष्पत्ति मानी गई है।[16]

शब्द शीघ्र विनाशशील होने के कारण वाक्यनिष्ठ समस्त पदों का साहित्य बिना क्रमात्मक काल के सर्वथा अनुपपन्न हो जाता है। वाक्यनिष्ठ पदों के क्रमात्मक काल की अन्यथानुपपत्ति प्रसूता यह अर्थापत्ति भाषाव्यवहार में भी काल के प्रभाव को अभिव्यक्त कर रही है।

काल का दार्शनिक स्वरूप

आचार्य कुमारिलभट्ट ने नैयायिकों के अनुरूप 'काल' को एक विभु तथा नित्य तत्त्व के रूप में स्वीकारा है-**'एको नित्यो विभुश्च'17 कालश्चैको विभुर्नित्यः।**[18] जिस प्रकार न्यायदर्शन में काल को एक अखण्ड रूप में प्रतिपादित किया गया है, उसी प्रकार आचार्य कुमारिल भी काल के एकत्व के ही पक्षधर हैं। 'काल' एक तत्त्व होने पर पूर्व तथा अपर रूप में उसकी प्रतीति किस प्रकार होगी? इस आशङ्का का समाधान प्रदान करते हुए वे कहते हैं कि 'जिस प्रकार वर्ण नित्य होने पर भी ध्वनि की उपाधियों के आधार पर दीर्घादि के भेद से विभक्त रूप में भी भासित होते हैं, उसी प्रकार स्वयं अभिन्न (एक) होते हुए भी काल सूर्य की गति तथा किरणप्रक्षेप-क्रिया के उपाधि के आधार पर भिन्न रूप में भी भासित होता है।[20]

कालाश्रित प्रमाणलक्षण-सङ्गति

मीमांसादर्शन के भाट्टप्रस्थन में जिस प्रकार कर्मकाण्ड तथा शब्दार्थनिष्पत्ति की प्रक्रिया काल पर अवलम्बित है, उसी प्रकार निखिल प्रमेय-प्रपञ्च के आधारभूत प्रमाण के लक्षण की सङ्गति भी काल पर ही आश्रित है। महर्षि जैमिनि के 'औत्पत्तिक सूत्र'[21] के आधार पर कुमारिलभट्ट **'सर्वं स्यादुपलब्धेऽर्थे प्रामाण्यं स्मृतिरन्यथा,'**[22] इस वार्तिकार्ध के माध्यम से अनुपलब्ध अर्थात् अज्ञात अर्थ के प्रतिपादक को प्रमाण निरूपित करते हैं। भाट्टपरम्परा के विद्वान् पार्थसारथि मिश्र ने सम्पूर्ण औत्पत्तिक सूत्र के आधार पर 'कारणदोष तथा बाधकज्ञान-रहित अग्रहीत अर्थ के ग्राहक (बोधक) ज्ञान को प्रमाण प्रतिपादित किया है।[23] इन दोनों प्रमाणलक्षणों के परामर्श से यह सुनिश्चित हो जाता है कि भाट्टप्रस्थान में (नवीन) अज्ञात-विषय का ज्ञापक ज्ञान ही प्रमाण है।

भाट्ट-मीमांसा-सम्मत प्रमाणलक्षण पर धारावाहिक ज्ञानस्थल में उसके असङ्गत हो जाने का आक्षेप उपस्थित होने पर उसके निराकरणार्थ भाट्टमीमांसकों को काल की ही शरणागति स्वीकार करनी पड़ी है। धारावाहिक ज्ञानस्थल में प्रथम घटज्ञान को प्रथमक्षणविशिष्ट तथा तदनन्तर होने वाले घटज्ञानों को अन्यान्यक्षणों से विशिष्ट मानकर इस क्षणात्मक काल के माध्यम से ही भाट्टमीमांसक इन ज्ञानों को एक दूसरे से भिन्न कर उनमें अग्रहीतग्राहित्व की सङ्गति कर सके हैं।

कालप्रत्यक्षवाद

''कालतत्त्व'' के परिज्ञान के सन्दर्भ में भाट्टप्रस्थान का दृष्टिकोण नैयायिक तथा प्रभाकर के दृष्टिकोण से सर्वथा भिन्न है। प्रभाकरमत में तथा न्यायमत में जहाँ काल को केवल अनुमेय माना गया है,[24] वहाँ भाट्टमत काल की प्रत्यक्षवेद्यता का प्रतिपादन करता है।[25] न्यायमत में जो दिङ्मूलक नहीं है ऐसे परत्व तथा अपरत्व के आधार पर या अतीत, अनागत तथा वर्तमान रूप व्यवहार के आधार पर अनुमान प्रमाण के माध्यम से ही कालावबोध प्रतिपादित किया गया है।[26] कालावबोध के विषय में नैयायिकों के विपरीत भाट्टमीमांसक पार्थसारथि मिश्र का कहना है कि क्षणरूप कालभेद अतिसूक्ष्म होने से इसका बोध नहीं होगा यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि देवताओं के प्रिय मीमांसक (निश्चित ही) सूक्ष्मदर्शी होते हैं।[27]

काल के प्रत्यक्षत्व की उपपत्ति हेतु पार्थसारथि मिश्र यह तर्क देते हैं कि **किमत्र घटोऽवस्थितः?** क्या यहाँ घट है? इस प्रश्न का **अस्मिन् क्षणे मया उपलब्धः**-प्रातः काल से लेकर अब तक मैंने देखा। इन प्रश्नों के उत्तर, काल के क्षण रूप भेद के भी प्रत्यक्षबोध को सिद्ध कर देते हैं।[28] इस सन्दर्भ में यह भी ज्ञातव्य है कि काल का रूपरहित होना उसकी प्रत्यक्षगम्यता में बाधक नहीं बन सकता क्योंकि रूपवाले का ही प्रत्यक्ष हो **'रूपि प्रत्यक्षम्'** ऐसा नियम भाट्टमत में स्वीकार नहीं है। भाट्टमत में 'इन्द्रिय' का अर्थ के साथ संयोग होने पर वस्तु का विशद रूप से अवभासित होना ही प्रत्यक्ष है।[29] जब संवित् (ज्ञान) होती है, तब वही परोक्ष तथा अपरोक्ष दोनों को प्रकाशित करते हुए यह प्रत्यक्ष है तथा यह अप्रत्यक्ष है ऐसा विभाजन करती है।[30] संवित् चूँकि क्षणरूप में विद्यमान काल का भी अनुभूति के बल पर प्रत्यक्षत्व का प्रतिपादन कर रही है, अतः काल का प्रत्यक्षवेद्यत्व सर्वथा युक्तिसङ्गत है।

इस प्रकार भाट्टमीमांसा के विवेचित तीनों पक्ष 'कालतत्त्व' से सम्बद्ध तथा किसी न किसी रूप में इससे पूर्णतः प्रभावित हैं।

सन्दर्भ

1. परस्य ब्रह्मणः रूपं पुरुषः प्रथमं द्विज।
   व्यक्ताव्यक्ते तथैवान्ये रूपे कालस्तथा परम्।। विष्णुपुराण 1, 2, 18
2. 'कालः कलयतामहम्' भगवद्गीता 10, 30
3. पाणिनि-शिक्षा 42
4. जलयन्त्रभ्रमावेशसदृशीभिः प्रवृत्तिभिः।
   सकलाः कलयन् सर्वाः कालाख्यां लभते विभुः।। वाक्यपदीयम्, 3, कालसमुद्देश- 14, पृ०-346, विद्याविलास-प्रेस, गोपालमन्दिर, बनारस, 1928
5. फलाय विहितं कर्म क्षणिकं चिरभाविने।
   तत्सिद्धिर्नान्यथेत्येवमपूर्वं प्रति गम्यते।। तन्त्रवार्त्तिक, अपूर्वाधिकरण, वार्त्तिक सङ्ख्या 1
6. आत्मा ज्ञातव्य इत्येतन्मोक्षार्थं न च चोदितम्।
   कर्मप्रवृत्तिहेतुत्वम् आत्मज्ञानस्य लक्ष्यते।। श्लोकवार्त्तिक, सम्बन्धाक्षेपपरिहार, वार्त्तिक सङ्ख्या 103
7. तस्मादङ्गवाक्यैकवाक्यतामापन्नः प्रधानविधिरेकवाक्यतावगततत्साहित्यं विदधत् उक्तविधया एककालानुष्ठानानुपपत्तेरविलम्बं विधत्ते इति....... (मीमांसान्यायप्रकाश, पृ०-162, श्रीलालबहादुरशास्त्रिकेन्द्रीय संस्कृत-विद्यापीठ, नई दिल्ली, 1983
8. 'काल एव क्रम इति' श्लोकवार्त्तिक, पृष्ठ 571, तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, 1978
9. तन्त्रवार्त्तिक, अजिता, पृष्ठ 144 गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, 1990, तथा मीमांसापरिभाषा, पृष्ठ 42, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 1987
10. वही,
11. 'त्रिकस्य त्रिकस्यामावास्यापौर्णमासीशब्दाभ्यां समुदायरूपेण विद्वद्वाक्येऽनुवादस्य प्रयोजनन्तु 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इत्यादौ द्विवचनोपपत्तिः।' मीमांसा-परिभाषा पृ०-48, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 1987
12. इहच पौर्णमास्यमावास्यशब्दौ यदि कर्मवचनावेव स्यातां ततो न विरोधः परिह्रियेत। कालवचनत्वे त्वनयोरविरोधः। साधारण्याच्चाविरोधपक्ष एव समर्थनीयः।'' तन्त्रवार्त्तिक पृष्ठ-150 अजिता, गङ्गानाथ केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठम् प्रयाग, 1990
13. प्रथमं काल एवाभ्यां शब्दाभ्यां प्रतिपद्यते।
    पश्चात्तत्कर्म तद्योगादतः कालोऽत्र गृह्यते।। तन्त्रवार्त्तिक पृ०-150
14. नित्येषु सत्सु वर्णेषु, व्यवहारात् क्रमोदयः।

घटादिरचना यद्वनित्येष परमाणुषु।। श्लोकवार्त्तिक पृष्ठ-568, तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, 1978

15. 'काल एव क्रम इति' श्लोकवार्त्तिक, पृष्ठ-571, तारा प० वाराणसी, 1978
16. 'तस्मात्पदाभिहितैः पदार्थैर्लक्षणया वाक्यार्थः प्रतिपद्यते।' शास्त्रदीपिका पृ०-154, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 1990
17. तर्कभाषा पृ०-360-चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 1990
18. श्लोकवार्त्तिक पृ०-571, तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, 1978
19. 'प्रविभक्तोऽपि गम्यते वर्णवत्' श्लोकवार्त्तिक पृ०-571, वही,
20. 'यथा हि वर्णो नित्यः सर्वगतोऽपि दीर्घारूपेण विभक्तो भासते ध्वन्युपाधिवशात् तथा कालोऽपि स्वयमभिन्नोऽपि आदित्यस्य गतिक्रियोपाधिवशाद् भिन्नो भासत इति।''
    न्यायरत्नाकर, श्लोकवार्त्तिक पृष्ठ सङ्ख्या 571, वही
21. 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात् जैमिनि-सूत्र 1. 1. 5
22. श्लोकवार्त्तिक पृ०-151, तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, 1978
23. ''कारणदोषबाधकज्ञानरहितमगृहीतग्राहि ज्ञानं प्रमाणम्'' शास्त्र०दी०पृ०-45, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 1988
24. 'दिक्कालावनुमेयावेव' प्रकरणपञ्चिका, पृ०-81, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1961
25. 'आकाशकालदिशोप्येतरप्रत्यक्षाः 'तन्त्रसिद्धान्तरत्नावली', पृ०-170 काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, 19
26. 'कालोऽपि दिग्विपरीतपरत्वापरत्वानुमेयः।' तर्कभाषा पृ०-360, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 1990
27. सन्नपि कालभेदोऽतिसूक्ष्मत्वान्न परामृष्यत इतिचेत् अहो सूक्ष्मदर्शी देवानां प्रियः। 'शास्त्रदीपिका, पृ०-45, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 1988
28. तथाहि किमत्र घटोऽवस्थित इति पृष्टः कथयति अस्मिन्क्षणे मयोपलब्ध इति। तथा प्रातरारभ्येतावत्कालं मयोपलब्ध इति। कालभेदे त्वगृहीते कथमेवं वदेत्।''
    शास्त्रदीपिका पृ०-45-46, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 1988
29. 'अतोऽस्ति विकल्पस्यापि विशदावभासत्वमिति प्रत्यक्षत्वोपपत्तिः।''
    शास्त्रदीपिका पृ०-38, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 1988
30. ''नहि रूपिप्रत्यक्षमित्यस्माकं प्रत्यक्ष लक्षणं किन्तु संविदेव परोक्षापरोक्षनिर्भासा जायमाना इदं प्रत्यक्षमिदमप्रत्यक्षमिति विभजते। शास्त्रदीपिका पृ०-46 पङ्क्ति 10, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 1988

25
मीमांसा दर्शन में सम्बन्ध की अवधारणा

भारतीय दर्शन में परस्पर भिन्न तत्त्वों के समन्वय हेतु सम्बन्ध सञ्ज्ञक तत्त्व की परिकल्पना की गई है। वृत्तिनियामक तथा वृत्ति के अनियामक रूप से इसके दो भेद माने गए हैं। जिस सम्बन्ध से किसी तत्त्व का किसी अन्य तत्त्व में अस्तित्व प्रतिपादित किया जाए उसे वृत्तिनियामक सम्बन्ध कहते हैं। संयोग, समवाय, स्वरूप तथा कालिक आदि, इसके अनेक भेद माने गए हैं। जो सम्बन्ध वृत्ति का नियामक नहीं होता, उसे वृत्ति का अनियामक सम्बन्ध माना जाता है। विषयविषयि-भाव, प्रतियोग्यनुयोगिभाव, स्वामिभाव तथा तादात्म्य आदि इसके उदाहरण माने गए हैं। इन समस्त सम्बन्धों में से वृत्ति-नियामक सम्बन्धों में परिगणित "संयोग" तथा "समवाय" के लिए ही मुख्य रूप से सम्बन्ध शब्द का प्रयोग किया गया है। इनसे भिन्न अन्य समस्त सम्बन्धों में सम्बन्ध शब्द का गौण या औपचारिक प्रयोग ही विद्वन्मान्य है।[1]

भारतीय दर्शन के प्रायः सभी दार्शनिकों ने तत्त्व को पदार्थ के रूप में स्वीकार किया है। संसार में जो कुछ भी है, वह किसी न किसी पद (शब्द) द्वारा अभिहित होता है, अतः वह पदार्थ है। इसीलिए न्यायशास्त्र में अभिधेयत्व अर्थात् किसी न किसी अभिधा से युक्त होना तथा प्रमेयत्वज्ञान के विषय होने में केवलान्वयी व्याप्ति स्वीकार की गई है।[2]

समस्त तत्त्व पदार्थ होने से पद तथा उससे प्राप्त अर्थ के परस्पर समन्वय के अवबोधनार्थ ही सर्वप्रथम सम्बन्ध तत्त्व पर विचार किया गया है। पश्चात् पदजन्य अर्थ से अवबोधित तत्त्वों के पारस्परिक समन्वय हेतु इनके अन्तः सम्बन्ध का दार्शनिकों द्वारा अपनी-अपनी दृष्टि से विश्लेषण किया गया है, अतः सम्बन्धवाद की परिधि में पदपदार्थ-सम्बन्ध एवं पदार्थों का अन्तःसम्बन्ध, इन दो बिन्दुओं पर ही विशद विचार अपेक्षित है।

पदपदार्थ-सम्बन्ध

पद (शब्द) तथा पदार्थ के अन्तःसम्बन्ध के विषय में मीमांसा के साथ ही न्याय तथा व्याकरण का भी अपना एक विशिष्ट दृष्टिकोण है। नैयायिक तथा वैशेषिक वर्णात्मक शब्द को अनित्य मानते हैं। इनके सिद्धान्त में शब्द जिस अर्थ का अभिधान करते हैं, वह अर्थ तथा दोनों के मध्य जो सञ्ज्ञासञ्ज्ञि-सम्बन्ध है, वह भी अनित्य माना गया है। न्यायदर्शन में शब्द में अर्थाभिव्यञ्जिका पदशक्ति मानी गई है, परन्तु इसे ईश्वरेच्छा रूप स्वीकार किया गया है। शब्द द्वारा अर्थावबोध में इस शक्ति की भी कारणता स्वीकार की गई है। इस शक्ति के विषय में प्रचीन नैयायिकों का कहना है कि पद के साथ अर्थ का सम्बन्ध ही शक्ति है। न्यायमत में शब्द आकाश का गुण तथा उच्चारण रूप वर्णात्मक होने से अनित्य है। उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाश के तीन क्षणों तक ही इसका अस्तित्व विद्यमान रहता है। शब्द अनित्य होने से उसमें विद्यमान अर्थ का यह शक्तिरूप सम्बन्ध भी अनित्य माना गया है। शब्दार्थबोधकत्वरूपा यह शक्ति 'इस पद से यह अर्थ समझना चाहिए'' इस प्रकार ईश्वरेच्छा के रूप में स्वीकृत है।[3] इच्छा गुण-पदार्थ होने से इस गुणपदार्थ में शब्दार्थ सम्बन्ध रूपा शक्ति का अन्तर्भाव प्रतिपादित करते हुए नैयायिक सप्त पदार्थों से एक अतिरिक्त पदार्थ के रूप में इसे स्वीकार नहीं करते। नवीन नैयायिक शक्ति को ईश्वरच्छारूप नहीं मानते, अपितु इच्छारूप गुण पदार्थ में इसका अन्तर्भाव मान लेते हैं, अतः इनके मत में भी शक्ति पृथक् पदार्थ नहीं है।[4]

वैशेषिकदर्शन, न्याय का समानतन्त्र दर्शन होने पर भी न्याय के अनुरूप शब्द को एक स्वतन्त्र प्रमाण स्वीकार नहीं करता, अपितु अनुमान में ही इसका अन्तर्भाव प्रतिपादित करता है[5] इनके मत में भी शब्द तथा उसके अर्थ के बीच विद्यमान तात्पर्यरूप शक्ति को पृथक् पदार्थ नहीं माना गया है।

वैयाकरणाभिमत शब्दार्थ-सम्बन्ध

वैयाकरणों ने अनित्य ध्वनि से अभिव्यक्त, निरवयव, अखण्ड वाक्यार्थरूपी, स्फोट के रूप में शब्द को नित्य माना है। व्याकरणदर्शन के अनुसार शब्द का अर्थ द्रव्य है। यह द्रव्य **'द्रव्यं हि नित्यम्'**[6] इस पतञ्जलि की परिभाषा के अनुसार नित्य तत्त्व है। आचार्य कैयट इसे असत्य उपाधियों से परिव्याप्त (अविच्छिन्न)

ब्रह्म तत्त्व मानते हैं।[7] इस ब्रह्म की सत्ता ही सभी शब्दों का अर्थ है। व्याकरण मत में शब्द तथा अर्थ दोनों नित्य है, अतः दोनों में विद्यमान सम्बन्ध तादात्म्य को भी 'सिद्धे शब्दार्थ-सम्बन्धे'[8] इस वार्त्तिक द्वारा नित्य माना गया है।

प्रभाकराभिमत शब्दार्थ सम्बन्ध

मीमांसा-सम्प्रदाय में व्याकरण शास्त्रानुरूप शब्द, अर्थ तथा दोनों का शक्ति या प्रत्यायकत्व रूप सम्बन्ध नित्य माना गया है। अन्तर केवल इतना है कि वैयाकरण अखण्ड वाक्यार्थ-स्फोट को नित्य शब्द मानते हैं तथा इसके अभिव्यञ्जक वर्णों को अनित्य ध्वनिरूप प्रतिपादित करते हैं। मीमांसक इस स्फोटवाद को स्वीकार नहीं करते। इनके मत में शब्द वर्णात्मक तथा नित्य हैं। यद्यपि मीमांसा के भाट्ट तथा प्राभाकर दोनों सम्प्रदाय शब्द को नित्य तथा वर्णात्मक स्वीकार करते हैं, तथापि शब्दार्थ-निष्पत्ति की प्रक्रिया में दोनों में परस्पर भेद है। जहाँ प्रभाकर अन्वितभिधानवाद के प्रस्थापक हैं, वहीं भाट्ट अभिहितान्वयवाद की स्थापना करते हैं। दोनों मतों में शब्द तथा अर्थ के बीच विद्यमान शक्ति या प्रत्यायकत्व-सम्बन्ध को नित्य माना गया है।

प्रभाकर-सम्प्रदाय के मीमांसक शब्द को वर्णात्मक,[9] नित्य[10] तथा उच्चारणादि ध्वनि द्वारा अभिव्यक्त प्रतिपादित करते हैं। शब्द को नित्य मानने पर भी इसे ये भाट्टमीमांसकों के अनुरूप द्रव्य न मानकर नित्य द्रव्य आकाश का नित्य गुण मानते हैं।[11] इनके मत में शब्द में अर्थ की अवबोधिका शक्ति स्वाभाविक रूप में विद्यमान रहती है।[12] प्रभाकर-मत में यह अर्थावबोधक शक्ति कार्यन्वित वाक्यार्थ में मानी गई है।[13]

भाट्टाभिमत शब्दार्थ-सम्बन्ध

भाट्टमत में अर्थ के साथ शब्द के बोध्यबोधकभाव या शक्तिरूप इस सम्बन्ध को स्वाभाविक तथा नित्य माना गया है। यद्यपि शब्द एवं अर्थ में संयोग या तादात्म्य सम्बन्ध सम्भव नहीं है, तथापि इसे अर्थप्रत्यायकत्व या अर्थ की उत्पादिका शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है।[14] मीमांसक पद की शक्ति व्यक्ति में न मानकर जाति में प्रतिपादित करते हैं। पद (शब्द) नित्य हैं। पदार्थ 'जाति' होने से वह भी नित्य है, इसलिए इन दोनों का शक्तिरूप सम्बन्ध भी नित्य माना गया है।

जब वाक्य में सामान्यवाचक पदों का अन्य पदों के साथ समन्वय होता है, तब ऐसी स्थिति में शब्दार्थ आकृति या सामान्य का आनयनादि के साथ समन्वय न हो पाने से व्यक्ति आक्षेप द्वारा उपस्थित मान लिया जाता है। शब्द तथा शब्दार्थ का यह शक्ति या प्रत्यायकत्व सम्बन्ध किसी पुरुष द्वारा कल्पित नहीं है, अपितु अनादि है, अतः नित्य है। इस प्रकार भाट्टमीमांसा में शब्द, शब्दार्थ तथा शब्दार्थसम्बन्ध, तीनों नित्य स्वीकार किये गए हैं।

पदार्थों का अन्तःसम्बन्ध

पदार्थों की सङ्ख्या तथा स्वरूप के साथ ही इनके अन्तःसम्बन्ध के विषय में भी दार्शनिकों में मतभेद दृष्टिगोचर होता है। न्याय तथा वैशेषिकदर्शन में "संयोग" तथा "समवाय" इन दो सम्बन्धों का प्रतिपादन किया गया है। इनके मतानुसार "सम्बन्ध को सम्बन्धियों से भिन्न, उभयाश्रित तथा एक होना आवश्यक है।"[15] सम्बन्ध की यह परिभाषा "संयोग" तथा "समवाय" मात्र में चरितार्थ होने से वास्तविक सम्बन्ध के रूप में केवल इन्हें ही स्वीकार किया गया है। इन संयोग तथा समवाय की उभय-निरूपणीयता के सदृश्य से कार्यकारण, व्याप्यव्यापक तथा विशेषणविशेष्यभाव आदि में सम्बन्ध का प्रयोग, औपचारिक माना गया है।

संयोग सम्बन्ध

संयोग सम्बन्ध के सन्दर्भ में नैयायिक, वैशेषिक, प्राभाकर तथा भाट्ट सभी की समान अवधारणा है। अप्राप्त अर्थात् पृथक् सिद्ध द्रव्यों की प्राप्ति को संयोग कहा जाता है। यह संयोगसम्बन्ध कर्मजन्य तथा संयोगजन्य, इस भेद से दो प्रकार का होने पर भी कर्मज संयोग के अन्यतर कर्मज तथा उभय कर्मज, ये दो भेद होने के कारण संयोग के तीन भेद माने गए हैं। वृक्ष पर पक्षी का बैठना कर्मज संयोग, दो मेषों या मल्लों की परस्पर टक्कर उभयकर्म संयोग तथा हस्तपुस्तकसंयोग से उत्पन्न काय (शरीर)-पुस्तक-संयोग, संयोगज संयोग माना गया है।[16]

समवाय सम्बन्ध

अयुत (अपृथक्) सिद्ध सम्बन्धियों का सम्बन्ध समवाय माना गया है। अवयव-अवयवी, गुण-गुणी, जाति-व्यक्ति, क्रिया-क्रियावान् एवं नित्य द्रव्य तथा विशेष इन सम्बन्धियों को अयुतसिद्ध तथा इनके ही सम्बन्ध को समवाय माना जाता है।

जो सम्बन्धी एक दूसरे से पृथक् आश्रयाश्रयि भाव से युक्त रहते हैं या पृथग्गतिमत्व से युक्त रहते हैं, उन्हें ''युतसिद्ध'' कहा जाता है। ऐसी युतसिद्धि जिन सम्बन्धियों में नहीं रहती, अर्थात् अपृथगाश्रयाश्रयिभाव या अपृथग्गतिमत्व जिनमें विद्यमान रहता है, ऐसे सम्बन्धियों का सम्बन्ध ही समवाय है।

इन अपृथगाश्रयाश्रयिभाव तथा अपृथग्गतिमत्व को विषय भेद से अयुतसिद्धि का लक्षण माना गया है, अतः अपृथग्गतिमत्व रूप लक्षण से नित्य एवं विभु आकाशादि तथा परममहत् परिमाण का समवाय सम्बन्ध तथा अवयवी का अवयवों से पृथग् आश्रय न होने से ''अपृथगाश्रयाश्रयिभावरूप लक्षण से इनमें समवाय सम्बन्ध की सङ्गति हो जाती है।[17]

समवायविषयक प्रभाकरमत

प्रभाकर मतावलम्बी मीमांसक न्यायवैशेषिकों के ही अनुरूप विवेचित पाँचों अयुत सिद्धों में यद्यपि सम्बन्ध के रूप में समवाय को स्वीकार करते हैं, परन्तु ये समवाय को मात्र नित्य सम्बन्ध नहीं मानते। इनका कहना है कि नित्य सम्बन्धियों का समवाय नित्य तथा अनित्य सम्बन्धियों का समवाय अनित्य भी होता है आकाश नित्य द्रव्य होने से इसमें महत्परिमाण रूपी गुण का समवाय नित्य है। इसके विपरीत तन्तु तथा पट, इन अनित्य सम्बन्धियों का समवाय भी अनित्य है। यही कारण है कि व्यक्ति तथा जाति के सम्बन्ध में जाति नित्य होने पर भी व्यक्ति चूँकि अनित्य है, अतः व्यक्ति का नाश हो जाने पर उसमें जाति का यह समवाय भी नष्ट हो जाता है। इसीलिए व्यक्ति के नष्ट हो जाने पर जाति की उपलब्धि नहीं हो पाती।[18]

समवाय के ज्ञान के सन्दर्भ में प्रभाकर की अवधारणा वैशेषिक मत के अनुरूप तथा न्यायमत से नितान्त भिन्न है। न्यायमत में विशेषण-विशेष्यभाव सन्निकर्ष द्वारा समवाय का प्रत्यक्ष ज्ञान स्वीकार किया गया है।

नैयायिकों के विपरीत वैशेषिक, समवाय को प्रत्यक्षगम्य न मानकर अनुमान-प्रमाण द्वारा ही इसके अस्तित्व का प्रतिपादन करते हैं। इन्हीं के अनुरूप मीमांसक प्रभाकर भी समवाय का प्रत्यक्ष ज्ञान स्वीकार नहीं करते। समवाय का इन्द्रिय द्वारा ग्रहण ''संयोग'' या ''समवाय'', इन दो सम्बन्धों में से किसी के भी द्वारा सम्भव नहीं है, अतः कपालादि में घटादि वस्तुओं की सिद्धि हो जाने पर

वहाँ इनके अस्तित्व के हेतु रूप में समवाय का अस्तित्व अनुमान-प्रमाण द्वारा ही सिद्ध हो पाता है।[19]

साङ्ख्याभिमत समवाय-निराकरण

साङ्ख्याचार्य प्रकृत्ति तथा पुरुष के अतिरिक्त किसी भी तत्त्व को नित्य नहीं मानते। पदार्थों में अन्तःसम्बन्ध की निष्पत्ति साङ्ख्यशास्त्र में अनित्य संयोग द्वारा ही मानी गई है।[20]

साङ्ख्य दार्शनिकों की दृष्टि में **"नीलो घटः" "मधुरः आम्रः"** इत्यादि स्थलों में नीलमाधुर्यादि गुणों से विशिष्ट घट आम्र आदि के ज्ञान की सङ्गति के लिए भी समवाय का अस्तित्व मानना आवश्यक नहीं है, क्योंकि समवाय का अस्तित्व स्वीकार करने पर भी **"नीलो घटः"** इस स्थल में घट तथा नीलरूप में विद्यमान समवाय घट तथा रूप में किस सम्बन्ध से रहेगा? यह प्रश्न उठने पर अनवस्था दोष के कारण समवाय सम्बन्ध से इस समवाय का समवायी में अस्तित्व सम्भव नहीं है, अतः इसका घट तथा नीलादि में स्वरूप सम्बन्ध से नैयायिकों ने अस्तित्व स्वीकार किया है, ऐसी स्थिति में साङ्ख्य दार्शनिकों का यह तर्क है कि जब समवाय स्वरूप सम्बन्ध से सम्बन्धी गुणी तथा गुण में रह सकता है, तो ऐसी स्थिति में गुणों का ही गुणी में स्वरूप सम्बन्ध से अस्तित्व क्यों न स्वीकार कर लिया जाए? स्वरूप सम्बन्ध से गुण तथा गुणी आदि पदार्थों के अन्तःसम्बन्ध की सङ्गति हो जाने से समवाय का अस्तित्व साङ्ख्य में अभिमत नहीं है।[21]

भाट्टाभिमत तादात्म्य सम्बन्ध

भाट्टमीमांसकों ने नैयायिक, वैशेषिक तथा प्रभाकर के अनुरूप दो द्रव्यों के अन्तःसम्बन्ध के रूप में यद्यपि संयोग सम्बन्ध को स्वीकार किया है, परन्तु साङ्ख्याचार्यों तथा अद्वैतवेदान्तियों के समान "अयुत सिद्ध-सम्बन्ध" के रूप में समवाय का अस्तित्व इन्हें भी मान्य नहीं है।

मीमांसादर्शन में वैशेषिकाभिमत "विशेष" पदार्थ स्वीकृत नहीं है, अतः परमाणु तथा विशेष के अन्तःसम्बन्ध का प्रश्न ही उद्भावित न होने के कारण न्यायाभिमत समवाय सम्बन्ध के शेष चार स्थलों में ये समवाय के स्थान पर "तादात्म्य" सम्बन्ध को स्वीकार करते हैं। यह "तादात्म्य" अपृथक् सिद्ध

तत्त्वों का सम्बन्ध नहीं है। यह पृथक् सिद्ध तत्त्वों का भी सम्बन्ध नहीं है। इस सम्बन्ध के दोनों सम्बन्धी एक दूसरे से जिस प्रकार पूर्णतः भिन्न नहीं हैं, उसी प्रकार इन्हें परस्पर अभिन्न भी नहीं माना जा सकता। फलतः इनके अन्तःसम्बन्ध "तादात्म्य" को भेदाऽभेद या भेदसहिष्णु अभेद सम्बन्ध के रूप में स्थापित किया गया है।[22]

अपृथगाश्रयाश्रयि भाव (अपृथगाश्रयाश्रितत्व) तथा अपृथग्गतिमत्व जिनमें विद्यमान रहता है, ऐसे सम्बन्धियों के सम्बन्ध को समवाय माना गया है, परन्तु समवाय का यह लक्षण प्रसिद्ध उदाहरण अवयव तथा अवयवी तक में चरितार्थ नहीं हो पाता। अवयवी (वृक्ष) निष्क्रिय होने पर भी अवयवों (शाखाओं) में चलन (गति) दृष्टिगोचर होती है, अतः अवयवी में गति न होने से अपृथग्गतिमत्व भी नहीं है।[23] इसी प्रकार अवयवी अपने अवयवों में तथा अवयव भी अपने अवयवों में आश्रित रहते हैं। घट के आश्रय उसके अवयव कपाल हैं। कपाल के आश्रय कपालिकाएँ हैं, अतः अवयव तथ अवयवी के आश्रय पृथक् होने से इनमें अपृथगाश्रयाश्रयिभाव (अपृथगाश्रयाश्रितत्व(रूप समवाय के लक्षण की भी सङ्गति नहीं हो पाती।[24]

अवयव तथा अवयवी के सम्बन्ध में अवयवी का स्वरूपतः अभेद तथा अवयवों में परस्पर भेद होने से भेद भी प्रतीत होता है। वृक्ष, यह अवयवी एक पूर्ण इकाई के रूप में अपने समस्त अवयवों से अभिन्न है, परन्तु डाल, पत्तियों, फल इत्यादि अवयवों की दृष्टि से उसमें भेद की भी प्रतीति हुआ करती है। इसी प्रकार गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान् तथा जाति-व्यक्ति के सम्बन्ध में भी भेद तथा अभेद दोनों प्रतीत होते हैं, अतः इन सम्बन्धियों में भेदऽभेद रूप तादात्म्य सम्बन्ध मानना ही सर्वथा युक्तिसङ्गत है।

विमर्श

पदार्थों के अन्तःसम्बंन्ध के रूप में समवाय, तादात्म्य तथा स्वरूप, ये तीन सम्बन्ध बुद्धि पथ पर आरूढ हुए हैं। निष्पक्ष दृष्टि से विचार करने पर तीनों का एक ही अन्तःस्थल प्रतीत होता है।[25] समवाय सम्बन्ध के सम्बन्धियों को अपृथक् मानने पर भी उत्पत्ति क्षण[26] तथा विनाश के एक क्षण पूर्व इनमें भेद की मान्यता[27] समवाय को तादात्म्य के निकट ले आती है। आचार्य विज्ञानभिक्षु ने सर्वप्रथम समवाय तथा तादात्म्य को एक पदार्थ प्रतिपादित किया है, पश्चात् साङ्ख्यसम्मत

"स्वरूप" को ही तादात्म्य के रूप में स्वीकार किया है।[28] सम्बन्धवाद के सन्दर्भ में विभिन्न पक्षों की अनेकता में आलोकित होने वाली यह एकात्मकता की भावना "**एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति**"[29] इस शाश्वत सत्य का अनुमोदन कर रही है।

दार्शनिक पृष्ठभूमि में विवेचित इस सम्बन्ध के व्यावहारिक धरातल पर भी शास्त्रीय सम्बन्ध, गोत्र सम्बन्ध तथा मैत्री सम्बन्ध, ये तीन प्रस्थापित हैं।[30] दार्शनिक धरातल पर जिस प्रकार सभी सम्बन्धों में स्वरूप सम्बन्ध की प्रधानता अभिव्यक्त होती है, वैसे ही व्यावहारिक धरातल पर इन त्रिविध सम्बन्धों में मैत्री सम्बन्ध ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है।[31] यही वह सम्बन्ध है, जो सभी सम्बन्धों की दीवारों को लाँघकर हमारे दिलों को जोड़ देता है। यह मैत्री सम्बन्ध ही हमारी 'विश्वबन्धुत्व' की भावना का प्रमुख आधार है। सर्वत्र इस मैत्री की भावना सुदृढ़ हो, यही हमारे सम्बन्धवाद के विश्लेषण का भी प्रमुख लक्ष्य है; प्रयोजन है।

सन्दर्भ

1. सम्बन्धो द्विविधः वृत्तिनियामकः वृत्त्यनियामकश्च। तत्र नियामकश्च संयोग-समवाय-स्वरूपकालिकादि-भेदेनानेक-विधः। वृत्त्य-नियामकस्तु विषय-विषयिभाव-प्रतियोग्यनुयोगि-भावाधाराधेय-भावस्वस्वामि-भावतादात्म्यादि-भेदेनानेकविधः। तत्र संयोग समवायश्च मुख्यौ। तद्भिन्ना गौणाः। ''न्यायकोश, पृष्ठ-921, पङ्क्ति 1-4, निर्णयसागर मुद्रणालय, मुम्बई, 1928
2. "कश्चिदन्यो हेतुः केवलान्वयी। यथा शब्दोऽभिधेयः प्रमेयत्वात्, यत् प्रमेयं तदभिधेयं, यथा घटः।"-तर्कभाषा पृष्ठ-85, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, तृतीय संस्करण 1982
3. "सा चाऽस्मच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरेच्छारूपा।" न्याय-सिद्धान्त-मुक्तावली, पृष्ठ-293, पङ्क्ति 03, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, तृतीय संस्करण, 1983
4. "नव्यास्तु ईश्वरेच्छा न शक्तिः किन्तु इच्छैव" वही, पृष्ठ-293, पङ्क्ति 02
5. शब्दोपमानयोर्नैव पृथक्प्रामाण्यमिष्यते। अनुमानगतार्थत्वादिति वैशेषिक मतम्।।'' वही, पृ०-461
6. व्याकरण महाभाष्य, पस्पशाह्निकम्-व्याकरणमहाभाष्य, पृष्ठ-40, पङ्क्ति 11, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, तृतीय संस्करण, 1984
7. "असत्योपाध्यवच्छिन्नं ब्रह्मतत्त्वं द्रव्य-शब्द-वाच्यमित्यर्थः।" कैयटकृत प्रदीप व्याख्या, वही,
8. कात्यायन वार्तिक, 01

9. "कश्शब्दोऽभिमत:? वर्णा:, तेषामेव श्रोत्रग्राह्यत्वात्।" प्रकरण-पञ्चिका, पृष्ठ-230 (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1961)
10. "अत: कारणरहितत्त्वे सति सत्त्वासन्नित्यश्शब्दो गगनादिवत्।" वही, पृष्ठ-363
11. "एवञ्च शब्दगुणत्वाच्छोत्रस्य यच्छब्दगुणकं द्रव्यमाकाशपदवेदनीयम्", वही, पृष्ठ-325, पङ्क्ति 04
12. "पदानां तत्पदार्थेषु शक्ति: स्वाभाविकी स्थिता।" वही, पृष्ठ-40, पङ्क्ति 11
13. द्रष्टव्य-मीमांसा दर्शन का विवेचनात्मक इतिहास, पृष्ठ-46, डॉ० गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1992
14. "एतेन शब्दार्थसम्बन्धनित्यत्वमपि व्याख्यातं भवति। यद्यपि शब्दार्थयोर्न संयोग: तादात्म्यादिकं वा सम्बन्ध:, तथापि प्रत्यायकत्वाख्यस्तु सम्बन्ध: सम्भवत्येव।" श्लोकवार्त्तिकम्, प्रास्ताविक, पृष्ठ सङ्ख्या-21, तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, 1987
15. "सम्बन्धो हि सम्बन्धिभ्यां भिन्नो भवत्युभयसम्बन्ध्याश्रितश्चैकश्च।" तर्कभाषा, पृष्ठ-122, पङ्क्ति 02, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, तृतीय संस्करण, 1982
16. ''अप्राप्तयोस्तु या प्राप्ति: सैव संयोग ईरित:। कीर्त्तितस्त्रिविधस्त्वेष आद्योऽन्यतरकर्मज:।। तथोभयक्रियाजन्यो भवेत्संयोगजोऽपर:। न्याय-सिद्धान्त-मुक्तावली, पृष्ठ-413, पङ्क्ति 1-3 प्रकरण-पञ्चिका, पृष्ठ-90, पङ्क्ति 07-9
17. प्रकरण-पञ्चिका, न्याय-सिद्धि व्याख्या, पृष्ठ-91, पङ्क्ति 14
18. "समवायश्च न वयं काश्यपीया इव नित्यमुपेम:। विनष्ट्यायामपि व्यक्तौ न जातिरन्यत्र याति, न च तत्रावतिष्ठते, न विनश्यति, केवलं तद्व्यक्तिसमवायस्तस्या निवर्तते तेन तस्यानुपलम्भनम्।" प्रकरणपञ्चिका, पृष्ठ-92
19. "समवायस्तु भवतु वस्त्वन्तरे सिद्धेऽनुमेय:, प्रत्यक्षेण तदनवगमात्।" वही, पृष्ठ-96, पंक्ति 10
20. "अन्त:सम्बन्धग्राहकप्रमाणेनैव बाधान्न नित्य: सम्बन्ध इत्यर्थ:।'' प्रवचन-भाष्य, साङ्ख्यदर्शनम्, पृष्ठ-672, पङ्क्ति 03
21. "न समवायोऽस्ति प्रमाणाभावात्" साङ्ख्यसूत्र, 5/99
"यथा समवाय-वैशिष्ट्यबुद्धि: समवायस्वरूपेणैवेष्यते, अनवस्थाभावादिति। तत्र प्रत्यक्षानुमाने अन्यथासिद्धे:। एवं गुणगुणिप्रभृतीनां विशिष्टबुद्धिरपि गुणादि-स्वरूपेणैवेष्यताम्।" विज्ञानभिक्षु साङ्ख्य-प्रवचन-भाष्य, साङ्ख्य-दर्शनम्, पृष्ठ-673, पङ्क्ति 24-25, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1987
22. "भेदाभेदसहान्योन्याभाव-विरोधि-तादात्म्यम्।" विवरण-प्रमेय सङ्ग्रह, पृष्ठ-44, अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, राजघाट, वाराणसी, 1896
"भेद सहिष्णुरभेदस्तादात्म्यमिति केचिद्वेदान्तिन आहु:" न्यायकोश, पृष्ठ-328
23. "यद्येवमवयवावयविनो: सम्बन्ध समवायो न स्यात्, विनाप्यवयविचलनेनावयवानां

चलनात्।" शास्त्रदीपिका, पृष्ठ-100, पङ्क्ति 08, कृष्णदास अकादमी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस वाराणसी, द्वितीय संस्करण, 1988

24. "अवयविनोऽवयवानां च स्वावयवाश्रयत्वात्" शास्त्रदीपिका, पृष्ठ-100, पङ्क्ति 09
25. "सर्वमस्वरूपस्यैव सम्बन्धत्वोपपत्तौ समवायो न पदार्थान्तरम् इति भाट्टाः वेदान्तिनः साङ्ख्याश्च मन्यन्ते।" तार्किक रक्षा श्लोक 54, उद्धृत-न्यायकोश, पृष्ठ-328
26. "द्रव्यं निर्गुणमेव प्रथममुत्पद्यते" तर्कभाषा, पृष्ठ-33, पङ्क्ति 05
27. "विनश्यदवस्थास्त्वनाश्रिता एवावतिष्ठन्तेऽवयवादयः" तर्कभाषा, पृष्ठ-31
28. "यदि च तादात्म्यं स्वरूपमेवोच्यते तदास्माभिरपि तदेवोक्तमितिशब्दमात्रे भेद इति।" प्रवचनभाष्य-साङ्ख्य-दर्शनम्, पृष्ठ-675, पङ्क्ति 21
29. ऋग्वेद 1/164/46
30. "सम्बन्ध स्त्रिविधः पुंसां विप्रेन्द्र जगतीतले।
    विद्याजो योनिजश्चैव प्रीतिजश्च प्रकीर्तितः।।
    न्यायकोश, पृष्ठ-921, पङ्क्ति 14-17
31. "मैत्रं तु प्रीतिजं प्रोक्तं स सम्बन्धः सुदुर्लभः।" वही,

26

भाट्टमीमांसा में अभाव तथा उसका प्रयोजन

भारतीय दर्शन के आस्तिक तथा नास्तिक वर्गों में समाविष्ट सभी सम्प्रदायों ने तत्त्व को प्राय: भावात्मक तथा अभावात्मक इन दो रूपों में प्रतिपादित किया है। भारतीय दर्शन की आस्तिक परम्परा में प्रतिष्ठित षड्दर्शनों में भाट्ट तथा नैयायिकों के सिद्धान्त में अभाव को एक अतिरिक्त पदार्थ के रूप में मान्यता दी गई है। इसके विपरीत साङ्ख्य[1] तथा प्रभाकरमीमांसा ने अभाव को अधिकरण के स्वरूप में प्रतिपादित किया है।[2]

भावात्मक वस्तुभूत पदार्थ से भिन्न अभाव-रूपी तत्त्व के प्रतिपादक के रूप में "नञ्" इस अव्यय को माना गया है। यद्यपि वैयाकरणों ने "अभाव" के अतिरिक्त "तत्सादृश्य", "तदन्यत्व", "तदल्पता", "अप्राशस्त्य" तथा "विरोध", इन पाँच अन्य अर्थों के प्रकाशक के रूप में भी "नञ्" का प्रतिपादन किया है।[3] तथापि मीमांसकों ने अभावमात्र में नञ् की शक्ति मानकर इस "नञ्" अव्यय के अर्थरूप में "अभाव" पदार्थ का अस्तित्व प्रतिपादित किया है।[4] इस सन्दर्भ में आचार्य कुमारिलभट्ट का कहना है कि 'प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणों से जिस वस्तु का बोध नहीं होता ऐसी असद्रूप वस्तु भी है तथा अभाव-प्रमाण से ही उसका ग्रहण होता है।''[5]

अभाव का चातुर्विध्य

न्याय-वैशेषिकों के अनुरूप आचार्य कुमारिलभट्ट ने भी अभाव के "प्रागभाव", "ध्वंस", "अन्योन्याभाव" तथा "अत्यन्ताभाव" के भेद से चारों भेदों का उदाहरण-सहित प्रतिपादन किया है। आचार्य कुमारिलभट्ट ने दूध में दही के अभाव को प्रागभाव, दही में दूध के अभाव को ध्वंस, गाय में अश्वादिकों के अभाव को अन्योन्याभाव या भेद तथा खरहे में सींग के अभाव को अत्यन्ताभाव के रूप में प्रतिपादित करते हुए न्यायवैशेषिकभिमत अभाव के चारों भेदों का

स्पष्ट प्रतिपादन किया है।[6] कुमारिलभट्ट के अनुयायी मीमांसक पार्थसारथिमिश्र का कहना है कि "समस्त वस्तुसमूह सद् तथा असद् इन दो भेदों में विभक्त है। जब वस्तु सद्रूष में विद्यमान रहती है तब प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा उसका ग्रहण हुआ करता है। "भूतल में घट नहीं है इस प्रकर वस्तु जब असद्रूप से रहती है, उस समय सद्रूप वस्तु के बोधक प्रत्यक्षादि प्रमाणों में सद्रूप वस्तु के बोधन की योग्यता होने पर भी अभावात्मक वस्तु के उनके द्वारा प्रकाशन न होने को योग्यानुपलम्भादि के पर्याय के रूप में "**अभावोऽपि प्रमाणाभावो नास्ति**" इस शाबर-भाष्य में प्रमाणाभाव शब्द के द्वारा कहा गया है। इसका अभिप्राय यही है कि "अभाव" प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विषय नहीं है, अपितु षष्ठ "अनुपलब्धि" या "अभाव" का विषय है।[7]

अभाव के त्रैविध्य का प्रतिपादन

आचार्य कुमारिलभट्ट के अनुयायी होने पर भी 17 वीं शताब्दी के मीमांसक आचार्य विश्वेश्वरभट्ट ने कुछ स्थानों पर अपने स्वतन्त्र विचार भी अभिव्यक्त किये हैं। उनके विचार-स्वातन्त्र्य की अभिव्यक्ति "अभाव-विचार" में भी परिलक्षित हुई है। आचार्य कुमारिलभट्ट ने जहाँ अभाव के प्रसिद्ध चारों भेदों को स्वीकार किया है वहाँ इन्होंने ध्वंस, अत्यन्ताभाव तथा भेद ये अभाव के मात्र तीन भेद माने हैं।[8] इनमें कपाल में विद्यमान घट पर मुद्‌गर-प्रहार होने पर "घट" का जो अभाव हो जाता है, उसे "ध्वंस" कहते हैं।[9] अधिकरण में जो वस्तु तीनों काल में कभी नहीं रहती, ऐसे वस्तु के अभाव को अत्यन्ताभाव कहते हैं। वायु में रूप तथा खरहे में सींग कभी नहीं रहते अतः वायु तथा खरहे में सींग का जो अभाव है, वह अत्यन्ताभाव है।[10] इसी प्रकार "घट" "पट" नहीं है, गाय घोड़ा नहीं, इस प्रतीति का विषयभूत परस्पर एक से दूसरे का जो भेदरूप अभाव है, उसे भेद या अन्योन्याभाव कहा जाता है।[11]

न्यायदर्शन में भी अत्यन्ताभाव को नित्य अभाव माना गया है। घटयुक्त भूतल में घटात्यन्ताभाव नित्य रहने पर भी उस अभाव का भूतल के साथ जो स्वरूप सम्बन्ध है उस सम्बन्ध में घटयुक्त काल बाधक रहने के कारण ही घटवान् काल में घटात्यन्ताभांव की प्रतीति नहीं हो पाती है।[12] इन चारों अभावों में "प्रागभाव" की विशेषता यह है कि उसकी उत्पत्ति नहीं होती परन्तु जिसका प्रागभाव है उस प्रतियोगी की उत्पत्ति होने पर उसके प्रागभाव का नाश हो जाता

है। ध्वंस नामक अभाव, इससे सर्वथा विपरीत है। इस ध्वंस की उत्पत्ति तो होती है परन्तु इस ध्वंस का कभी ध्वंस या विनाश नहीं होता। उक्त चारों अभाव भाट्टप्रस्थान के प्रवर्तक आचार्य कुमारिलभट्ट को मान्य होने पर भी प्रागभाव का अस्तित्व गागाभट्ट या विश्वेश्वरभट्ट को मान्य नहीं है। इनका कहना है कि इस प्रागभाव के अस्तित्व में कोई प्रमाण नहीं है।[13]

प्रागभाव के समर्थन में न्यायदर्शन का यह तर्क है कि प्रागभाव न मानने पर कार्य के पुनरुत्पत्ति का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता है। सौ तन्तुओं वाले पट का निर्माण होने पर द्वितन्तुक पट का उसमें अन्तर्भाव होने से उसकी भी उत्पत्ति हो जाती है। अगर शततन्तुक पट के प्रागभाव के साथ द्वितन्तुक पट का भी प्रागभाव न माना जाय तो ऐसी स्थिति में शततन्तुक पट के निर्मित होने पर इस द्वितन्तुक पट के प्रागभाव का नाश नहीं होगा, फलतः शततन्तुक पट की निर्मिति हो जाने पर इसके साथ उत्पन्न द्वितन्तुक पट की पुनरुत्पत्ति में प्रतिबन्धक प्रागभाव का नाश न हो पाने से इस द्वितन्तुक पट के पुनरुत्पत्ति का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता है। इसके निवारणार्थ "प्रागभाव" का भी अस्तित्व मानना आवश्यक है।

इस मत के निराकरणार्थ श्रीविश्वेश्वरभट्ट कहते हैं कि जिसकी उत्पत्ति हो चुकी है, उस व्यक्ति को ही उसकी पुनरुत्पत्ति में प्रतिबन्धक मान लेने पर उसकी पुनरुत्पत्ति की जो आपत्ति हो रही थी, वह निरस्त हो जाती है। इसके अतिरिक्त अप्रमाणित प्रागभाव को कार्य की उत्पत्ति में कारण मानने पर गौरव दोष भी होता है, फलतः प्रागभाव को न मानकर अभाव के मात्र तीन भेद मानना समीचीन है।[14]

न्यायदर्शन में कार्यमात्र की सिद्धि में उसके "प्रागभाव" की भी कारणता मानी गई है परन्तु कारणमांत्र में अपने कार्योत्पादन की एक सहज शक्ति श्री विश्वेश्वरभट्ट को मान्य होने के कारण इन्हें कारण में कार्य के प्रागभाव की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

अभाव की अधिकरणात्मकता का निराकरण

गुरु प्रभाकर, अभाव को अधिकरण से पृथक् न मानकर इसे अधिकरण स्वरूप मानते हैं।

प्रभाकर के अभाव को अधिकरणस्वरूप मानने के मत का भाट्टमीमांसकों

ने निराकरण किया है। इस सन्दर्भ में उनका कहना है कि अभाव को अधिकरणस्वरूप मानने पर "भूतल में घट का अभाव है" इस प्रतीति के स्थल में भूतल तथा घट के जिस आधाराधेय भाव की प्रतीति हुआ करती है, उसकी अनुपपत्ति हो जाती है।

इसी प्रकार भूतल में घट नहीं है, यह पट नहीं है, इत्यादि व्यवहारों का घटयुक्त भूतल में भी प्रसङ्ग उपस्थित हो जाएगा। कारण यह है कि घटयुक्त भूतल भी अभाव को अधिकरणस्वरूप मान लेने पर घटाभावरूप अधिकरण के रूप में उपलब्ध हो जाएगा फलतः भूतल में घट विद्यमान रहने पर भी भूतल में घट नहीं है, ऐसा व्यवहार होने लगेगा। इस अनुपपत्ति के निवारणार्थ अभाव को अधिकरणरूप न मानकर तद्भिन्न एक असद्रूप प्रमेय मानना ही सर्वथा उपयुक्त है।[16]

पार्थसारथि मिश्र का कहना है कि "इस भूतल में घट नहीं है" इस व्यवहार का क्या कारण है? यदि भूतल मात्र का ज्ञान इस व्यवहार का कारण माना जाता है तो ऐसी स्थिति में "घटयुक्त" भूतल स्थल में भी भूतल मात्र उपलब्ध न रहने से "घटो नास्ति" यह व्यवहार संगत नहीं हो सकेगा। यदि इस स्थिति से बचने के लिए घट से विविक्त अर्थात् रहित भूतल की उक्त व्यवहार में कारणता मानते हैं तो यह प्रश्न उठता है कि यह घट से विवेक (राहित्य) क्या है? यदि घट राहित्य को भूतल रूप मानते हैं तो यह भूतल "घटवत् भूतल" स्थल में भी रहने से इस स्थल में भी "घटाभाववत् भूतलम्" ऐसी प्रतीति होने लगेगी। यदि इस घटविवेक को घट संयोग का अभाव मानते हैं तो अभाव की स्वीकृति स्वतः सिद्ध हो जाती है।[17] अतः उक्त व्यवहार की सङ्गति के लिए "अभाव" को अधिकरण से पृथक् मानना ही अपेक्षित हैं

अभाव की स्वीकृति का प्रयोजन

प्रत्येक शास्त्र का जिस प्रकार एक सुनिश्चित प्रयोजन रहता है, उसी प्रकार उस शास्त्र में प्रतिपादित समस्त तत्त्वमीमांसा, उसी प्रधान प्रयोजन से समन्वित होकर अपनी प्रयोजनसत्ता या सार्थकता को अभिव्यक्त करती है। "नञ्" रूप अव्यय से अभिव्यक्त यह "अभाव" अपने एक भेद "ध्वंस" के माध्यम से न्याय, वैशेषिक तथा आनुषङ्गिक रूप से मीमांसाभिमत "मोक्ष" या "अपवर्ग" के स्वरूप की अभिव्यक्ति रूप प्रयोजन को प्रकाशित करता है। इन दर्शनों में दुःखों

के ध्वंसरूप अभाव के रूप में "मोक्ष" या "अपवर्ग" का प्रतिपादन किया गया है।[18]

मीमांसादर्शन में भी यदि कालान्तर में मोक्ष को मान लिया गया है तथा यह मोक्ष ध्वंसरूप "अभाव" के रूप में अभिमत[19] होने से "अभाव" या "अपवर्ग" का एक प्रयोजन इस "मोक्ष" पदार्थ के स्वरूप-प्रकाशन के रूप में भी माना जा सकता है परन्तु मीमांसा की दृष्टि से यह परम प्रयोजन नहीं हो सकता। वेद के सम्पूर्ण अर्थ के रूप में "कर्मकाण्ड" को प्रतिपादित करना ही मीमांसा का परम प्रयोजन है। महर्षि जैमिनि ने स्पष्ट रूप से कहा है कि "सम्पूर्ण वेद का अर्थ कर्म है"[20] चूँकि कर्म ही मीमांसा का परम प्रयोजन है, अतः विधि-प्रतिपादित कर्म की सङ्गति में उपकारक होना ही "मोक्ष" या "अपवर्ग" का भी प्रयोजन है। "नञ्" रूप अव्यय से अभिव्यक्त "मोक्ष" या "अपवर्ग", प्रतिषेध तथा "पर्युदास" के माध्यम से कर्मानुष्ठानों में अपनी अर्थवत्ता को अभिव्यक्त करता है।

निषेधात्मक अभाव का प्रयोजन

अनर्थ, नरक आदि दुःखों के कारणभूत कलञ्जभक्षण तथा चौर्यादि कर्मों से मानव को निवृत्त करने में निषेध वाक्यों की अर्थवत्ता है।[21] "न भक्षयेत्" "न स्तेयात्" इत्यादि वाक्यों द्वारा निषेधार्थक अभाव, जैसे अनिष्ट नरकादि से पुरुष को बचाकर पुरुषार्थत्व को प्रकाशित करता है, वैसे ही "बर्हिषि रजतं न देयम्"[22] इस स्थल में प्रतिषेध रूप अभाव, "सोऽरोदीद् यदरोदीत्" इस अर्थवाद वाक्य के साथ एकवाक्यता के बल पर याग में दक्षिणा के रूप में "रजत" के दान का निषेध करता हुआ याग को, अन्यथानुष्ठान से उसमें होने वाले वैगुण्य से बचाते हुए यागरूप कर्म के अनुष्ठान में अपनी उपादेयता को प्रदर्शित कर देता है।

इसी प्रकार "दीक्षितो न ददाति[23] न जुहोति" इस वाक्य द्वारा दीक्षित के लिए दान देने तथा "हवन" करने का निषेध प्राप्त होता है। यह भी ज्ञातव्य है कि दान तथा हवन का प्रतिपादन भी शास्त्र ने ही किया है अतः शास्त्रीय वचनों की परस्पर विरुद्धार्थकता का निवारण करते हुए कर्म की सङ्गति के प्रतिपादन के उद्देश्य से यहाँ निषेधरूप "अभाव" आंशिक रूप से निषेध करता है। इस स्थल में दान तथा हवन जब किन्हीं वाञ्छित फलों की निष्पत्ति की कामना से आसक्तिपूर्वक किये जाते हैं, तब इन्हीं अंशों में निषेध प्रवृत्त होता है। आसक्तिरहित "यागसम्पादन" के उद्देश्य से इनके अनुष्ठान का निषेध नहीं है। इसके विपरीत

क्रतु के मध्य में स्वस्त्रीगमन आसक्तिमूलक होने से उसके द्वारा कर्मानुष्ठान में वैगुण्य आ जाता है अतः वैगुण्य से कर्म के रक्षणार्थ उसमें निषेध की प्रवृत्ति हो जाती है।[24]

एवमेव दर्शपूर्णमास प्रकरण में "**अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति**"[25] इस वाक्य द्वारा अतिरात्र संस्था वाले ज्योतिष्टोम में "षोडशि" नामक ग्रह के ग्रहण का विधान है तथा यहीं पर "**नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति**" इस वाक्य द्वारा निषेध भी प्राप्त हो जाता है। यहाँ पर दोनों वाक्यों के विरोध के परिहार के लिए यदि नञर्थ अभाव को पर्युदास माना जाए, अर्थात् नञर्थ को भावना से अतिरिक्त षोडशिपदार्थ से समन्वित कर "अतिरात्र में षोडशि से भिन्न ग्रह का ग्रहण करें" इस अर्थ की निष्पत्ति की जाए तो "**अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति**" इस वैदिक वाक्य से साक्षात् विरोध हो जाता है, फलतः कर्मसङ्गति हेतु नञर्थ "अभाव" की अर्थसङ्गति "विकल्प" में निर्धारित की जाती है।[26]

पर्युदासात्मक अभाव का प्रयोजन

प्रतिषेध तथा पर्युदास दोनों अभावरूप से समान होने पर भी कर्मकाण्ड के जिन स्थलों में नञर्थ प्रतिषेध मानने पर अनुषङ्ग (अध्याहार), वाक्यभेद तथा विकल्पदोष उपस्थित हो जाते हैं, वहाँ नञर्थ अभाव को पर्युदास के रूप में मानकर कर्मसङ्गति की जाती है, अर्थात् प्रत्ययार्थ (भावना) से भिन्न पदार्थ के साथ नञर्थ का अन्वय किया जाता है। जैसे "**यजतिषु येयजामहं करोति, नानुयाजेषु**" इस स्थल में प्रतिषेध मानने पर अर्थात् प्रत्ययार्थ भावना के साथ नञर्थ का समन्वय मानने पर "नानुयाजेषु" इस अंश में प्रत्ययार्थ की उपस्थिति के लिए "करोति" पद का अनुषङ्ग (अध्याहार) करना पड़ेगा। फलतः "**यजतिषु येयजामहं करोति अनुयाजेषु न करोति**", इस प्रकार एक करोति पद से याग सामान्य तथा अनुयाज में जो एकवाक्यता थी वह विनष्ट होकर "वाक्यभेद" दोष उपस्थित हो जाता है। दो वाक्य हो जाने पर यजतिपद-वाच्य याग-सामान्य में "येयजामह" का विधान तथा अनुयाज भी याग होने से इसमें "येयजामह" का निषेध होने से तथा दोनों की शास्त्र द्वारा प्राप्ति होने के कारण "विकल्प दोष" की भी प्रसक्ति हो जाती है।

इन तीनों दोषों के परिहारार्थ यहाँ पर प्रतिषेध रूप में न होकर "पर्युदास" के रूप में माना गया है।[27] नञर्थ का अन्वय प्रत्ययार्थ (भावना) से भिन्न अनुयाज में कर लेने पर करोति पद का अनुषङ्ग, इससे उत्पन्न वाक्यभेद, तथा

वाक्यभेद के कारण होने वाली विकल्प-प्रसक्ति, ये तीनों दोष दूर हो जाते हैं, फलतः अनुयाजभिन्न याग में "येयजामह" की कर्तव्यता की निष्पत्ति के माध्यम से कर्मसङ्गति चरितार्थ हो जाती है।

उपसंहार

मीमांसाशास्त्र में स्वीकृत सभी पदार्थ, किसी न किसी रूप से कर्मात्मक धर्म से सम्बद्ध होने पर ही अपनी चरितार्थता को प्रमाणित कर पाये हैं। द्रव्यादि भाव पदार्थों में जिस प्रकार कर्मकाण्ड में उपकारक होने की योग्यता है, उसी प्रकार "अभाव" तत्त्व भी अपने "प्रतिषेध" तथा पर्युदासरूपी दोनों स्वरूपों के माध्यम से कर्मोपकारकत्व को प्रकट करने में सफल हुआ है। प्रतिषेध जहाँ प्रतिषेध्य विषयों से यजमान को दूर रखकर कर्मानुष्ठान में उपकारक बनते हैं, वहीं विकल्पादि दोषों का परिहार कर एकवाक्यता की रक्षा करते हुए पर्युदास भी कर्मानुष्ठान की सङ्गति में अपनी चरितार्थता सिद्ध कर देते हैं।

सन्दर्भ

1. नहि भूतलस्य परिणामविशेषात् कैवल्यलक्षणादन्यो घटाभावो नाम।
साङ्ख्यतत्त्वकौमुदी, पृ०-131, साङ्ख्यतत्त्वकौमुदी-प्रभा, प्रेम प्रकाशन, इलाहाबाद, 1973
2. अत्रेदं बोध्यम्। अधिकरणस्वरूपातिरिक्तोऽभावः प्राभाकरमीमांसकैर्न स्वीक्रियते।
प्रकरण-पञ्चिका व्याख्या, पृ०-286, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1961
3. तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता।
अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः।।
वैयाकरणभूषणसार, नञर्थ-निर्णय, का० 46, चौखम्बा संस्कृत-सीरीज-ऑफिस, द्वितीय संस्करण, वाराणसी, वि०सं० 2025
4. अन्ये तु नञोऽभावमात्रे शक्तिः। भाट्टचिन्तामणि, पृ०-119, पृ०-8, चौ०सं०सी०ऑफिस, वाराणसी, 1933
5. प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते।
वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभाव-प्रमाणता।। श्लो०वा०पृ०-335, तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, 1978
6. क्षीरे दध्यादियन्नास्ति प्रागभावः स उच्यते।। 2।।
नास्तिता पयसो दध्नि प्रध्वंसाभाव इष्यते।
गवि योऽश्वाद्यभावस्तु सोऽन्योन्याभाव उच्यते।। 3।।

शिरसोऽवयवा निम्ना वृद्धिकाठिन्यवर्जिता:।
शशशृङ्गादिरूपेण सोऽत्यन्ताभाव उच्यते।।4।। श्लो० वा० पृ०-336

7. सर्वं हि वस्तु सदसदात्मना द्विविधं ....। शास्त्रदीपिका, क० पृ०-83, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 1988
8. अभावस्त्रिधा। ध्वंसोऽत्यन्ताभावो भेदश्चेति। भाट्टचिन्ता, पृ०-17
9. घटे मुद्गरप्रहारानन्तरं योऽभाव: स: प्रध्वंसाभाव:। तन्त्रसिद्धान्तरत्नावली, पृ०-55, काशी हि०वि०वि०वाराणसी, 1968
10. यत्राधिकरणे यस्य कालत्रयेऽप्यभावस्सोऽत्यन्ताभाव:। यथा वायौ रूपात्यन्ताभाव:। शशे शृङ्गाभावश्च। वही, पृ०-56
11. इदमिदं नेति प्रतीतिविषयोऽन्योन्याभाव:। गवि योऽश्वाभाव: सोऽन्योन्याभाव:। वही, पृ०-56
12. यत्र तु भूतलादौ घटादिकमपसारितं पुनरानीतञ्च तत्र घटकालस्य सम्बन्धाघट-कत्वादत्यन्ताभावस्य नित्यत्वेऽपि घटका े न घटात्यन्ताभावबुद्धि। न्याय-सिद्धान्त-मुक्तावली, पृ०-63 चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1983
13. वस्तुत: प्रागभावे प्रमाणाभांवात् सर्वमिदं गर्भस्रावगलितमिति। भाट्टचिन्तामणि, पृ०-22, पं०-28
14. नच प्रागभावानङ्गीकारे उत्पन्नस्य पुनरुत्पत्तिप्रसङ्ग:। शततन्तुकपटे द्वितन्तुकपटोत्पत्ति-प्रसङ्गश्चेति वाच्यम्। तद्व्यक्तेरेव प्रतिबन्धकत्वाङ्गीकारादक्लृप्तप्रागभावतद्धेतुत्वकल्पने गौरवात्। भाट्टचिन्तामणि, पृ०-22, पं०-29
15. नन्वस्तु अभावानामधिकरणात्मकत्वं लाघवादिति चेत्। न्याय-सि०मु०, पृ०-66, पं० 1
16. तस्याधिकरणात्मकत्वे भूतले घटाभाव इत्याधाराधेयभावप्रतीत्यनुपपत्ते:। किञ्च घटो नास्ति नायं पट इत्यादिव्यवहारस्य सद्घटे प्रसङ्गात्र भूतलामात्रं विषय:। भाट्टचिन्तामणि, पृ०-46
17. घटोऽत्र भूतले नास्तीति व्यवहारस्य किं कारणं, दृश्ये घटे यद्भूतलमात्रविषयं ज्ञानं तदस्य कारणमिति चेत्, तथासति पटवद्भूतलोपलम्भे घटो नास्तीति व्यवहारो न स्यात्। भूतलमात्रोपलम्भाभावात्। घटविविक्तभूतलोपलम्भ इति चेत्, कोऽयं घटविवेक: यदि भूतलरूपमेव, घटवत्यपि प्रसङ्ग:। घटसंयोगाभावश्चेदथ, अङ्गीकृतस्तर्ह्यभाव:।। शास्त्रदीपिका, पृ०-84
18. दु:खजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावादपवर्ग:।
न्याय-सूत्र, 1. 1. 2
19. तस्मात्सुखदु:खादि-समस्त-वैशेषिकात्मगुणच्छेदो मोक्ष:। शास्त्रदीपिका, पृ०-130, पं० 24

20. आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम् तस्मादनित्यमुच्यते। जैमिनिसूत्र 1.2.1
21. अनर्थहेतोः कर्मणः सकाशात् पुरुषस्य निवृत्तिकरत्वेन निषेधानां पुरुषार्थानुबन्धित्वम्। मीमांसान्यायप्रकाश, पृ०-253
22. बर्हिषि रजतं न देयम्। तै०सं० 1.5.1.2
23. दीक्षितो न ददाति। मै०सं० 3.6.5
24. द्रष्टव्य, डॉ० गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर-विरचित 'मीमांसादर्शन का विवेचनात्मक इतिहास' चौखम्बा विद्या भवन, पृ०-44, प्रथम संस्करण, 1992
25. मै०सं० 4.7.6
26. अतश्चात्र पर्युदासस्यानुपपत्तेर्निषेध एव स्वीक्रियते, विकल्पोऽपि स्वीक्रियते। अनन्यगतेः। मीमांसान्यायप्रकाश, पृ०-279
27. "यजतिषु येयजामहं करोति नानुयाजेषु" इत्यत्र वाक्यभेदकरोत्यनुषङ्ग विकल्पपरिहाराणां पर्युदासबीजत्वात्। भाट्टचिन्तामणि, पृ०-120, पं० 1-3

Rashtriya Sanskrit Sansthan, (Deemed University)
Acc No. 44751
Date 23-12-09
G. N. ...mpus, Allahabad-2

27212

05 मार्च 1954 को उत्तरप्रदेश के वारणसी में जन्मे **डॉ० सोमनाथ नेने** ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से एम०ए० तथा पी-एच०डी० की उपाधि अर्जित करने के अनन्तर सतना में 01 जनवरी 1980 से 30 जुलाई 1981 तक सहायक प्राध्यापक के रूप में स्नातक कक्षाओं में अध्यापन किया। 01 अगस्त 1981 से आप, उज्जैन स्थित विक्रम विश्वविद्यालय में स्नातकोत्तर कक्षाओं में अध्यापन के साथ एम०फिल्० तथा पी-एच०डी० उपाधि के लिए शोधच्छात्रों का सतत मार्गदर्शन करते रहे।

डॉ० सोमनाथ नेने 01 अगस्त 1981 से 31 दिसम्बर 1985 तक प्राध्यापक के रूप में, 01 जनवरी 1986 से 09 मार्च 1990 तक वरिष्ठ प्राध्यापक के रूप में, 10 मार्च 1990 से 30 अप्रैल 1999 तक उपाचार्य के रूप में तथा 01 मई 1999 से आचार्य के रूप में अध्यापन तथा शोधनिर्देशन में निरन्तर संलग्न रहे। सम्प्रति डॉ० सोमनाथ नेने 16 नवम्वर 2007 से काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कलासङ्काय के अन्तर्गत संस्कृत विभाग में आचार्य के रूप में अध्यापन कर रहे हैं।

डॉ० सोमनाथ नेने के निर्देशन में 10 शोधच्छात्रों को पी-एच०डी० उपाधि प्राप्त हो चुकी है दो शोधच्छात्रों के प्रबन्ध मूल्याङ्कन की प्रक्रिया में विद्यमान हैं। आपकी लगभग 60 शोध-संगोष्ठियों में प्रतिभागिता रही है तथा लगभग 50 शोधपत्र, विभिन्न शोधपत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं।

डॉ० सोमनाथ नेने को सन् 2001 में प्रतिभाप्रकाशन, दिल्ली, द्वारा प्रकाशित **'भाट्ट-चिन्तामणि तर्कपाद-विमर्श,'** पुस्तक पर 20 मई, 2002 में अखिल भारतीय दर्शन-परिषद् के **स्वामी प्रणवानन्द दर्शन-पुरस्कार** के साथ मीमांसा-दर्शन के क्षेत्र में किए गए निरन्तर अनुसन्धान के लिए मध्यप्रदेश शासन के मध्यप्रदेश संस्कृत बोर्ड द्वारा 16 अप्रैल 2007 को 2005-2006 के लिए **पतञ्जलि-पुरस्कार** भी प्राप्त हुआ है।

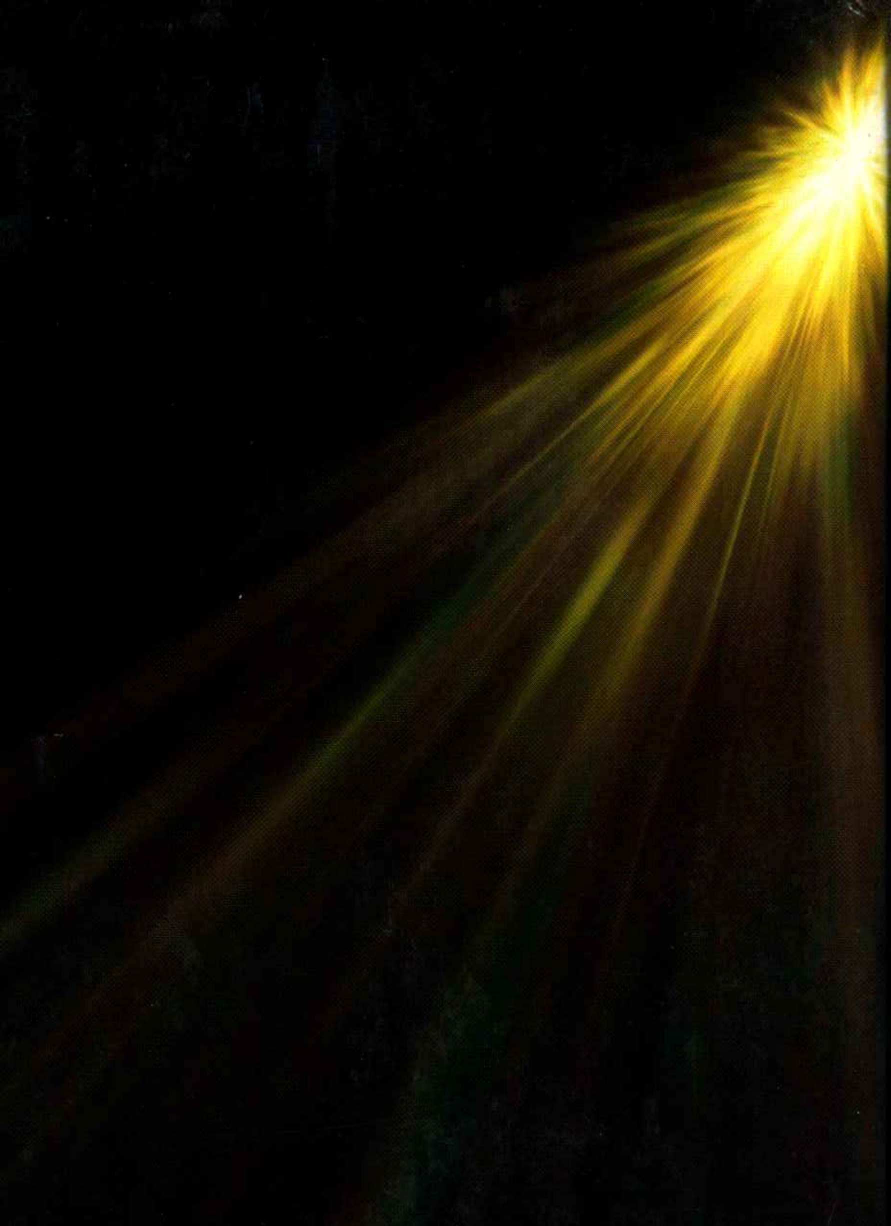

ISBN 81-7702177-X
9 788177 021776

PRATIBHA

Pratibha Prakashan
(Oriental Publishers & Book Sellers)
20 Ajendra Market,
7259, Premnagar, Shakti Nagar, DELHI-7